अध्याय विषय पृष्ठ

२३. जरासन्ध और भीमसेन के मल्लयुद्ध होने का वृत्तान्त । ११४–११८
२४. भीमसेन द्वारा जरासन्ध वध और श्रीकृष्णजी का सब राजाओं को बन्धन से छुड़ा कर, पाण्डवों-सहित इन्द्रप्रस्थ को आना और पाण्डवों से विदा होकर द्वारका को चला जाना ११८–१२५

दिग्विजयपर्व ।

२५. अर्जुन आदि का चारों दिशाओं के राजाओं को विजय कर बहुत सा धन लाना । १२५-१२६
२६. अर्जुन का उत्तर दिशा में अनेक राजाओं को जीतकर राजा भगदत्त को युद्ध करके जीतना । १२६–१२८
२७. अर्जुन का उत्तर दिशा में आगे जाना और युद्ध करके पहाड़ी राजाओं को विजय करना । १२९–१३२
२८. अर्जुन का सम्पूर्ण उत्तर दिशा को जीतकर इन्द्रप्रस्थ को आना और युद्ध में जीतकर लाई हुई वस्तुओं का युधिष्ठिर को अर्पण करना । १३२-१३४
२९. भीमसेन का पूर्व दिशा को विजय करना और चेदि देश के राजा से कर लेकर आगे जाना । १३४-१३६
३०. भीमसेन का दिग्विजय करके बहुत-सा धन लेकर इन्द्रप्रस्थ को लौटना, और सब द्रव्य युधिष्ठिर को अर्पण कर देना । १३६–१४०
३१. सहदेव के दिग्विजय का वर्णन । १४०–१४९
३२. नकुल के दिग्विजय का वर्णन । १४९ १५२

राजसूयपर्व ।

३३ युधिष्ठिर का यज्ञ की सब सामग्री मँगवाकर, यज्ञ करने को दीक्षित होना, और सब राजा और ब्राह्मण आदि को निमन्त्रण भेजना १५२-१५९
३४. निमन्त्रण पाने पर युधिष्ठिर के यज्ञ में सहस्रों ब्राह्मणों और राजाओं का आना । १५९–१६२
३५. युधिष्ठिर का पृथक् पृथक् कामों पर पृथक् पृथक् मनुष्यों को नियत करके यज्ञ करना १६२-१६

अर्घाहरणपर्व ।

३६. राजा युधिष्ठिर का यज्ञस्नान करना और भीष्म जी के कहने से श्रीकृष्ण जी को अर्घ्य देना १६५–१६९
३७. राजा शिशुपाल का श्रीकृष्णचन्द्र की पूजा होते देखकर युधिष्ठिर, भीष्म और श्रीकृष्ण जी की निन्दा करना । १६९–१७३
३८. राजा युधिष्ठिर का शिशुपाल को समझाना भीष्म जी का शिशुपाल का तिरस्कार करना १७३–१७
३९. श्रीकृष्ण जी की पूजा होने पर सब राजाओं क क्रोध करके यज्ञ विध्वंस करने की सलाह करन और युद्ध के लिये उपस्थित होना १७७–१७

शिशुपालवधपर्व ।

४० युधिष्ठिर का सब राजाओं को युद्ध के लि तैयार देखकर भीष्म जी से उपाय पूछना, औ भीष्म जी का श्रीकृष्ण जी की महिमा कहक युधिष्ठिर का भय दूर करना । १८०–१८
४१. राजा शिशुपाल का भीष्म की निन्दा करना १८१–१८
४२. शिशुपाल के रूखे वचनों को सुनकर भीमसे का क्रोध करना और भीष्म का उसके क्रो को शान्त करना । १८७–१८
४३. भीष्म जी का भीमसेन से शिशुपाल की उत्पत्ति और श्रीकृष्ण जी से वरदान पाने का वृत्तान्त कहना । १८९–१९
४४. शिशुपाल का भीष्म और श्रीकृष्ण की निन्द करना, और शिशुपाल, भीष्म और सब राजाओं का आपस में विवाद होना । १९२–
४५ श्रीकृष्ण जी का शिशुपाल के सौ अपर होने पर मार डालना । राजसूय यज्ञ की समाप्ति सब राजाओं का और भीष्म आदि आचार्य का स्वनगरों में प्रस्थान । पाण्डवों की अनुमति

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	श्रीकृष्णजी का द्वारका को गमन	१९७-२०६
	द्यूतपर्व ।	
	व्यास जी का युधिष्ठिर से उत्पातों का फल कहकर चले जाना और युधिष्ठिर का शोच करना।	२०६–२१०
	दुर्योधन का मय सभा को देखना। उस सभा में स्थल को जल जानकर स्थल पर गिर पड़ना, उसपर भीमसेन, अर्जुन और द्रौपदी के किये उपहास से दुर्योधन का अपमानित होना ।	२१०–२१५
	शकुनि का दुर्योधन को युधिष्ठिर पर क्रोध न करने का उपदेश करना और उसके न मानने पर उसे युधिष्ठिर से जुआ खेलने की सलाह देना ।	२१५–२१८
	दुर्योधन का धृतराष्ट्र के पास जाना और अपने विचार प्रकट करना ।	२१८–२२६
	धृतराष्ट्र और विदुर की बातचीत	२२६–२३१
	दुर्योधन का यज्ञ में आई हुई भेंट का वर्णन करना ।	२३१-२३५
	अन्य राजाओं की लाई हुई सामग्री का वर्णन।	२३५–२४१
	दुर्योधन का और भी हाल कहना	२४१–२४४
	धृतराष्ट्र का दुर्योधन को समझाना	२४४-२४६
	दुर्योधन का प्रत्युत्तर ।	२४६–२४९
	धृतराष्ट्र का जुए के लिये अनुमति देना ।	२४९–२५२
	धृतराष्ट्र का विदुर को युधिष्ठिर के पास भेजना।	२५२ २५३
	विदुर का युधिष्ठिर के पास जाना	२५३-२५७
	[illegible]जुए के लिये पाण्डवों का प्रस्थान	२५८-२६०
	[illegible] सभा में राजा धृतराष्ट्र, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि का आना तथा युधिष्ठिर का कौरवों से जुआ खेलना ।	२६१–२६२
	युधिष्ठिर का शकुनि से जुआ होना और युधिष्ठिर का बहुत-सा धन हारना	२६२-२६६
६२.	विदुर जी का धृतराष्ट्र को समझाना	२६६-२६८
६३.	विदुर का फिर उपदेश करना	२६८–२७०
६४.	दुर्योधन का क्रोध से विदुर जी की निन्दा करना, व विदुर जी का अनेक हितकारी बातें कहना ।	२७०–२७३
६५.	युधिष्ठिर का जुए में सब राज्य और धन हारना और पीछे अपने चारों छोटे भाइयों और अपने आप और फिर द्रौपदी को भी हार जाना ।	२७३–२७९
६६.	विदुर का दुर्योधन को उपदेश ।	२७९–२८१
६७.	द्रौपदी को लाने के लिये दुर्योधन का प्रातिकामी को भेजना ।	२८१–२८९
६८.	द्रौपदी का वस्त्र हरण। द्रौपदी का श्रीकृष्णानन्द को याद करना ।	२८९–३०१
६९.	द्रौपदी का विलाप और भीष्म-वचन	३०१-३०४
७०.	दुर्योधन का द्रौपदी से अपना प्रश्न पाण्डवों से ही पूछने को कहना और क्रोधपूर्वक भीमसेन का उत्तर देना ।	३०४–३०६
७१.	भीमसेन का प्रण व कौरवों की अनीति और उत्पातसूचक गीदड़ों का बोलना, उसे सुन धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वर देना और पाण्डवों का दास-भाव से छुटकारा होना ।	३०६–३११
७२.	क्रोधित भीमसेन को शान्त करके युधिष्ठिर का धृतराष्ट्र के पास जाना ।	३११–३१३
७३.	धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को समझाकर इन्द्रप्रस्थ के लिये विदा करना ।	३१४–३१६
	अनुद्यूतपर्व ।	
७४.	दुर्योधन का धृतराष्ट्र के पास जाकर फिर युधिष्ठिर से जुआ खेलने के लिये अनुमति मांगना ।	३१६–३२०
७५.	गान्धारी का धृतराष्ट्र को समझाना	३२०-३२१
७६.	युधिष्ठिर का फिर आकर जुआ खेलना और	

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	उसमें हार जाना।	३२२–३२५
७७.	पाण्डवों का शत्रुओं को मारने के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा करके धृतराष्ट्र के पास जाना	३२५-३३०
७८.	युधिष्ठिर का भीष्मपितामह आदि सब बड़ों से विदा मांगकर वन जाना।	३३१--३३३
७९.	द्रौपदी का कुन्ती से विदा मांगना, कुन्ती का विलाप और विदुर जी का कुन्ती को अपने घर ले जाना और द्रौपदी-सहित पाण्डवों का वन जाना।	३३४--३३८
८०.	विदुर, द्रोण और धृतराष्ट्र का विचार।	३३८-३४५
८१.	पाण्डवों के वन को चले जाने पर धृतराष्ट्र का बड़ी चिन्ता करना।	३४५--३४९

(सभापर्व की समाप्ति तक कुल पृष्ठ संख्या १४२८ हुई)

वनपर्व।

आरण्यपर्व।

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	हस्तिनापुर से पाण्डवों का वनगमन और नगरवासियों का शोक करना।	१४२९-१४३४
२.	ब्राह्मणों का पाण्डवों के साथ वन को जाने को तैयार होना, युधिष्ठिर का निषेध करना और फिर ब्राह्मणों को वन के जाने का आग्रह करना, युधिष्ठिर का विकल होना और शौनक का ज्ञान उपदेश करना।	१४३५--१४४५
३.	धौम्य ऋषि का युधिष्ठिर को सूर्य की पूजा करने का उपदेश करना। युधिष्ठिर का सूर्य की तपस्या करना और सूर्य का युधिष्ठिर को वरदान देना और पाण्डवों का काम्यक वन में पहुँचना।	१४४६–१४५६
४.	धृतराष्ट्र के साथ विदुर का वार्तालाप, धृतराष्ट्र का विदुर को त्यागना और विदुर का युधिष्ठिर के पास जाना।	१४५६–१४५९
५.	विदुर का पाण्डवों के साथ भाषण।	१४५९–१४६२
६.	धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर को बुलाने के लिये सञ्जय का काम्यक वन में जाना और विदुर का फिर हस्तिनापुर में आना।	१४६२-१४६५
७.	दुर्योधन, शकुनि और कर्ण की सलाह। पाण्डवों के मारनेके लिये इनका जाना।	१४६६-१४६८
८.	कौरव सभा में वेदव्यास मुनि का आगमन और धृतराष्ट्र के सङ्ग वार्तालाप।	१४६९–१४७०
९.	इन्द्र और कामधेनु का संवाद।	१४७०-१४७३
१०.	पाण्डवों के पास मैत्रेय ऋषि का आना और दुर्योधन को समझा कर पाण्डवों से मिलाप करने का उपदेश करना, दुर्योधन का न मानना और मैत्रेय जी का दुर्योधन को शाप देना।	१४७३–१४७८
	किर्मीरवधपर्व।	
११.	विदुर जी का राजा धृतराष्ट्र से भीमसेन के हाथों किर्मीर दैत्य के मारे जाने का वृत्तान्त कहना।	१४७८–१४८७
	अर्जुनाभिगमनपर्व।	
१२.	पाण्डवों के दुःख का हाल सुनकर श्रीकृष्ण आदि अनेक क्षत्रिय और राजाओं का वन में पाण्डवों के पास आना, श्रीकृष्ण जी का क्रोध करना, अर्जुन का श्रीकृष्ण जी की स्तुति करना, द्रौपदी का श्रीकृष्ण जी के सम्मुख विलाप करना और श्रीकृष्ण जी का द्रौपदी को धैर्य देना।	१४८७–१५०४

सभापर्व ।

सभाक्रिया पर्व ।

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ॐ ॥ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

वैशम्पायन उवाच—ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ १ ॥
अस्मात्कृष्णात्सुसंरब्धात्पावकाच्च दिधक्षतः ।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच—कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर ।
प्रीतिमान्भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥ ३ ॥

मय उवाच— युक्तमेतत्त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित्कर्तुमिच्छामि भारत ॥ ४ ॥
अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः ।
सोऽहं वै त्वत्कृते किंचित्कर्तुमिच्छामि पाण्डव ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते है कि अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों का यथोचित सत्कार करके मय दानव ने हाथ जोड़कर मीठी वाणी मे कहा हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! आपने कृष्ण के विषम क्रोध और अग्नि की भयानक ज्वाला मे मुझको बचा लिया है । इस कारण, मैं, बदले में, आपका कुछ उपकार करना चाहता हूं ॥१।२॥

अर्जुन ने कहा -हे महावीर ! तुमने इतना कहा तो मानों मुझे सब कुछ मिल गया । तुम्हारा भला हो । जाओ मैं तुमसे प्रसन्न हूँ; तुम भी मुझसे सदा प्रीति का भाव रखना । मय दानव ने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ प्रभो ! तुमने जो कहा वह ठीक है, परन्तु मैं प्रीतिपूर्वक तुम्हारा कुछ उपकार करना चाहता हूँ ॥३।४॥

मै शिल्पकार्य में बड़ा चतुर और दानवों का विश्वकर्मा हूँ, इसी हेतु आप के लिये कुछ करना चाहता हूँ । अर्जुन ने कहा कि तुम मृत्यु के मुँह से बच जाने के कारण बदले में उपकार करना

अर्जुन उवाच—प्राणकृच्छ्राद्विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया ।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित्कारयितुं त्वया ॥ ६ ॥
न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव ।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित्तथा प्रतिकृतं मयि ॥ ७ ॥
चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ८ ॥
ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः ।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ॥ ९ ॥
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर ।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥ १० ॥
यां कृतां नाऽनुकुर्युर्हि मानवाः प्रेक्ष्य धिष्ठिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ ११ ॥
यत्र दिव्यानभिप्रायान्पश्येम हि कृतांस्त्वया ।
आसुरान्मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच-प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं संप्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥ १३ ॥
ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतत्समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १४ ॥

चाहते हो, ऐसी दशा में मैं तुमसे कोई कार्य कराना नहीं चाहता। किन्तु यह भी मेरी इच्छा नहीं कि तुम्हारी कल्पना व्यर्थ हो। तुम श्रीकृष्ण का कोई कार्य कर दो उसी से मेरा प्रत्युपकार हो जायगा। अर्जुन की आज्ञा से जब मय दानव ने वासुदेव से प्रार्थना की तब उन्होंने थोड़ी देर तक सोचकर कहा है शिल्पश्रेष्ठ दानव! यदि तुम्हें मेरा प्रिय करने की बड़ी इच्छा है तो तुम युधिष्ठिर के लिये अपनी इच्छानुसार एक सभा बनादो॥५।१०॥

वह सभा ऐसी हो कि जिसे देखकर पृथ्वी भर में कोई दूसरा मनुष्य वैसी न बना सके और जिसमें दिव्य आसुर और मानवी बनावटों की सब प्रकार की चतुरता दीख पड़े ॥११।१२॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! कृष्ण की आज्ञा पाकर मय दानव को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने महाराज युधिष्ठिर के लिये विमान-सदृश सुन्दर देखनेयोग्य सभा बनाने का विचार किया। अब श्रीकृष्ण और अर्जुन मय दानव को युधिष्ठिर

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हामकरोत्तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥ १५ ॥
स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशांपते ।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ॥ १६ ॥
स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः ।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ १८ ॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान्पायसेन सहस्रशः ।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥ १९ ॥
सर्वर्तुगुणसंपन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रान्तां मापयामास सर्वतः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

के पास ले गये उन्होंने सब वृत्तान्त कहकर मय दानव से उनका परिचय कराया। महाराज युधिष्ठिर ने मय का यथोचित सत्कार किया। उसने वह पूजा स्वीकार करके कुछ समय तक विश्राम किया और विन्दु सरोवर में वृषपर्वा दानव के यज्ञ करने का वृत्तान्त पाण्डवों को सुनाया। इसके उपरान्त मय दानव ने महात्मा श्रीकृष्ण और पाण्डवों की इच्छा के अनुसार स्वस्त्ययन-मङ्गल के उपरान्त शुभ दिन में सहस्रों ब्राह्मणों को खीर खिलाई और दक्षिणा दी, फिर दस हजार हाथ के घेरे में सभा भवन का स्थान मापा। इसके पश्चात वह सब ऋतुओं में सुख देनेवाली सुन्दर सभा बनाने लगा। ॥१३-२०॥

— ० —

सभापर्व का पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच-उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः ।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

पाण्डवों के स्नेह और भक्ति पूर्ण पूजा से प्रसन्न कृष्णचन्द्र कुछ समय तक खाण्डवप्रस्थ में बड़े सुख से रहे। इसके पश्चात पिता के दर्शन करने को उन्होंने जाने की इच्छा प्रकट की। जगत् पूज्य

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ।
धर्मराजमथाऽऽमन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥
ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः ।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः ।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥
अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम् ।
उवाच भगवान्भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥
तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः ।
संपूजितश्चाऽप्यसकृच्छिरसा चाऽभिवादितः ॥ ६ ॥
तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् ।
ददर्शाऽनन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥
ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः ।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद्विद्वान्पार्थेन सहितो बली ।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवाऽमरैः ॥ ९ ॥
यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः ।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान्समलङ्कृतः ॥ १० ॥

पद्मनेत्र, श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर और पृथा (कुन्ती) को सम्मानित कर अपनी बुआ के पाव छुए। कुन्ती ने सिर चूमकर उनको छाती से लगा लिया। इसके पश्चात् भगवान् हृषिकेश सुभाषिणी बहन सुभद्रा के पास गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये। उन्होंने यथार्थ, हितकारी, थोड़े शब्दवाले, अखण्डनीय वचनों से बहन को ढाढ़स बँधाया। सुभद्रा ने भी पिता, माता, स्वजन आदि के लिये संदेसा कहकर कृष्ण का पूजन और प्रणाम किया॥१।६॥

वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण ने बहन का उचित आदर कर द्रौपदी और धौम्य से भेंट की यथोचित पूजा कर द्रौपदी को सम्मानित किया और अच्छीतरह से समझाया। फिर वे अर्जुन के साथ वहा से युधिष्ठिर आदि चारों पाण्डवों के पास गये। इन्द्र जिस प्रकार देवताओं से घेरे जाते हैं वैसे ही यदु कुल श्रेष्ठ महाबली श्रीकृष्ण पाच भाइयों से घेरे गये॥७।१०॥

यात्राकाल में किये जाने योग्य कर्म करने की

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः ।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥
स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः ।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो वाह्यकक्षां विनिर्गतः ॥ १२ ॥
स्वस्तिवाच्याऽर्हतो विप्रान्दधिपात्रफलाक्षतैः ।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाऽकरोत् ॥ १३ ॥
काञ्चनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैव्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥
अन्वारुरोह चाऽप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चाऽस्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥
अभीषून्संप्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।
उपारुह्याऽर्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो वली ॥ १८ ॥

इच्छा से अब श्रीकृष्ण ने स्नान किया और अनेक प्रकार के गहने पहने । इसके पश्चात् उन्होंने माला, मन्त्र, नमस्कार और नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थों के द्वारा देवताओं की पूजा की । अब सब कार्य समाप्त करके, अपने नगर को जाने के लिये घर से निकलकर कृष्णचन्द्र बाहर की ड्योढ़ी पर आये । वहां आशीर्वाद देनेवाले ब्राह्मण दधि भरे पात्र, फूल और चावल आदि सगुन की वस्तुएँ हाथ में लिये खड़े थे । वासुदेव ने धन देकर उनकी प्रदक्षिणा की ॥१०।१३॥

फिर गदा, चक्र, खड्ग, धनुष आदि अनेक अस्त्रों से सजे हुए कृष्णचन्द्र गरुड़ की ध्वजा से सुशोभित, शीघ्रगामी, सुग्रीव आदि चार घोड़ेवाले सुवर्णमय रथ पर चढ़कर शुभ दिन, नक्षत्र और शुभ मुहूर्त में पधारे ॥१४।१५॥

तब स्नेह के मारे कुरुनाथ युधिष्ठिर ने सारथी से हट जाने के लिये कहा । वे आप रथ पर जा बैठे और रास पकड़कर घोड़ों को हाँकने लगे । दीर्घभुज अर्जुन भी उसी रथ पर कृष्ण की दाहिनी ओर बैठकर सुवर्ण-दण्ड-युक्त श्वेत चँवर हिलाने लगे । महापराक्रमी भीमसेन, पुरोहित, ऋत्विज लोग, नकुल और सहदेव सब उनके पीछे-पीछे चलने लगे । शत्रुनाशी कृष्ण के पीछे-पीछे पाण्डव उसी तरह चले जैसे शिष्य लोग गुरु के पीछे

पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।
पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥
योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरञ्जयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥
ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥
ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात्पाण्डवान्सपदानुगान् ॥ २५ ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात्तदा ॥ २६ ॥
मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।
अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥ २७ ॥

चलते हैं। उस समय उनकी अपूर्व शोभा हुई। ॥१६।२०॥

अनन्तर कृष्ण ने अर्जुन को बड़े प्रेम से गले लगाकर युधिष्ठिर और भीमसेन की पूजा की और नकुल और सहदेव को भी गले लगाकर प्यार किया। युधिष्ठिर आदि ने भी श्रीकृष्ण को गले लगाया। केवल दोनों माद्री कुमारों ने उनको प्रणाम किया। इस प्रकार दो कोस चलने पर शत्रुदमन श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को पुकार कर यह कहा कि आप लौट जायँ और उनके पाँव छुए। पैरों पर पड़े हुए यादवश्रेष्ठ कमललोचन कृष्ण को उठाकर युधिष्ठिर ने स्नेह के साथ उनके माथे को सूँघा और उन्हें घर जाने की आज्ञा दी ॥२१।२४॥

अब पाण्डवों से अनेक प्रतिज्ञाएँ करके, बड़ी कठिनाई से उन्हें लौटाकर, अमरावती को जा रहे इन्द्र की तरह कृष्ण द्वारका को रवाना हुए। जहाँ तक दृष्टि काम करती थी वहाँ तक युधिष्ठिर आदि सब भाई खड़े-खड़े रथ की धूल को देखते रहे।

क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ।
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥
निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वपुरं पुरुषर्षभाः ।
स्यन्दनेनाऽथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥ २९ ॥
सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ।
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच–निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥
विसृज्य सुहृदः सर्वान्भ्रातॄन्पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच–केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥
आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥
प्रद्युम्नसाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा ।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ।
मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम् ।
विधिवत्कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

धीरे धीरे रथ नजर से गायब हो चला । अब पाण्डव क्या करते ? निराश होकर वे बड़े कष्ट से अपनी नगरी को लौटे ॥२५।२८॥

गरुड़ के समान वेग से चलनेवाले रथ पर दारुक सारथी और सात्वत के साथ बैठे हुए कृष्ण शीघ्र ही द्वारका के समीप पहुँच गये ॥२९।३०॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! इधर बन्धु-बान्धवों के साथ महाराज युधिष्ठिर अपने नगर में पहुँचे सब भाइयों और बन्धु-बान्धवों को विदा करके वे द्रौपदी के साथ आनन्द करने लगे । उधर कमलनेत्र केशव भी प्रसन्नता-पूर्वक द्वारका पुरी में पहुँचे । उग्रसेन आदि श्रेष्ठ यादवों ने उनकी पूजा

की । कृष्ण ने वृद्ध पिता वासुदेव जी, यशस्विनी माता और बड़े भाई बलदेव जी को प्रणाम किया । इसके पश्चात् प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध, भानु आदि पुत्रों को गले से लगाया। फिर वृद्धों की आज्ञा लेकर वे रुक्मिणी के भवन में गये ॥२१।२६॥

सभापर्व का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच–अथाऽब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाऽप्यहम् ॥ १ ॥
उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति ।
सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद्वृषपर्वणः ॥ ३ ॥
आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत ।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥ ४ ॥
मनः प्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥
निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥

तीसरा अध्याय ॥ ३ ॥

वैशम्पायन ने कहा, कि अनन्तर मय दानव ने अर्जुन से कहा हे महाभाग ! मैं आपसे जाने की आज्ञा चाहता हूँ । अभी लौट आऊँगा । पहले कैलास पर्वत के उत्तर तट पर स्थित मैनाक पर्वत के निकट, बिन्दु सरोवर के पास, दानवों के यज्ञ करने के अवसर पर मैंने जो विचित्र परम रमणीय मणिमय सामग्री लाया था उसमें मैंने सत्य प्रतिज्ञ, वाले दानव-राज वृषपर्वा की सभा बनाई थी । यदि वह सामग्री वहाँ अभी तक विद्यमान है तो मैं मैनाक से लौटते समय उसे ले आऊँगा और आपकी यश बढ़ानेवाली, मन को हर लेनेवाली सर्व रत्नों से सुशोभित, बड़ी विचित्र, प्रशंसनीय सभा बनाऊँगा । हे कुरुनन्दन ! जान पड़ता है कि उस बिन्दु सरोवर में एक बड़ी कठोर गदा भी पड़ी है ॥१।५॥

राजा वृषपर्वा ने लक्ष गदाओं के समान बड़ा भार सहने योग्य सुवर्ण बिन्दु जटित शत्रुनाशिनी उस कठोर गदा से शत्रुओं को मारकर उसे वहाँ गाड़ रक्खा है । गाण्डीव जैसे आपके योग्य है वह गदा भी वैसे ही भीमसेन के योग्य है । और वरुण जी का देवदत्त नामक बहुत बजनेवाला बड़ा भारी

सा वै शतसहस्रस्य संमिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥
वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत्प्रदास्यामि भवते नाऽत्र संशयः ॥ ८ ॥
इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः ।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥
हिरण्यशृङ्गः सुमहान्महामणिमयो गिरिः ।
रम्यं विन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।
यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥
शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ।
यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १३ ॥
यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वाँल्लोकान्सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥
नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥

शंख भी उस सरोवर में हैं। वह भी निःसन्देह मैं आपको लाकर दूँगा ॥६।८॥

वह असुर अर्जुन से ऐसा कहकर पूर्वोत्तर दिशा को गया। कैलास के उत्तर और मैनाक पर्वत के निकट पहुँचकर मय दानव ने सुवर्ण के शिखरों से शोभित मणिमय एक ऊँचा पहाड़ देखा। सुन्दर विन्दु सरोवर उसी पहाड़ पर है। राजा भगीरथ ने भगवती भागीरथी के दर्शन के लिये बहुत दिनों तक इसी पर्वत पर रहकर तप किया था। हे भरत-श्रेष्ठ! उस स्थान में सब भूतों के अधीश इन्द्र जी ने सौ महायज्ञ किये थे। यज्ञ-कर्म के साक्षी-स्वरूप अनेकों मणिमय यूप (खम्भे) और सुवर्णमय चैत्य उस प्रदेश की शोभा बढ़ा रहे हैं। वे कहीं की नक़ल नहीं हैं। यहीं यज्ञ करने से सहस्रनयन इन्द्र को सिद्धि मिली है ॥९।१३॥

अति तेजस्वी सनातन भूतनाथ महादेव सब लोकों को रचकर उस स्थान में विराजमान होकर सहस्रों भूतों से पूजे जाते हैं। उस स्थान में नर

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान्बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसंप्रतिपत्तये ॥ १६ ॥
सुवर्णमालिनो यूपांश्चैत्यांश्चाऽप्यति भास्वरान् ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥
तत्र गत्वा स जग्राह गदां शंखं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद्वृषपर्वणः ॥ १८ ॥
किंकराः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद्धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥
तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयी शुभाम् ॥ २० ॥
गदां च भीमसेनाय प्रददौ प्रवरां तदा ।
देवदत्तं चाऽर्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥ २१ ॥
यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ।
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ॥ २२ ॥
दशाकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताऽभवत् ।
यथा वह्नेर्यथाऽर्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥
भ्राजमाना तथाऽत्यर्थं दधार परमं वपुः ।

नारायण ब्रह्मा, यम और रुद्र सहस्रों युगों के अन्त होने पर यज्ञ किया करते हैं ॥१४।१५॥

वासुदेव केशव ने धर्म स्थापन करने के लिये उस स्थान में बहुत वर्षों तक सदा श्रद्धा-सहित यज्ञ किया था और उस स्थान में उन्होंने सुवर्ण माला-युक्त यूप चमकीले चैत्य और दूसरी सहस्रों बनी हुई वस्तु दान दी थी ॥१६।१७॥

हे भरतनन्दन ! मय दानव ने वहां जाकर वृषपर्वा की गदा शंख और सभा बनाने के योग्य जितनी स्फटिक की सामग्री थी सब ले ली। जो धन यक्ष और राक्षस लोगों की रखवाली में था उस महासुर ने वहां जाकर वह भी ले लिया। वह सब सामग्री लेकर मय दानव अर्जुन के पास गया और उस सामग्री के द्वारा अद्भुत अपूर्व तीनों लोकों में प्रशंसित मणिमय सभा भवन बनाने में लग गया ॥१८।२०॥

अर्जुन को देवदत्त शङ्ख और भीम को उसने गदा दे दी। देवदत्त शङ्ख के शब्द से त्रिभुवन गूंज उठते थे। दस हजार हाथ के घेरेवाली वह सभा देखने योग्य बनी। उसमें सोने के पेड थे।

अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥ २४ ॥
प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ।
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ॥ २५ ॥
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ।
उत्तमद्रव्यसंपन्ना रत्नप्राकारतोरणा ॥ २६ ॥
बहुचित्रा बहुधना निर्मिता विश्वकर्मणा ।
न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाऽथ तादृशी ॥ २७ ॥
सभा रूपेण संपन्ना यां चक्रे मतिमान्मयः ।
तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ॥ २८ ॥
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ।
अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ॥ २९ ॥
रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ।
तस्यां सभायां नलिनीं चकाराऽप्रतिमां मयः ॥ ३० ॥
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ॥ ३१ ॥
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः ।

चन्द्रमा, अग्नि और सूर्य की सभा के समान वह सभा अपने प्रकाश से मानों सूर्य के तेज को भी फीका कर रही थी। दिव्य प्रकाश से वह दिव्य सभा आग के ढेर के समान प्रज्वलित सी हो रही थी। वह इतनी ऊँची थी मानों आकाश-मण्डल को छू लेगी। वास्तव में सब कार्यों में दक्ष सुमति मय ने जैसी लम्बी चौड़ी अति निर्मल, थकावट मिटानेवाली मनोहररूपिणी अनेक चित्रों से सुहावनी रत्नजटित बहुमूल्य सभा बनाई, वैसी न तो श्रीकृष्ण की, न ब्रह्मा जी की, न और किसी देवता की थी ॥२१।२७॥

आकाश में उड़नेवाले महाबली भारी देहधारी लालनेत्र, पिङ्गलनेत्र, शुक्तिकर्ण, अस्त्र लिये हुए आठ हजार किङ्कर नामक भयावने राक्षस मय-दानव की आज्ञा से सभा की रखवाली करने और सामान लाने लगे थे। उस सभा में मय दानव ने चित्त को आश्चर्य में डाल देनेवाला, स्वच्छ जल से भरा, एक बड़ा सरोवर बना दिया था। उस सरोवर में मणि जटित सुनहले वृक्ष सुहाते थे और भाँति-भाँति के पक्षी कलोल कर रहे थे। सोने की मछलियाँ और कच्छवे उस सरोवर में थे जिससे वह बड़ा विचित्र लगता था। चारों ओर विस्तृत, विचित्र, स्फटिक की सीढ़ियाँ देखने से देखनेवालों के नेत्र और मन मुग्ध हो जाते थे। मोती-सदृश

चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ॥ ३२ ॥
मन्दानिलसमुद्भूतां मुक्ताविन्दुभिराचिताम् ।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३३ ॥
मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः ।
दृष्ट्वाऽपि नाऽभ्यजानन्त तेऽज्ञानात्प्रपतन्त्युत ॥ ३४ ॥
तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन्नानाविधा नीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥ ३५ ॥
काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिनाः ॥ ३६ ॥
जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः ।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान्स्म निषेवते ॥ ३७ ॥
ईदृशी तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन्न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

जल बिन्दुओं से शोभित उस सरोवर में बहुत ही स्वच्छ जल भरा हुआ था। चारों ओर का फर्श, मणिमय होने के कारण, अद्भुत शोभा दे रहा था। हँस, कारण्डव, सारस, बगले, चक्रवाक आदि जलचर जीव किनारे और जल के भीतर विचरते हुए दर्शकों के मन को मोहित कर लेते थे। मोतियों और रत्नों से पूर्ण होने के कारण कुछ राजा आते जाते समय सामने देखकर भी समझ न सकते थे कि यह सरोवर है और इसी कारण उसमें गिर भी पड़ते थे ॥२८।३४॥

उस सभा भवन के चारों ओर तरह-तरह के फल फूलवाले, नीले, शीतल छायावाले अनेक भांति के मन हरनेवाले वृक्ष और सुगन्धित वन तथा हँस चकवों से भरे तालाब इधर उधर सुहाते थे। जल में उपजे कमलों की तथा स्थल में उपजे कमल विशेष (गुलाब) का सब सुगन्ध लेकर वायु, पाण्डवों की सेवा किया करती थी। मयासुर ने चौदह महीने में ऐसी अपूर्व अद्भुत रमणीय सभा बनाई और फिर महाराज युधिष्ठिर के पास जाकर सभा बनकर तयार हो जाने की सूचना दी ॥३५।३८॥

सभापर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥ १ ॥

साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च ।
भक्ष्यैर्मूलैः फलैश्चैव मांसैर्वाराहहारिणैः ॥ २ ॥
कृसरेणाऽथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः ।
मांसप्रकारैर्विविधैः खाद्यैश्चापि तथा नृप ॥ ३ ॥
चोष्यैश्च विविधै राजन्पेयैश्च बहुविस्तरैः ।
अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ॥ ४ ॥
तर्पयामास विप्रेन्द्रान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ॥ ५ ॥
पुण्याहघोषस्तत्राऽऽसीद्दिवस्पृगिव भारत ।
वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ६ ॥
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ।
तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा ॥ ७ ॥
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ॥ ८ ॥
सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः ॥ ९ ॥

चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

वैशम्पायन ने कहा, कि अनन्तर राजा युधिष्ठिर ने मधु, घृत, और दूध मिला हुआ अन्न तरह-तरह के फल मूल और हिरण, सुअर आदि के मांस से दस हजार ब्राह्मणों का भोजन कराकर यथायोग्य सभा में प्रवेश किया ॥१।२॥

उन्होंने नाना दिशाओं से आये हुए ब्राह्मणों को अन्न, शाक, मांस के अनेक पकवान इत्यादि बहुविधि चाबने, चूसने, चाटने, पीने की अपरमित सामग्री वस्त्र गहनों से प्रसन्न किया और सहस्रों गौ दान दीं ॥३।५॥

हे भरतनन्दन ! उस समय यह ध्वनि कि आज कैसा शुभ दिन है आकाश में गूँजने लगी। कुरश्रेष्ठ युधिष्ठिर के, बाजे और फूल धूपादि की मन को हर लेनेवाली गन्ध से देवों की पूजा कर सभा में घुसने पर वहां मल्ल, नट, सूत स्तुति गानेवाले अपना अपना गुण प्रकट कर उनकी उपासना करने लगे ॥६।८॥

पाँचों पाण्डव ऋषी मुनि के साथ उक्त सभा की प्रतिष्ठा कर अमरावती में बैठे इन्द्र की तरह बड़े सुख से वास करने लगे। अनेक देशों से आये

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्माली महाशिराः ।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको वलिः ॥ १० ॥
वको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः ।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ॥ ११ ॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः ।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥ १२ ॥
दामोष्णीषस्त्रैवलिश्च पर्णादो घटजानुकः ।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः ॥ १३ ॥
वलिवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः ।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्वः पारिजातकः ॥ १४ ॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः ।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥ १५ ॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः ।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥ १६ ॥
काक्षीवानौषिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः ।
पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः ॥ १७ ॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च ।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥.

हुए राजा और ऋषि पाण्डवों के साथ बैठते थे। असित, देवल, सत्य, सर्पिमाली, महाशिरा, अर्वा, वसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, ॥०।१०॥

वक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन, शुक, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, मेरे सहित व्यास जी के सब शिष्य, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य पुत्र-सहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, । ॥११।१२॥

दामोष्णीष, त्रैवलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्षी, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जंघाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, ॥१३।१६॥

काक्षीवान्, औषिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्गय, वराह, शुनक, महातपस्वी शाण्डिल्य, कुक्कुर, वेणुजंघ, कालाप और कठ, धर्म के जानकार संयतात्मा और जितेन्द्रिय ये सब मुनि और वेद वेदान्त में पण्डित, धर्मज्ञ और पवित्र दूसरे अनेक

एते चाऽन्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः ।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ॥ १९ ॥
कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः ।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ॥ २० ॥
श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ।
संग्रामजिद्दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चाऽपराजितः ।
काम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ॥ २२ ॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ।
बलपौरुषसम्पन्नान्कृतास्त्रानमितौजसः ॥ २३ ॥
यथाऽसुरान्कालकेयान्देवो वज्रधरस्तथा ।
जटासुरो मद्रकाणां च राजा कुन्ति पुलिन्दश्च किरातराजः ।
तथाङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योण्ड्रराजौ च सहाऽन्ध्रकेण ॥२४॥
अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैब्यश्चाऽमित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥ २५ ॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिंगो जयसेनश्च मागधः ॥ २६ ॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चाऽमित्रकर्शनः ।
केतुमान्वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २७ ॥

ऋषि सत्तम, अनेक प्रकार की पवित्र कथाएं कहकर धर्मराज की उपासना करते थे ॥१७।२०॥

इनके अतिरिक्त श्रीमान् महात्मा धर्मनिष्ठ राजा मुञ्जकेतु विवर्द्धन, संग्रामजित, दुर्मुख, वीर्यवान् उग्रसेन, कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, काम्बोजराज कमठ, बड़े पराक्रमी कम्पन जिन्होंने कालकेय आदि असुर कुलनाशी वज्रधारी इन्द्र की तरह अकेले बलवान शस्त्रधारी, तेजस्वी यवनों को कम्पाया था ॥२१।२३॥

जटासुर, मद्रराज, कुन्ति, किरातराज, पुलिन्द, पुण्ड्रक, अङ्ग, वङ्ग, पाण्ड्य, उण्ड्रराज, अन्ध्रक, सुमित्र, शत्रुनाशी शैब्य, किरातराज सुमना, यवनाधिपति चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज, श्रुतायुध, मगधनाथ, जयसेन, सुकर्मा, चेकितान शत्रुदमन पुरु, केतुमान, वसुदान, वैदेह, कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, अनिवन्धन श्रुतायु, दुर्दर्ष, अनूपराज, सुदर्शन, क्रमजित, पुत्र-सहित शिशुपाल,

सुधर्मा चाऽनिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥ २८ ॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ २९ ॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३० ॥
भीष्मकोऽथाऽऽकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥ ३१ ॥
केतुमान्वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ।
एते चाऽन्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसंमताः ॥ ३२ ॥
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ॥ ३३ ॥
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ।
तत्रैव शिक्षिता राजन्कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ३४ ॥
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ।
सुधर्मा चाऽनिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ३५ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ।
धनञ्जयसखा चाऽत्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३६ ॥
उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ।

करूषाधिप, वृष्णिवंश के कठोर देवरूपी कुमारगण, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, शिनि के पुत्र सत्यक, ॥२४।३०॥

भीष्मक, आकृति, वीर्यवन्त द्युमत्सेन, बडे चापधारी केकयगण और सोमक पुत्र यज्ञसेन, केतुमान, वसुमान् और अन्यान्य प्रधान-प्रधान क्षत्रिय भी धर्मराज युधिष्ठिर की उपासना में लगे रहते थे। हे महाराज ! प्रद्युम्न, साम्ब, युयुधान, सात्यकि, सुधर्मा, अनिरुद्ध, शैब्य आदि वृष्णिनन्दनगण और पराक्रमी जितने राजकुमार मृगछाल पहने अर्जुन से अस्त्र सीखते थे, वे भी उस सभा में उपस्थित रहते थे ॥३१।३५॥

इनके उपरान्त अर्जुन का मित्र तुम्बुरु नाम का गन्धर्व वहाँ नित्य उपस्थित रहता था। हे महाराज ! तुम्बुरु की आज्ञा से गाने-बजाने में चतुर, ताल लय में दक्ष चित्रसेन आदि सत्ताईस

चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३७ ॥
गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः ।
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किन्नराः कृतनिश्रमाः ॥ ३८ ॥
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ॥ ३९ ॥
पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ।
तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसङ्गराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥
समाप्तं च सभाक्रियापर्व ॥

गन्धर्व और अन्यान्य गन्धर्व, अप्सराएँ और किन्नर लोग शुद्ध ताल लयवाले स्वर से गीत गाकर पाण्डवों, महर्षियों और राजाओं को प्रसन्न करते हुए युधिष्ठिर की उपासना किया करते थे। स्वर्ग में जैसे देवता ब्रह्मा की उपासना करते है, वैसे ही उक्त सभा में स्थित अनेकानेक सत्यवादी ऋषि, नरपति और गुणी पुरुष धर्मराज की आराधना करते थे। ॥३६।४०॥

सभापर्व का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच–अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥
वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥

पांचवा अध्याय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! महात्मा पाण्डवगण और प्रधान गन्धर्व उस सभा में बैठे थे, कि, ऐसे समय में सब वेद और उपनिषदों के जाननेवाले, देवताओं के पूजनीय, इतिहास और पुराणों के जाननेवाले–॥१।२॥

न्याय और धर्म के तत्त्वज्ञ, शिक्षा कल्प व्याकरण आदि षडंग शास्त्रों के असाधारण ज्ञानी, नाना शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध, विधि वाक्यों की एकता

वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान्नयवित्कविः ।
पराऽपरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत्कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्याऽस्य महामतिः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
साङ्ख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुराऽसुरान् ॥ ७ ॥
सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राऽप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन्सर्वानागमत्तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान्पाण्डवान्द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२ ॥

करनेवाले, वाक्यों को अलग-अलग कर देने और इनके एक कर्म में अनेक धर्म सन्निवेश करने के लिये अधिकार के अनुसार सम्बन्ध निरूपण के विषय में बड़े पण्डित बुद्धिमान्, स्मृतिमान्, नीतिज्ञ, कवि, भले बुरे के अलग करने में ज्ञान रखनेवाले, प्रमाणों से वस्तुओं के विचार करनेवाले, प्रतिज्ञा के हेतु आदि अंगयुक्त वाक्यों के गुण दोष जाननेवाले, बृहस्पति जी की भी बात के उत्तर देनेवाले, सम्पूर्ण धर्मार्थ काम मोक्ष का सार जाननेवाले ॥३।५॥

योगबल से सम्पूर्ण भूमण्डल के प्रत्यक्षदर्शी, वेदान्त और योग के जाननेवाले, देव और असुरों को आपस में लड़ाने वाले, सम्पूर्ण सन्धि विग्रह आदि के तत्त्वज्ञ, अनुमान से कार्याकार्य विभाग में अभिज्ञ, सन्धि विग्रह आदि षड्गुण विधान में युक्त सब शास्त्रों में पण्डित ॥६।८॥

युद्ध और नृत्य गीतादि को चाहनेवाले, किसी कार्य में चित्त को न हटानेवाले, ऐसे ही और दूसरे

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायाऽनुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ।
तदर्हमासनं तस्मै संप्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥
गां चैव मधुपर्कं च संप्रदायाऽर्घ्यमेव च ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥
तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ।

नारद उवाच— कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ॥ १७ ॥
सुखानि चाऽनुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ।
कच्चिदाचरितां पूर्वैर्नरदेव पितामहैः ॥ १८ ॥
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ।
कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणाऽर्थमथापि वा ॥ १९ ॥
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे

सब गुण रखनेवाले, आत्मतत्त्व ढूढनेवाले, बडे तेजस्वी महर्षि नारद जी ने पारिजात, पर्वत और सौम्य सुमुख के साथ लोक मण्डल में घूमते हुए पाण्डवों के दर्शन के लिये प्रसन्नचित्त से उस सभा में आकर धर्मराज युधिष्ठिर जी का जय जयकार और पूजा की। ॥०।१२॥

ऋषि को आते देखकर सर्व धर्म के जानकार नम्र स्वभावी युधिष्ठिर ने भाइयों के साथ खडे होकर प्रीतिपूर्वक सिर झुका प्रणाम कर पाद्य, अर्घ्य, योग्य आसन, गौ, मधुपर्क, बहुत रत्न आदि से उनकी पूजा की। वह भी युधिष्ठिर से योग्य पूजा पाकर प्रसन्न हुए ॥१३।१५॥

फिर वेद के पारगामी महर्षि नारद जी कुशल प्रश्न के मिस उनको धर्म-अर्थ-काम का उपदेश करने लगे। नारद जी ने कहा—हे महाराज! अर्थ चिन्तन के साथ ही आप धर्म चिन्तन भी करते हैं न? अर्थ चिन्तन ने आपके धर्म चिन्तन को दबा तो नहीं लिया? सुख भोग में लगे रहकर आपने अपने पवित्र मन को तो कलुषित नहीं होने दिया? अपने पूर्वजों के आचरण और वृत्ति के अनुगामी होकर आप धर्म-अर्थ-काम का सेवन करते हैं न? ॥१६।१८॥

धन-वैभव का लोभ आपके धर्मोपार्जन की राह में रुकावट तो नहीं डालता? अथवा बिल्कुल धर्म के ध्यान में ही लगे रहने से धन की आमदनी में तो बाधा नहीं पड़ने पाती? काम की लालसा

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः समं वरद सेवसे ॥ २० ॥
कच्चिद्राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथाऽनघ ।
बलाबलं तथा सम्यक्चतुर्दश परीक्षसे ॥ २१ ॥
कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा सन्धाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥
कच्चित्प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथाऽव्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २३ ॥
कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाऽप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव चाऽमात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥ २४ ॥
मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद्वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित्सन्धिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २५ ॥
कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चाऽनुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ॥ २६ ॥

में लिप्त होकर धर्म और अर्थ के उपार्जन को तो आपने नहीं छोड़ दिया ? हे परोपकारी युधिष्ठिर ! आप ठीक समय पर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते रहते है न ? ॥१९।२०॥

आप सन्धि-विग्रह आदि छ राजगुणों से युक्त होकर सात उपायों (मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, भेद, दण्ड) का प्रयोग जानते हुए अपने पक्ष और शत्रुपक्ष के बल पर सदा ध्यान रखते है न ? कृषि, वाणिज्य, किलों की मरम्मत, पुल बनवाना, हाथियों को चारे की सुविधा की दृष्टि से कई स्थानों में रखना, सोने तथा रत्नों की खानों से कर वसूल करना, और नई बस्तियाँ बनाना,—ये आठ राजकार्य आपके द्वारा अच्छी तरह होते रहते है न ? आपकी सातों प्रकृतियाँ (स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल) तो अच्छी दशा में हैं ? आपके राष्ट्र के लोग धनाढ्य कामकाजी और प्रभुभक्त है न ? आपको और मन्त्री, मित्र, सैनिक, पुरवासी आदि को मृगया, मद्य आदि का कोई व्यसन तो नहीं है ? औरों के जासूस लोग तो अपने ऊपर विश्वास पैदा कराकर आपकी और आपके मंत्रियों की गुप्त सलाह को तो नहीं जान लेते ? ॥२१।२४॥

अपने मित्र, शत्रु और उदासीन पक्ष के लोग क्या कर रहे है—क्या करना चाहते है—इसकी सूचना तो आपको रहती है ? आप ठीक समय पर सन्धि और विग्रह करने में तो नहीं चूकते ? आप उदासीन राष्ट्रों से तटस्थ रहकर अपने कर्तव्य का पालन करते रहते है न ? अपने समान, बूढ़े,

कुलीनाश्चाऽनुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ २७ ॥
कच्चित्संवृतमन्त्रैस्ते अमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥ २८ ॥
कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्काले विबुध्यसे ।
कच्चिच्चाऽपररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ २९ ॥
कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ ३० ॥
कच्चिदर्थान्विनिश्चित्य लघुमूलान्महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३१ ॥
कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चाऽत्र कारणम् ॥ ३२ ॥
आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः ।
कच्चिद्राजन्कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥ ३३ ॥
विदुस्ते वीर कर्माणि नाऽनवाप्तानि कानिचित् ।
कच्चित्कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ॥ ३४ ॥

शुद्ध स्वभाववाले, समझाने में समर्थ, अच्छे वंश में उत्पन्न और अनुगत पुरुषों को ही तो आप मन्त्री बनाते हैं न ? क्योंकि मन्त्री ही राजाओं के जय की जड है। इसलिये मन्त्री श्रेष्ठ होने चाहिएँ। सब शास्त्रों में पंडित मन्त्रीगण मन्त्र छिपाकर भली रीति से आपके राज्य की रक्षा करते हैं ? शत्रु लोग आपका किसी प्रकार का बुरा तो नहीं कर पाते ? ॥२५।२८॥

आप ठीक समय पर सोकर ठीक समय पर उठा करते हैं न ? पिछले पहर जागकर आप अर्थों पर विचार करते हैं न। आप अकेले या बहुत लोगों के साथ तो कभी सलाह नहीं करते ? आपकी गुप्त मन्त्रणा प्रकट होकर राज्य में फैल तो नहीं जाती ? ॥२०।३०॥

थोडी चेष्टा से बड़े फलदाई कामों के बारे में निश्चय करके उन्हें आप शीघ्र करने लगते हैं न ? ऐसे कामों में विघ्न तो नहीं होने पाता ? किसान लोग तो आपके परोक्ष में ठीक व्यवहार करते हैं न ? आपका उन पर विश्वास है न ? वे आपको स्नेह की दृष्टि से देखते हैं न ? क्योंकि प्रभु पर भक्ति हुए बिना ऐसा होना असम्भव है। किसानों पर सख्ती तो नहीं होती ? आरम्भ किये हुए कार्यों को त्यागना तो नहीं पड़ता अथवा उनका प्रबन्ध तो नहीं बिगड़ता ? ॥३१।३२॥

कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ।
कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ॥ ३५ ॥
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ।
कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ॥ ३६ ॥
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ।
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ॥ ३७ ॥
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ।
कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ॥ ३८ ॥
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ।
कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ॥ ३९ ॥
नित्ययुक्तो रिपून्सर्वान्वीक्षसे रिपुसूदन ।
कच्चिद् विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ॥ ४० ॥
अनसूयुरसङ्कीर्णः सत्कृतस्ते पुरोहितः ।
कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ॥ ४१ ॥

विश्वासी, अलोभी, प्राचीन क्रम के जाननेवाले कर्मचारियों से वह सब किये जाते हैं या नहीं ? लोग आपके किये हुए वा किये जाते हुए कार्यों को जान लेते हैं या नहीं ? हे वीरवर ! जो सब कार्य नहीं हुए हैं उन्हें तो किसी ने नहीं जाना ? सब शास्त्रों में पण्डित आचार्यगण, कुमार और युद्ध के मुखियों को आप धर्म की शिक्षा देते हैं या नहीं ? हज़ार मूर्खों के बदले एक पण्डित को आप अपने यहां रखते हैं या नहीं ? ॥३३।३५॥

क्योंकि किसी प्रकार की विपत्ति पड़ने पर चतुर लोग सहज ही उससे बचाव कर सकते हैं। आपके सब दुर्ग (क़िले) तो धन, अन्न, शस्त्र, जल और यन्त्रों से परिपूर्ण रहते हैं न ? क़िलों में कारीगर और धनुर्द्धर योद्धा सदा रहते हैं न ? एक भी मन्त्री यदि बुद्धिमान्, शूर, जितेन्द्रिय और ज्ञानकार होता है तो राजा या राजकुमार को श्रेष्ठ ऐश्वर्य का अधिकारी बना देता है। ॥३६।३८॥

अपने जासूसों के द्वारा शत्रुपक्ष के अठारह तीर्थों की और अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थों की जानकारी तो आप प्राप्त करते रहते हैं न ? शत्रुओं को नहीं मालूम होने पाता, और आप सावधान रहकर उनके कामों को देखते रहते हैं न ? आपने विनयी, ईर्ष्या-शून्य, अच्छे वंश में उत्पन्न, बहुश्रुत, विद्वान् पुरुष को ही तो सत्कारपूर्वक अपना पुरोहित बनाया है न ? ॥३९।४०॥

विधिज्ञ, बुद्धिमान् सरल और कार्यचतुर ब्राह्मण को ही आपने अपने यहाँ अग्निहोत्र के काम में

हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ।
कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ॥ ४२ ॥
उत्पातेषु हि सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ।
कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ॥ ४३ ॥
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ।
अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्शुचीन् ॥ ४४ ॥
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ।
कच्चिद् नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ॥ ४५ ॥
राष्ट्रं तवाऽनुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ।
कच्चित्त्वां नाऽवजानन्ति याजकाः पतितं यथा ॥ ४६ ॥
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ।
कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाञ्शुचिः ।
कुलीनश्चाऽनुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा ॥ ४७ ॥
कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ४८ ॥
कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ४९ ॥

रक्खा है न ? आपके ज्योतिषी तो ज्योतिर्विद्या-विशारद, राज्याङ्ग-कुशल, उत्पातों के फलाफल के पूरे ज्ञाता हैं न ? आप कार्य की छुटाई-बड़ाई का ख़याल करके ही उन कामों में मनुष्यों को नियुक्त करते हैं न ? ॥४१।४२॥

आप प्रधान अनुचरों को प्रधान, मध्यमों को मध्यम और निकृष्टों को निकृष्ट काम सौंपते हैं न ? वंश परम्परा से नौकर, पवित्र चित्त, वृद्ध सचिवों को ही तो आप श्रेष्ठ कार्य करने का भार देते हैं न ? कठोर दण्ड देकर प्रजा को आपके मन्त्री शङ्कित या उद्विग्न तो नहीं करते ? याजक लोग पतित व्यक्ति को जैसे अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, और स्त्रियाँ जैसे उग्र स्वभाववाले लम्पट पुरुष का अनादर करती हैं, वैसे ही शासन करनेवाले मन्त्री आपको हीन दृष्टि से तो नहीं देखते ? आपके सेनापति उत्तम वंश में उत्पन्न, साहसी, शूरवीर, गम्भीर कार्यचतुर और प्रभु-भक्त हैं न ? सब प्रकार के युद्ध में निपुण, प्रबल पराक्रमी, सच्चरित्र, साहसी सिपाहियों का आप यथोचित रूप से सम्मान करते हैं न ? ॥४४।४८॥

ठीक समय पर सिपाहियों को तनख्वाह दे दी जाती है न ? यदि उन्हें ठीक समय पर वेतन नहीं

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुर्वन्ति दौर्गत्यात्सोऽनर्थः सुमहान्स्मृतः ॥ ५० ॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्तवाऽर्थेषु सन्त्यजन्ति सदा युधि ॥ ५१ ॥
कच्चिन्नैको बहूनर्थान्सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥ ५२ ॥
कच्चित्पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५३ ॥
कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाऽभ्युपपद्यसे ॥ ५४ ॥
कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवाऽर्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाऽभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ५५ ॥
कच्चिद्भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत्परिरक्षसि ॥ ५६ ॥
कच्चित्त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ।
समश्चाऽनभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ५७ ॥

मिलना तो अच्छी तरह काम होना और सहायता मिलना तो दूर रहा, उलटे पग पग पर अनिष्ट और विद्रोह होने की आशङ्का बनी रहती है। ॥४९।५०॥

अच्छे कुलों में उत्पन्न प्रधान-प्रधान कर्मचारी और कुल के लोग आप पर अनुराग रखते हैं न? वे आप के लिये युद्ध में प्राण देने को तैयार रहते हैं न? और आपका कहा न माननेवाला कोई यथेच्छाचारी पुरुष तो सब युद्ध आदि के कार्यों का सम्पादन करने के लिये नहीं नियुक्त है? कोई पुरुष यदि अपने पौरुष या उद्योग से आपका कोई काम या उपकार करता है तो उसी समय आप उसे अच्छी तरह पुरस्कार और सम्मान देते हैं न? ज्ञानी, विद्वान्, नम्र और गुणी व्यक्ति सदा आप से धन और मान पाते रहते हैं न? हे महाराज! आपके लिये मरने वाले और विपत्ति में पड़ने वाले लोगों के पुत्र-स्त्री आदि परिवार का भरण-पोषण आप करते रहते हैं न? हे महाराज! बल घट जाने पर या युद्ध में हारने पर जो शत्रु टरकर आपकी शरण में आते हैं उनकी रक्षा आप पुत्र की तरह करते हैं न? ॥५१।५५॥

हे पृथ्वीनाथ! माता और पिता के समान इस राज्य की सब प्रजा को आप स्नेहपूर्ण एक दृष्टि से देखते हैं न? कोई आप से शङ्कित तो नहीं रहता?

कच्चिद्व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५८ ॥
यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिन्दम ।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् ।
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ॥ ५९ ॥
कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परन्तप ।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६० ॥
कच्चिदात्मानमेवाऽग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
पराञ्जिगीपसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६१ ॥
कच्चित्ते यास्यतः शत्रून्पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद् गुणाः ॥ ६२ ॥
कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान्यासि विशांपते ।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६३ ॥
कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६४ ॥
कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परन्तप ।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६५ ॥

शत्रु का मद्य आदि व्यसनों में लिप्त देख, अपने मन्त्र, कोष, भृत्य, इन तीन प्रकार के बल को अच्छी-तरह जांच कर आप शीघ्र ही शत्रु पर हमला कर देते हैं न ? जय-पराजय की शक्ति और सैनिकों के विचार जानकर, उन्हें धन आदि से सन्तुष्ट कर, तथा शत्रु की अन्दरूनी कमज़ोरियों का पता लेकर, आप यथासमय युद्ध-यात्रा किया करते हैं न ? शत्रुपक्ष की सेना में भेद-नीति का प्रयोग करने के लिये उस ओर के प्रधान-प्रधान पुरुषों को गुप्तरूप से धन-रत्न आदि आप भेजते रहते हैं न ? ॥५६।६०॥

आप पहले जितेन्द्रिय होकर, अपने को अपने वश में करके, फिर अजितेन्द्रिय असावधान शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखते हैं न ? आप युद्ध-यात्रा करने के पहले शत्रुओं पर साम, दान, भेद और दण्ड का उचित प्रयोग कर लेते हैं न ? ॥६१।६२॥

आप पहले अपनी जड़ को कायम करके फिर शत्रुओं को जीतने जाते हैं न ? शत्रुओं को जीत-कर फिर उनको उनके राज्य में स्थापित करके आप उनकी रक्षा करते हैं न ? रथ, घोड़े, हाथी, योद्धा, पैदल, कर्मचारी, जासूस, मुख्य कर्म करनेवाले, इन आठ अङ्गों से युक्त, चार बलों से सम्पन्न और सुशिक्षित सेनापतियों-द्वारा सञ्चालित आपकी चतु-

कच्चित्स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान्समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६६ ॥
कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च ।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६७ ॥
कच्चित्कोशश्च कोष्ठश्च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६८ ॥
कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशांपते ।
रक्षस्यात्मानमेवाऽग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥ ६९ ॥
कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च ।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७० ॥
कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशोध्यते तव ॥ ७१ ॥
कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्वाणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७२ ॥
कच्चिच्चाऽऽयव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायव्ययं तव ॥ ७३ ॥

रक्षिणी सेना शत्रुओं को जीतने में समर्थ है न ? अन्न की फ़सल काटने और एकत्र करने के समय पर ही आप शत्रुओ आक्रमण करते है न ? अपने और पराये राज्य में रहकर आपके बहुत से मनुष्य आपके कामों को पूरा करते और आपस में एक दूसरे की रक्षा करते हैं न ? वे परस्पर झगड़ा करके कार्य को प्रकट तो नहीं कर देते ? ॥६३।६६॥

आपके विश्वासी नौकर ही आपके व्यवहार की चीज़ों को, वस्त्र-आभूषण आदि वस्तुओंको और सूँघने-खाने आदि की सामग्री को सुरक्षित रखते है न ? आपके भक्त और ईमानदार आदमी ही कोष, भाण्डार, वाहन, द्वार, शस्त्रशाला और आमदनी की देख-भाल और रक्षा करते है न ? आप अन्दरूनी और बाहरी लोगों से अपनी, अपने लोगों से उनकी और उन दोनों से उन दोनों की रक्षा करते रहते है न ? धर्म का सेवन करते समय नौकर लोग मद्य, द्यूत, क्रीड़ा (शिकार आदि) स्त्री आदि के खर्च का हिसाब तो नहीं पेश करते ? आप अपनी आमदनी का आधा, तिहाई या चौथाई हिस्सा खर्च करके ही अपना निर्वाह करते है न ? वृद्ध, सजातीय, गुरुजन, व्यापारी, शिल्पी, आश्रित, दीन-दरिद्र और अनाथ लोगों को धन-अन्न आदि की सहायता, देकर आप उनपर अनुग्रह दिखाया करते है न ? हे राजन् ! आमदनी खर्च का हिसाब रखनेवाले हिसाबी और

कच्चिदर्थेषु संप्रौढान्हितकामाननुप्रियान् ।
नाऽपकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७४ ॥
कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७५ ॥
कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशांपते ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७६ ॥
कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टाः कृषीवलाः ॥ ७७ ॥
कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ७८ ॥
कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्याऽवसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७९ ॥
कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८० ॥
कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८१ ॥

लेखक लोग नित्य दिन के पहर पहर में आपके पास जाकर सब हिसाब दिखा जाते हैं न? ॥६७।७३॥

कार्य करने में चतुर, हित के चाहनेवाले, प्रिय कर्मचारियों को बिना अपराध के आप उनके पद से अलग तो नहीं करते हैं? उत्तम, मध्यम, अधम पुरुषों की जाँच करके आप उन्हें वैसे ही कर्मों में लगाते हैं न? लोभी, चोर, वैरी या व्यवहार की जानकारी में कच्चे मनुष्यों को तो आप अपने यहां कोई काम नहीं देते? आपसे या चोर, लोभी, कुमार और स्त्रियों की प्रबलता से राज्य की प्रजा को पीड़ा तो नहीं पहुँचती? आपके राज्य के किसान तो सुखी और सम्पन्न हैं न? ॥७४।७७॥

राज्य में स्थान स्थान पर जल से भरे बड़े बड़े तालाब और झीलें खुदी हुई हैं न? खेती तो केवल वर्षा के सहारे पर नहीं होती? किसानों के यहां बीज और अन्न आदि की कमी तो नहीं है? आवश्यकता होने पर आप किसानों को साधारण सूद पर ऋण देते रहते हैं न? आपके राज्य में व्यवहार आदि के मुकद्दमों का फैसला भले स्वभाव के न्यायी पुरुष करते हैं न? क्योंकि जिस राजा के यहाँ न्याय होता है वही सुख का भागी होता है। हे राजन्! क्या आपके राज्य में शूर और ज्ञानी पांच मनुष्य पुर-वासियों का पालन, दुर्ग पालन, वणिक पालन, कृषी का देखना भालना और दुष्टों का शासन इन पांच

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८२ ॥
कच्चिद्बलेनाऽनुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चोरा निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८३ ॥
कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ८४ ॥
कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्शेषे न त्वमन्तः पुरे नृप ॥ ८५ ॥
कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशांपते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८६ ॥
कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान्समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ८७ ॥
कच्चिद्रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिन्दम ॥ ८८ ॥
कच्चिद्दण्ड्येषु यमवत्पूज्येषु च विशांपते ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ८९ ॥
कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।

कार्यों में नियुक्त रहकर एक मत से तुम्हारे जनपदों के मंगल का प्रबन्ध करते हैं ॥७८।८१॥

क्या आपने राजधानी की रक्षा के लिये बड़े गाँवों को नगरों के समान और छोटे गाँवों को बड़े गाँवों के समान समृद्धिशाली और सुरक्षित बना रक्खा है? क्या सब नगरों और गाँवों के रहनेवाले लोग आप पर भक्ति रखते हैं? क्या दलबन्धी के साथ चोर तो आपके राज्य के सम-विषम स्थानों और नगरों गाँवों में किसी प्रकार का उपद्रव नहीं मचाते? ॥८२।८३॥

क्या तुम स्त्रियों को ढाढस देकर उनकी रक्षा करते हो? उनकी बातों का विश्वास अथवा उनसे कोई गुप्त बात तो नहीं कह देते? किसी विपत को आती हुई सुनकर उसकी चिन्ता में चन्दन आदि लगाकर अन्त पुर में सो तो नहीं रहते? क्या रात्रि के दूसरे या तीसरे भाग में सुख से सोकर शेष अंश में उठकर धर्म-अर्थ की चिन्ता करते हो? हे पाण्डुपुत्र! क्या उचित समय पर उठकर वस्त्र पहनकर समय के जानकार मंत्रियों के साथ दर्शन चाहनेवाले लोगों से नित्य भेंट करते हो? हे शत्रुमथन! क्या लाल वस्त्र पहने हुए गहनों से सजे लोग, अस्त्र लिये हुए रखवाली के लिये तुम्हारे दोनों तरफ खड़े रहते

मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थाऽपकर्षसि ॥ ९० ॥
कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चाऽनुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ९१ ॥
कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा मानाद्वापि विशांपते ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान्न पश्यसि कथञ्चन ॥ ९२ ॥
कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा विश्रम्भात्प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥ ९३ ॥
कच्चित्पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः ।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथञ्चन ॥ ९४ ॥
कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः ।
मन्त्रेण बलवान्कच्चिदुभाभ्यां च कथञ्चन ॥ ९५ ॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्त्वदर्थेषु सन्त्यजन्ति त्वया हृताः ॥ ९६ ॥
कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा ।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥ ९७ ॥

है ? क्या दण्ड योग्य, पूजा योग्य, प्रिय और अप्रिय सब को जाचकर यमराज की भांति ठीक ठीक व्यवहार करते हो ॥८४।९०॥

हे पृथापुत्र ! क्या तुम नियम और ओषधि शारीरिक पीड़ा और वृद्ध के उपदेश से मानसिक पीड़ा से बचते हो ? निदान और चिकित्सा में ज्ञानी और प्रेमी वैद्य सदा तुम्हारी रक्षा तो करते हैं ? हे प्रजापालक ! ऐसा तो कभी नहीं होता कि वादी और प्रतिवादियों के आने पर अभिमान व लोभ मोह से उनके कार्य में उचित ध्यान न देते हो, विश्वास या प्रेम से तुम्हारी शरण लेते हैं तुम लोभ से उनकी वृत्ति तो नहीं छुटाते ? ॥९१।९३॥

तुम्हारे पुरवासी और राज्यवासी जन विपक्षियों का धन खाकर मिलकर तुमसे कोई विरुद्ध व्यवहार तो नहीं करते ? हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे दुर्बल शत्रु तुम्हारे बल से और प्रबल तन्त्र वा मन्त्र और बल दोनों से दबे तो रहते हैं ? क्या बड़े बड़े भूपाल तुम्हारे प्रेमी हैं और तुमसे आदर पाकर तुम्हारे मंगल के लिये प्राण दे देने को कटिबद्ध रहते हैं ? तुम सब विद्याओं में गुण के अनुसार ब्राह्मण और साधुओं को पूजते तो हो क्योंकि इनकी पूजा तुम्हारे लिये मंगलदाई है। पुरषाओं के लिये वेदमूलक धर्म कर्म में तुम्हारी भक्ति तो बनी है, वे जैसा करते थे तुम भी वैसा करने का प्रयत्न करते हो ? गुणशाली ब्राह्मण तुम्हारे सामने

कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः ।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन्कर्मणि वर्तसे ॥ ९८ ॥
कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः ।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाऽध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ९९ ॥
कच्चित्क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः ।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ १०० ॥
कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्दैवतांस्तापसानपि ।
चैत्यांश्च वृक्षान्कल्याणान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ १०१ ॥
कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वेऽनुतिष्ठति ॥ १०२ ॥
कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ १०३ ॥
एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति ।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ १०४ ॥
कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि ।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥ १०५ ॥
दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०६ ॥

नित्य स्वादिष्ट और गुणकारी भोजन करते वा दक्षिणा पाते हैं कि नहीं? क्या तुम जितेन्द्रिय होकर एकचित्त से वाजपेय और पुण्डरीक आदि यज्ञों को पूरा करते हो? ॥९९।१००॥

वृद्ध, ज्ञाति, गुरु, देवता, तपस्वी, चैत्य, वृक्ष और ब्राह्मणों को नमस्कार तो करते हो? हे अनघ! तुम किसी को शोक या क्रोध तो नहीं उपजाते? क्या पुरोहितादि मंगलकारी पुरुष तुम्हारे पास रहकर स्वस्त्ययन करते हैं? मैंने आयु और यश बढ़ानेवाली, और धर्म-अर्थ का फल देनेवाली जैसी बुद्धि और क्रिया की बात कही, क्या तुम्हारी बुद्धि और क्रिया वैसे ही है? जो ऐसी बुद्धि से चलते हैं उनका राज्य कदापि नहीं बिगड़ता, और वे राजा सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर बड़े सुखी होते हैं। हे नरश्रेष्ठ! मूर्खों से मेल करते हुए अनजान मन्त्री लोभवश होकर किसी शुद्धचित्त दोषरहित श्रेष्ठ जन पर झूठ-मूठ चोरी का कलङ्क लगाकर सब लूटकर उसको मारते तो नहीं? और समझ बूझकर किसी सचमुच चोरी करनेवाले दुष्ट चोर को चुराये मालसहित पकड़कर उस माल के लोभ से छोड़ तो नहीं देते? ॥१०१।१०६॥

उत्पन्नान्कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत ।
अर्थान्न मिथ्या पश्यन्ति तवाऽमात्या हृता धनैः ॥ १०७ ॥
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ १०८ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्याऽपरिरक्षणम् ॥ १०९ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥ ११० ॥
कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम् ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् । १११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥ ११२ ॥

नारद उवाच—अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः ।
पप्रच्छाऽनन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ११४ ॥

हे भारत ! तुम्हारे मन्त्री लोग लोभ में पड़कर धनी और दरिद्र के झगड़ा होने पर अनुचित विचार तो नहीं करते। नास्तिकता, असत्य, क्रोध, अनवधानता, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों से न मिलना, आलस्य, विषय लोलुपता, हर बातों में आसक्ति, अर्थ न जानने वाले लोगों से विचार करना, समझे बूझे कार्य का प्रारम्भ न करना, मन्त्रणा न रखना, मङ्गल कार्य में हाथ न डालना, और बिन समझे बूझे हर काम में हाथ डालना, राजाओं के ये चौदह दोष तो त्याग देते हो ? जड़ दृढ़ होने पर भी राजा लोग इन दोषोंसे बहुधा बिगड़ जाते हैं। हे महाराज ! तुम्हारा वेदपठन, धन, स्त्रीलाभ और शास्त्रज्ञान ये सब तो सफल हुए हैं ? नारद के ये बहुमूल्य वचन सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा—हे तपोधन ! वेद, धन, स्त्रियां और वेदशास्त्रों का अनुभव किसतरह सफल होता है ? ॥१०७।११२॥

नारद जी ने कहा—अग्निहोत्रादि कर्म करने से वेद सफल होते हैं। दान और भोग करने से धन सफल होता है। कामवृद्धि के शमन से और पुत्र उपजाने से स्त्रीलाभ सफल होता है, और सुशीलता तथा सदाचार लाभ करने से शास्त्रज्ञान सफल होता है। वैशम्पायन ने कहा कि महातपस्वी नारद मुनि

नारद उवाच—कच्चिदभ्यागता दूराद्वणिजो लाभकारणात् ।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥ ११५ ॥
कच्चित्ते पुरुषा राजन्पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥ ११६ ॥
कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः ।
नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ॥ ११७ ॥
कच्चित्ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयेते मधुसर्पिषी ॥ ११८ ॥
द्रव्योपकरणं किंचित्सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ्नियतं संप्रयच्छसि ॥ ११९ ॥
कच्चित्कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥ १२० ॥
कच्चित्सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥ १२१ ॥
कच्चिदभ्यस्यते सम्यग्गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥ १२२ ॥
कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।

ने फिर धार्मिकवर युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज ! लाभ की आशा से दूर देश से आये हुए वैपारियों और सौदागरों से कर लेनेवाले राजकर्मचारी उचित कर तो लेते हैं न ? ये सब व्यापारी और सौदागर तुम्हारे नगर और राज्य में सम्मानित होकर और ठगे न जाकर बिक्री की सामग्री तो ला सकते हैं ? ॥११३।११६॥

तुम एकाग्र होकर धर्म-अर्थ का ठीक ज्ञान रखनेवाले वृद्ध पुरुषों के, धर्म-अर्थ के बारे में उपदेश सुनते रहते तो हो ! खेती, गाय, फूल, फल, धर्म आदि की उन्नति के लिए ब्राह्मणों को घृत-मधु देकर तुम सन्तुष्ट रखते तो हो ! हे महाराज ! तुम सब समय में सब प्रकार के शिल्पियों को चार महीने भले प्रकार ठहराये हुए वेतन और बनाने की सामग्री तो देते हो ? क्या शिल्पियों का किया हुआ कार्य जान लेते हो और उनका सत्कार करते हो ? ।११८।१२०।

हे भरतश्रेष्ठ ! हाथी, घोड़े, रथ आदि के शुभाशुभ लक्षणों के ग्रन्थों का अध्ययन तुम्हारे घर होता है ? हे भारतनंदन ! धनुर्वेदसूत्र नगर हितकारी यंत्रों की शिक्षा के सब ग्रंथ तुम्हारे यहां पढ़े जाते हैं या नहीं ? हे अनघ ! मन्त्र सहित सब प्रकार शास्त्र, ब्रह्मदण्ड अर्थात् आभिचारिक विद्या और विष देने के सब उपाय यह सब शत्रुनाशी विषय तो तुम जानते हो !

विपयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥ १२३ ॥
कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात्तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥ १२४ ॥
कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून्व्यङ्गानवान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ १२५ ॥
पडनर्था महाराज कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधो मार्दवं दीर्घसूत्रता ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः कुरूणामृषभो महात्मा श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य ।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो राजाऽब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२७॥

युधिष्ठिर उवाच—एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं प्रज्ञा हि मे भूय एवाऽभिवृद्धा ।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा लेभे महीं सागरमेखलां च ॥१२८॥

नारद उवाच—एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ १२९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने कच्चिदध्यायो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

तुम अग्नि सर्पादि के हिंसक जन्तु और रोग राक्षसों से उपजे भय से अपनी प्रजा को बचाते तो हो ? हे धर्मज्ञ ! अंधे, गूंगे, लूले, देहफूटे बिन बन्धु और सन्यासियों को उनके पिता की भाति बनकर पालते तो हो ? निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, ढिलाई और दीर्घसूत्रता अनर्थ करनेवाले इन छ दोषों को दूर तो किया है ? ॥१२३।१२६॥

वैशम्पायन कहते हैं कि तब महात्मा युधिष्ठिर, ब्राह्मणश्रेष्ठ देवरूप नारद के ये वचन सुनकर, उनके पांव छूकर प्रसन्नता से बोले हे भगवन् ! आपके इस उपदेश के अनुसार ही मैं सब काम करूँगा। आपके इन वचनों को सुनकर मेरी बुद्धि और भी परिमार्जित होकर बढ़ गई। हे राजा जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर ने नारद के आगे प्रतिज्ञा की और आगे उसी के अनुसार उन्होंने काम भी किये। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में वे समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के अधीश्वर होकर सुखी हुए। नारद जी ने युधिष्ठिर से कहा-हे महाराज ! जो राजा इस तरह के आचरणों से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की और चारों वर्णों की रक्षा करता है वह इस लोक में सुखी होकर अन्त को इन्द्रलोक में जाता है। ॥१२७।१२९॥

सभापर्व का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच- संपूज्याऽथाऽभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात्परम् ।
प्रत्युवाचाऽऽनुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
भगवन्न्याय्यमाहैतं यथावद्धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥
राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥
वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो ।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच- तं तु विश्रान्तमालक्ष्य देवर्षिममितद्युतिम् ।
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ।
मुहूर्तात्प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ॥ ५ ॥
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अपृच्छत्पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— भवान्संचरते लोकान्सदा नानाविधान्बहून् ।
ब्रह्मणा निर्मितान्पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ७ ॥
ईदृशी भविता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित् ।

छठा अध्याय ॥ ६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि राजन्, महर्षि नारद के यह कह चुकने पर, यथोचित सम्मान करके, उनके प्रश्नों के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन्! मैं आपके बताये हुए इन धर्ममूलक न्यायपूर्ण उपदेशों के अनुसार ही चलता रहता हूं। न्याययुक्त और अर्थ-मङ्गल काम करते समय, पहले के राजा अपने आचरणों से जो मार्ग दिखा गये हैं उसी राह पर चलने में, अपनी ओर से मैं तनिक भी त्रुटि नहीं होने देता। हे प्रभो! हम लोग उन जितेन्द्रिय पुरुषों के सन्मार्ग पर जाना चाहते हैं, किन्तु उनके समान जितेन्द्रिय न होने के कारण सोलहों आने उनका अनुसरण नहीं कर सकते ॥१।४॥

वैशम्पायन जी जनमेजय से कहते हैं कि महर्षि नारद के कुछ विश्राम कर चुकने पर फिर सभा के बीच उनका सत्कार करके उचित समय पर युधिष्ठिर ने उनसे कहा—हे भगवन्! आप सब जगह जा सकते हैं और विधाता के बनाये लोक-लोकान्तरों में घूमते और उनकी सैर किया करते हैं। मैं पूछता हूँ कि आपने कहीं हमारी इस अपूर्व सभा के समान या इससे अच्छी कोई सभा देखी है या नहीं! यदि

इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम् ।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

नारद उवाच—मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन्यथेयं तव भारत ॥ १० ॥
सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः ।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ ११ ॥
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम् ।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः ।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः ॥ १३ ॥
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ।
नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ॥ १५ ॥
सभाः कथय ताः सर्वा श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।
किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन्किंविस्तारा: किमायताः॥ १६ ॥

दगी हो तो उसका वर्णन करके आप हमें कृतार्थ कीजिए ॥५।८॥

यह सुनकर मुसकराते हुए महर्षि नारद ने मधुर वचनों से कहा—हे नरश्रेष्ठ ! आपके इस मणिमयी अद्भुत सभा की समता करनेवाली दूसरी सभा इस मनुष्य लोक में मैंने नहीं देखी सुनी। यदि आप सुनना चाहते हैं तो मैं आपके आगे पितृराज यम, बुद्धिमान् वरुण, देवराज इन्द्र और कैलासवासी यक्षराज कुबेर की सभा का वर्णन करता हूँ। लौकिक और अलौकिक कारीगरियों से भूषित, सब क्लान्ति और कष्टों से रहित, विश्वरूपिणी ब्रह्मा की जो दिव्य सभा है उसका वर्णन मैं तुम्हारे आगे करूँगा॥९।१३॥

उस सभा में देवता, पितर, साध्य और जितेन्द्रिय-शान्तचित्त-वेदपाठी-यज्ञनिरत मुनि लोग रहते हैं। महर्षि नारद के ये वचन सुनकर भाइयों और ब्राह्मणों सहित महात्मा युधिष्ठिर ने हाथ जोड़कर कहा-हे भगवन् ! आप इन सब सभाओं का वर्णन कीजिए, मैं सुनना चाहता हूँ। ये सभाएँ कितनी लम्बी और कितनी चौड़ी हैं ? इनमें क्या-क्या सामग्री है ? इन सभाओं में पितामह ब्रह्मा, इन्द्र, यमराज, वरुण और कुबेर की उपासना कौन लोग करते हैं ? कृपया आप इन सभाओं का वर्णन करके हमारे कौतूहल को दूर

पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ।
वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के ॥ १७ ॥
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ।
एतत्सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव ।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १८ ॥
एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत ।
क्रमेण राजन्दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नःसभाः ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

कीजिए। इस प्रकार युधिष्ठिर के प्रार्थना करने पर, उनका आग्रह देख, नारद ने कहा—हे राजन्! मैं एक-एक करके इन सब दिव्य सभाओं का वर्णन करता हूं, सुनिए ॥१३।१९॥

सभापर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

नारद उवाच—शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्मिताऽर्कसमप्रभा ॥ १ ॥
विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता ।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥
जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा ।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥
तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने ।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ॥ ४ ॥

नारद ने कहा—हे कुरुनन्दन! इन्द्र जी की सभा अत्यन्त प्रकाशमान है। उन्होंने अपने किये हुए पुण्यकर्मों के फल से उसको प्राप्त किया है। वह अर्क के समान प्रकाशमान दिव्य सभा उन्होंने स्वयं बनाई है। वह रमणीय, आकाशचारिणी सभा बुढ़ापा, शोक, थकान, चिन्ता आदि व्याधियों को दूर करती है। वह भयरहित, शान्ति के देनेवाली, मङ्गलमयी, बहुमूल्य आसनों और ऊँचे विमानों से शोभित है। उस सभा में अत्यन्त सुन्दर वृक्ष लगे हुए हैं। वह जहाँ चाहे वहाँ जा सकती है। वह सभा डेढ़ सौ योजन लम्बी, सौ योजन चौड़ी और पाँच योजन ऊँची है। उस सभा में देवनाथ इन्द्र केयूर लिए, किरीट निर्मल वस्त्र और सुन्दर माला पहने, अति रूपवान अपनी पत्नी शची शोभा सम्पत्ति

विभ्रद्वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः ।
विरजोम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिःसह ॥ ५ ॥
तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम् ।
मरुतः सर्वशो राजन्सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥
सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा ।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥
तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते ।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाऽग्नयः ॥ ९ ॥
तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः ।
पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौराशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥ ११ ॥
पवित्रपाणि सावर्णियाज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ॥ १३ ॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरु ॥ १४ ॥

श्री द्युति और कीर्तिसहित परम उत्कृष्ट आसन पर विराजमान हैं। वह मरुद्गण उस सभा में महात्मा इन्द्र की सदा उपासना करते हैं। सिद्धगण, साध्य गण, देवर्षिगण, देवगण और सुवर्णमाला पहने मरुद्गण दिव्यरूपवाले गहने पहने अपने-अपने साथियों के साथ शत्रुदमन महाराज देवराज की उपासना करते हैं॥१०॥

हे पार्थ ! अमल निष्पाप अग्नि समान उजाले, तेजस्वी सोम पीनेवाले, बुढ़ापा और शोकसे रहित देवर्षिगण और पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, गौरशिरा, क्रोधी दुर्वासा, श्येन, दीर्घतमा, पवित्रपाणि, सावर्णि, याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पाराशर्य (व्यास),

अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥
सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक्चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १६ ॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चाऽत्र महातपाः ॥ १७ ॥
कक्षीवान्गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्व नरो मुनिः ।
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥ १८ ॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
कण्व कात्यायनो राजन्गार्ग्यःकौशिक एव च ।
दिव्या आपस्तथौषध्यःश्रद्धा मेधा सरस्वती ॥ १९ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहास्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २० ॥
प्राची दिग्यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सविताऽर्यमा ॥ २१ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २२ ॥

कृपीबल, वातस्कंध, विशाख, विधाता, काल, कराल-दन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा, तुम्बुरु तथा योनिज, अन योनिज, वायु भक्षी, आहुति-भोजी आदि सर्व प्रकार के देवता उस सभा में त्रिलोकीनाथ इन्द्र की सेवा में रहते है ॥१०।१५॥

इस सभा में सहदेव, सुनीथ, महातपस्वी बाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपा स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, महर्षि वैश्वानर, कालक, वृक्षीय, आश्राव्य, हिरण्मय, सवर्त्त, देवहव्य, वीर्यवन्त विश्वक्सेन, दिव्य जल और सर्व प्रकार की औषधियाँ विद्यमान रहती है। श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, धर्म, अर्थ, काम, विद्युत, जलधर मेघ, वायु, बिजली की कडक, पूर्व दिशा, यज्ञ पूरा करनेवाले सत्ताईस अग्नि*, अग्नि-सोम, इन्द्राग्नि, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वेदेवगण, साध्यगण, बृहस्पति, शुक्राचार्य,

* १ ब्रह्मा के अङ्ग से उत्पन्न अङ्गिरा, २ दक्षिणाग्नि, ३ गार्हपत्य, ४ आहवनीय, ५ निर्मन्थ, ६ वैद्युत, ७ शूर, ८ सवर्त्त ९ लौकिक, १० जाठर, ११ विषग, १२ क्रव्याद, १३ क्षेमवान्, १४ वैष्णव, १५ दस्युमान्, १६ बलद, १७ शान्त, १८ पुष्ट, १९ विभावसु, २० ज्योतिष्मान्, २१ भरत, २२ भद्र, २३ स्विष्टकृत, २४ वसुमान्, २५ क्रतु २६ सोम, २७ पितृमान्।

यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैवं ग्रहास्तोमाश्च भारत ।
यज्ञवाहाश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २३ ॥
तथैवाऽप्सरसो राजन्गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २४ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।
स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २५ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।
ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाऽग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ॥ २७ ॥
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चाऽन्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन्भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ २९ ॥
एषा सभा मया राजन्दृष्टा पुष्करमालिनी ।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन और तरुण, सब यज्ञ, दक्षिणा, सब सोमपात्र, सब स्तोम नाम के स्तोत्र विशेष, और यज्ञों के सब मन्त्र इन्द्र की सभा में उपस्थित रहते हैं ॥१८।२३॥

वहाँ तरह-तरह के नाच, गीत, बाजे और हास परिहास द्वारा मङ्गल स्तुति सुनाकर तथा विक्रम का बखान करके सुन्दरी अप्सराएँ और विविध गन्धर्व लोग इन्द्रदेव का मनोरञ्जन किया करते हैं। दिव्य माला और वस्त्र पहने तेजस्वी ब्रह्मर्षिगण, अग्नि के समान प्रज्वलित, राजर्षिगण और देवर्षिगण चन्द्रमा के जैसे दिव्य विमानों पर चढ़कर सदा उस सभा में आया जाया करते हैं। बृहस्पति और शुक्र वहाँ नित्य रहते हैं। हे महाराज! चन्द्रमा के समान मनोहर कान्ति और ब्रह्मा के समान तेज से अलंकृत ये लोग, और और महात्मा लोग, भृगु और सप्त-ऋषि सदैव वहाँ आया करते हैं। यह इन्द्र की 'पुष्कर मालिनी' सभा मैंने कई बार अपनी आँखों से देखी है। अब यमराज की सभा का वर्णन भी करता हूँ, सुनिए ॥२४।३०॥

सभापर्व का सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नारद उवाच— कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम् ।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥
तैजसी सा सभा राजन्बभूव शतयोजना ।
विस्ताराऽऽयामसंपन्ना भूयसी चाऽपि पाण्डव ॥ २ ॥
अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी ।
नाऽतिशीता न चाऽत्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥
न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाऽप्रियम् ।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥
सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः ।
रसवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिन्दम ॥ ५ ॥
लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम् ।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तस्यां नित्यं कामफला द्रुमाः ॥ ६ ॥
रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव हि ।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते ।
ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥

आठवां अध्याय ।

नारद जी ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! अब मैं तुम से सूर्य के पुत्र यमराज की सभा का वर्णन करता हूँ; एकाग्र होकर सुनो। हे पाण्डवश्रेष्ठ! इन्द्र की सभा के समान वह सभा भी शोभा से पूर्ण और कामरूपिणी है। उस सभा को विश्वकर्मा ने बनाया है। और वह तेजमय और सौ-सौ योजन लम्बी और चौड़ी है। प्रकाश उस सभा का सूर्य के समान है। उसमें न बहुत गर्मी है न सरदी। वहाँ जाने से मन बहुत प्रसन्न हो जाता है और उसमें रहने से न शोक होता है न बुढ़ापा व्यापता है और भूख प्यास कुछ नहीं लगती। और वहाँ के रहनेवालों में दीनता, ग्लानि और प्रतिकूलता नहीं होती है। उस सभा में सब देवी और मानुषी पदार्थ और भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य और पेय आदि बड़े-बड़े प्रिय स्वादिष्ट खाने के पदार्थ रहते हैं। और वहां ऐसे-ऐसे वृक्ष लगे हुए हैं कि जिस फल की इच्छा होवे वही फल उनमें प्राप्त हो जाता है ॥१।६॥

ठंढा, गरम दोनों प्रकार का जल वहां भरा रहता है। उस सभा में बड़े बड़े राजर्षि और पवित्र स्वभाववाले ब्रह्मर्षि यमराज की उपासना किया करते

त्रसद्दस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः ।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ।
प्रतर्दनः शिविर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः ॥ ९ ॥
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ।
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः ॥ १० ॥
भारतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठोऽनलः ।
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः ॥ ११ ॥
व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पृथुवेगः पृथुश्रवाः ।
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः ।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १२ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाऽप्युशीनरः ।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ॥ १३ ॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः ।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १४ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान्मधुः ।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान्पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनो तथा ।
व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ १६ ॥
रामो दाशरथिश्चैव लक्ष्मणोऽथ प्रतर्दनः ।

हैं। हे राजन्! ययाति, नहुष, पुरु, मान्धाता, राजा सोमक, नृग, त्रसद्दस्यु, कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमी, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिवि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त मरुत्त, कुशिक, साङ्काश्य, साङ्कृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, कार्तवीर्य, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, अनल, दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्र्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, बलवान् क्षुप, रुषद्गु, वृषसेन, पुरुकुत्स, ध्वजी रथी, ॥७।१२॥

आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अङ्ग, रिष्ट, वेन, दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषध, वहीनर, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, बली मधु, ऐल, राजा मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, सहस्रबाहु अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, शशबिन्दु दशरथ के पुत्र रामचन्द्र, लक्ष्मण, प्रतर्दन, अलर्क, कक्षसेन, गय,

अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १७ ॥
जामदग्न्योऽथ रामश्च नाभागसगरौ तथा ।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १८ ॥
राजा वैन्यो वारिसेनः पुरुजिज्जनमेजयः ।
ब्रह्मदत्तास्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ १९ ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः ।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २० ॥
अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा ।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाःशतं हयाः ॥ २१ ॥
धृतराष्ट्रश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः ।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम् ॥ २२ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम् ।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ॥ २३ ॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः ।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २४ ॥
उशंगवः शतरथो देवराजो जयद्रथः ।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान्सह मन्त्रिभिः ॥ २५ ॥
अथाऽपरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः ।
इष्ट्वाऽश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २६ ॥

गौराश्व, जमदग्नि के पुत्र परशुराम, नाभाग, सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा वैन्य,वारिसेन पुरुजित्, जनमेजय,ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, मत्स्यवंश के सौ नरेश, नीपवंश के और हयवंश के सौ राजा, धृतराष्ट्र नाम के सौ राजा, जनमेजय नाम के अस्सी राजा, ब्रह्मदत्त नाम के सौ राजा, ईरिण नाम के सौ राजा, वीरि नाम के सौ राजा, भीष्म नाम के दो सौ से अधिक राजा, भीम नाम के सौ राजा, प्रतिविन्ध्य नाम के सौ राजा, नाग नाम के सौ राजा, हय नाम के सौ राजा, पलाश नाम के सौ और काश और कुश आदि नामों के सौ-सौ दिव्य मनुष्य, राजेन्द्र शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, ॥१३।२४॥

उशङ्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, वृषदर्भ, शशिबिन्दु और अन्य हजारों राजा लोग जो अश्वमेध आदिक बड़े-बड़े यज्ञ करके वहां गये हैं सब उसी

एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २७ ॥
अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च ।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २८ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये ।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथाऽपरे ॥ २९ ॥
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान्हव्यवाहनः ।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३० ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ॥ ३१ ॥
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ।
एते चाऽन्ये च बहवः पितृराजसभासदः ॥ ३२ ॥
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ।
असंबाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा ॥ ३३ ॥
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ।
ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत ।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३४ ॥
शान्ताःसंन्यासिनःशुद्धाःपूताःपुण्येन कर्मणा ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ॥ ३५ ॥

सभा में यमराज की उपासना किया करते है । ॥२५।२७॥

इस सभा में मूर्तिमान् मृत्यु, अगस्त्य, मतङ्ग, काल, यज्ञ करनेवाले कर्म काण्डी, सिद्धगण, योगी लोग, अग्निष्वात्ता, फेनप, ऊष्मप, स्वधावान्, बर्हिषद और अन्य पितृगण, कालचक्र, साक्षात् भगवान् अग्नि, दक्षिणायन सूर्य में मरे हुए दुष्ट कर्म करनेवाले मनुष्य, यमराज के दूत, शिंशिप, पालाश, काश, कुशा आदि सब यमराज की उपासना करते है। पितृपति यमराज के इतने सभासद है कि उनके नामों और कर्मों का वर्णन करके उनकी गिणती नहीं की जा सकती। चाहे जहाँ जा सकनेवाली उस सौ योजन की लम्बी-चौड़ी सभा को विश्वकर्मा ने बहुत दिनों तक तपस्या करके बनाया है ॥२८।३३॥

वह सभा अपने प्रकाश से अग्नि के समान चमकती है। उस सभा में उग्रतपस्वी, सुन्दर व्रती और सत्यवादी शांत सन्यासी पुण्यकर्मों के करनेवाले और शुद्ध मनुष्य दिव्य देह धारण करके और उजले

चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः ।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ॥ ३६ ॥
गन्धर्वाश्च महात्मानः संघशश्चाऽप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥ ३७ ॥
पुण्याश्च गन्धाःशब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः ।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥
शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ३९ ॥
ईदृशी सा सभा राजन्पितृराज्ञो महात्मनः ।
वरुणस्याऽपि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

उजले वस्त्र बाजूबन्द जड़ाऊ माला और ज्वलित कुण्डल आदि से भूषित हो-होकर जाते हैं। वहां गन्धर्व और अप्सराओं के गण नृत्य, गीत, हास्य और रहस्य किया करते हैं। पवित्र सुगन्ध सबके चित्त को प्रसन्न किया करती है। मधुर पवित्र शब्द कानों को तृप्त करते रहते हैं। दिव्य मालाएँ सभा-भवन की शोभा बढ़ाया करती हैं। सभा में सहस्रों धर्मात्मा दिव्य रूपवाले महात्मा यमराज की उपासना किया करते हैं। हे महाराज! यह मैंने यमराज की सभा का वर्णन किया है; अब वरुण की पुष्कर-मालिनी सभा का वर्णन भी सुनिए ॥३५।४०॥

सभापर्व का आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

नारद उवाच—युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्याऽमितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभ्रप्राकारतोरणा ॥ १ ॥
अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥

नारद जी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर! वरुण की सभा भी यमराज की सभा के समान सौ योजन की है। वह बहुत ही प्रकाशमान है। उसकी दिव्य चहारदीवारी है और उसमें बढ़िया फाटक लगे हुए हैं। विश्वकर्मा ने उसे जल के भीतर बनाया है। उसमें दिव्य रत्नमय वृक्ष लगे हुए हैं। वे वृक्ष मञ्जरियों और नीले, पीले, सफेद, लाल आदि रङ्ग के फूलों और फलों से लदे हुए हैं। कुञ्ज और लता-वितान उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वहाँ सहस्रों प्रकार के मधुर बोलियाँ बोल रहे विचित्र पक्षी कल्लोलें किया करते

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥
तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः ।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥
सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥
यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥
स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः ।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥
वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
मणिमान्कुण्डकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ ९ ॥
पाणिमान्कुण्डधारश्च बलवान्पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ।
एते चाऽन्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

हैं। उस सभा में जानेवाले को तत्काल एक प्रकार का अद्‌भुत आनन्द प्राप्त होता है। वह सभा न तो अत्यन्त ठण्डी है न अत्यन्त गर्म। वह सभा परम रमणीय ओर सब ऋतुओं में आराम देनेवाली है। वह श्वेत वर्ण की है। और उसमें बहुत श्रेष्ठ श्रेष्ठ आसन बिछे हुए हैं। उत्तम वस्त्र और गहने पहने हुए वरुण देवता अपनी स्त्री वारुणी देवी के साथ उस सभा में एक श्रेष्ठ आसन पर विराजते है ॥१।७॥

दिव्य मालाधारी, दिव्य चन्दन आदि गन्धद्रव्यों से शोभित आदित्यगण उस सभा में जलेश्वर वरुण की उपासना करते है। हे महाराज! वासुकि, तक्षक, ऐरावत, कृष्ण, लोहित, पद्म, चित्र, कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिमान्, कुण्डक, कर्कोटक, धनञ्जय, पाणिमान्, कुण्डधार, प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय, पताकी, मंडली फणधारी आदि नागगण और अन्य अनेक सर्प आनन्द के साथ उस सभा में उपस्थित होकर नित्य विधिपूर्वक वरुण की उपासना किया करते है ॥८।११॥

उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ।
बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिविंजयः ॥ १२ ॥
संह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ।
सुहनुर्दुर्मुखः शङ्खः सुमनाः सुमतिस्ततः ॥ १३ ॥
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ।
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ॥ १४ ॥
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ।
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्लादश्चेन्द्रतापनः ॥ १५ ॥
दैत्यदानवसंघाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ।
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ॥ १६ ॥
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ।
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ॥ १७ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ।
तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ॥ १८ ॥
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ।
विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ॥ १९ ॥
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ।
गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ॥ २० ॥
किंपुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी ।

हे राजन् ! विरोचन का पुत्र राजा बलि, दिग्विजयी नरकासुर, संह्लाद, विप्रचित्ति, कालखञ्ज नाम के दानव, सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशग्रीव, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्लाद और इन्द्रतापन आदि अनेक दैत्य और असुर जो दिव्य पोशाक, कुण्डल, माला और मुकुट धारण किये हुए हैं और बड़े शूरवीर मृत्यु से मुक्त बड़े धनी और वरदान पाये हुए उस सभा में धर्मपाशधारी वरुण के समीप बैठकर उसकी सेवा किया करते हैं। अमित वीरता से युक्त ये सब दानव तपस्या से सिद्ध होकर अमर होने का वर पा चुके हैं। हे महाराज ! चारों समुद्र, पवित्र जलवाली गंगा नदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, बड़े वेग से बहनेवाली नर्मदा, विपाशा, शतद्रू, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती वितस्ता, सिंधु, देवनदी, गोदावरी, कृष्णवेणा, कावेरी, ॥१२।२०॥

किम्पुना, विशल्या, वैतरणी, तृतीया, ज्येष्ठिला,

तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चाऽपि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २१ ॥
सरयूर्धारवत्या च लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथाऽऽत्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥ २२ ॥
लङ्घती गोमती चैव सन्ध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।
एताश्चाऽन्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥ २३ ॥
सरितः सर्वतश्चाऽन्यास्तीर्थानि च सरांसि च ।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २४ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत ।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा ।
गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २६ ॥
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते ।
महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥
कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते ।
वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २८ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च ।
सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २९ ॥
एषा मया संपतता वारुणी भरतर्षभ ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

महानदी शोण, चर्मण्वती, महानदी पर्णाशा, सरयू, धारवत्या, लाङ्गली, करतोया, आत्रेयी, लौहित्य नाम महानद, लङ्घती, गोमती, सन्ध्या, त्रिस्रोतसी, और-और नदियाँ और तीर्थ और सरोवर, कूप, झरना, तडाग, दिशा, पृथ्वी, सब पहाड़ और सब जलचर जीव अपने-अपने दिव्य स्वरूपों को धारण किये हुए वरुण की सभा में बैठकर वरुण की उपासना किया करते हैं। गाने-बजाने में निपुण गन्धर्वों और अप्सराओं के झुण्ड के झुण्ड वरुण देव की स्तुति करते हुए उस सभा में उपस्थित रहते हैं। और मधुर-मधुर [illegible] उत्पन्न करनेवाले पर्वत भी वहाँ उपस्थित रहकर [illegible] कथाएँ सुनाकर वरुण देव का मनोरञ्जन करते हैं।

अपने पुत्र पौत्रों और गो नामक पुष्कर के साथ वरुण देव का मन्त्री सुनाभ भी उनकी सेवा में उपस्थित रहता है। हे युधिष्ठिर ! मैंने लोकों में घूमते-घूमते उस सभा में जाकर उन सब लोगों को शरीरधारी होकर वरुण देव की उपासना करते देखा है। अब तुम कुबेर की सभा का वृत्तान्त भी सुनो ॥२१।३०॥

सभापर्व का नवमां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

नारद उवाच—सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता ।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥
तपसा निर्जिता राजन्स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभाप्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥
गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥
महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ॥ ४ ॥
दिव्यैर्हेममयै रङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता ।
तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ॥ ५ ॥
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ।
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते ॥ ६ ॥
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ।

दसवां अध्याय ॥ १० ॥

नारद जी कहते हैं—हे राजा युधिष्ठिर ! यक्षराज कुबेर की सभा सौ योजन लम्बी और सत्तर योजन चौड़ी है। अपने तप के प्रभाव से उन्होंने वह सभा स्वयं प्राप्त की है। कैलास पर्वत के शिखर के समान उस सभा की उज्ज्वल निर्मल कान्ति चाँदनी से भी बढ़कर शोभायमान और नेत्रों को आनन्द देती है। इस सभा को यक्ष लोग वहन करते हैं, इस कारण वह आकाश में लगी हुई सी जान पड़ती है। वह दिव्य सभा सुवर्णभूषित ऊँचे-ऊँचे भवनों से शोभित है। पवित्र गन्ध से पूर्ण और सभी देखनेवालों के मन को मुग्ध बना देनेवाली उस सभा में अनेक बहुमूल्य रत्न जगमगाते हैं, जिससे उसकी अनिर्वचनीय शोभा देख पड़ती है। श्वेत बादलों के समान वह सभा मानों आकाश में चलती हुई सी जान पड़ती है। आँगन में रत्न की चमक पड़ने से वह सभा अनेक बिजलियों की प्रभा से शोभित सी हो रही है। इसी सभा में मणिमय कुण्डल, नाना प्रकार के रत्न और आभूषण और पवित्र श्वेत वस्त्र पहने हुए महाराज कुबेर बड़े दिव्य आसन पर विराजमान होते हैं। उनके आसपास

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन् ॥ ७ ॥
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ।
नलिन्याश्चाऽलकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥
तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥
मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ।
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ॥ १० ॥
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ।
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ॥ ११ ॥
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ॥ १२ ॥
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
किंनरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १३ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ।
कशेरको गण्डकण्डूः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १४ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ।

सहस्रों सुन्दर स्त्रियाँ उपस्थित रहती है। आसन के ऊपर दिव्य कोमल बिछौना बिछा हुआ है, नीचे पैर रखने को चौकी रक्खी हुई है। उस सभा में शीतल और मन को आनन्द देनेवाली वायु मंदार आदि सुगन्ध देनेवाले वनों और अलका नाम नलिनी और नन्दनवन की सुगन्ध को लिये हुए चला करती है। और वहा अप्सरा और गन्धर्वों के गण देवताओंसहित दिव्य तानों से गाया करते है ॥१।९॥

वहां मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता आदि नाचने-गाने में निपुण असङ्ख्य अप्सराएँ और गन्धर्वों की स्त्रियाँ नाच गाकर, बाजे बजाकर तथा अभिनय करके धनपति की उपासना करती है। किन्नर और नर जाति के गन्धर्व, मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र, गुह्यक, कशेरक, गण्ड-कण्डू, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु, पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रौष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिङ्ग-लक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवासी, अनिकेत, चीरवासा

वराहकर्णस्ताम्रौष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १५ ॥
हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १६ ॥
वृक्षवाष्पनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चाऽन्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥ १७ ॥
सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूवरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥ १८ ॥
ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवाऽन्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ।
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ॥ १९ ॥
भगवान्भूतसंघैश्च वृतः शतसहस्रशः ।
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद्भगनेत्रहा ॥ २० ॥
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ।
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ॥ २१ ॥
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ।
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ॥ २२ ॥
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ।
प्रहृष्टाः शतशश्चाऽन्ये बहुशः सपरिच्छदाः ॥ २३ ॥
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हाहा हूहूः ।

आदि हजारों गन्धर्व वहा रहकर कुबेर की उपासना किया करते है ॥१०।१७॥

हे भरतनन्दन ! उस सभा में साक्षात् लक्ष्मी जी विराजमान रहती है। कुबेर नन्दन नलकूबर, मै, मेरे समान अन्य महापुरुष और ब्रह्मर्षि लोग उस सभा का गौरव बढ़ाते है। मासलोलुप राक्षस आदि, और महा बल पराक्रमी अन्य गन्धर्व, सभा में धनद कुबेर की उपासना किया करते है। हे राजन्! महाबली शूल-पाणि उग्रधन्वा पशुपति भग-नेत्र-नाशन भूत-भावन भवानीपति भगवान् शङ्कर, विकट, छोटे आकारवाले, कुबडे लाल लाल आखों से भयङ्कर, घोर नाद करनेवाले, मेदा मास के खानेवाले, अनेक शस्त्र धारण किये, वायु के समान वेग से जानेवाले असङ्ख्य भूतगण प्रमथगण आदि के मध्य में, महिषमर्दिनी सहधर्मिणी अर्धाङ्गिनी भगवती के साथ, प्रिय सखा कुबेर की सभा में सदा विराजमान रहते है ॥१८।२३॥

विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, चित्रसेन, गीतज्ञ, चित्ररथ आदि गन्धर्व प्रसन्नचित से

तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथाऽपरः ॥ २४ ॥
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ।
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ॥ २५ ॥
विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ।
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २६ ॥
[किंनराः शतशस्तत्र धनानामीश्वरं प्रभुम्] ।
आसते चाऽपि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ॥ २७ ॥
द्रुमः किंपुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ।
राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ॥ २८ ॥
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ।
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपासते भ्रातरं प्रभुम् ॥ २९ ॥
हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ।
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ॥ ३० ॥
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ।
एते चाऽन्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ॥ ३१ ॥
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ।
नन्दीश्वरश्च भगवान्महाकालस्तथैव च ॥ ३२ ॥
शङ्कुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ।

यक्षेश्वर कुबेर की उपासना किया करते हैं। अन्य अन्य सैकड़ों किन्नर तथा भगदत्त आदि राजा उस सभा में रहते हैं। किम्पुरुषों का ईश्वर द्रुम, राक्षसों का राजा महेन्द्र और गन्धमादन तथा यक्ष गन्धर्व निशाचर आदि की मण्डलियों के साथ राक्षसराज विभीषण उस सभा में रहते हुए बन्धुराज कुबेर की उपासना करते हैं ॥२४।२९॥

हिमालय, पारियात्र, विन्ध्य, कैलास, मन्दर, मलय, दुर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन, इन्द्रकील, सुनाभ, और सुमेरु आदि पर्वत भी कुबेर की उपासना करते हैं। नन्दीश्वर, भगवान् महाकाल और शङ्कुकर्ण आदि दिव्य पारिषद, काष्ठ,कुटीमुख, दन्ती, तपस्वी विजय,श्वेत रङ्ग का वृषभ,राक्षस और पिशाचगण सदा कुबेर की उपासना करते हैं। पुलस्त्य ऋषि का पुत्र महात्मा कुबेर सदा यक्षों के साथ शङ्कर के पास जाकर उन्हें प्रणाम करता है और सदा उनका आज्ञाकारी रहता है। महादेव भी उसके साथ मित्रभाव से विनोद करते हैं। और मुख्य-मुख्य धनाढ्य शङ्ख

काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजया च तपोऽधिकः ॥ ३३ ॥
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ।
धनदं राक्षसाश्चाऽन्ये पिशाचाश्च उपासते ॥ ३४ ॥
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ।
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ॥ ३५ ॥
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ।
ततोऽभ्यनुज्ञां संप्राप्य महादेवाद्धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद्भगवान्भवो धनपतेः सखा ॥ ३६ ॥
निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान्निधीन्प्रगृह्याऽथ उपास्तां वै धनेश्वरम् ॥ ३७ ॥
सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टाऽन्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन्कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनदसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

पद्म आदि सब निधियों को लेकर कुबेर की उपासना किया करते है। हे युधिष्ठिर ! मैने उस मनोहर और आकाश में स्थित अद्भुत सभा भवन को कई बार देखा है। अब प्रजापति ब्रह्मा जी को सभा का वर्णन करता हूँ, सुनिए ॥३०।३८॥

—'०'—

सभापर्व का दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

नारद उवाच—पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥
पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान्दिवः ।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥

ग्यारहवा अध्याय ॥११॥

नारद जी कहते है—हे राजा युधिष्ठिर ! अब मै ब्रह्मा की उस दिव्य सभा का वर्णन करता हूँ जिसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि उसके समान दूसरा स्थान जगत् में है ही नहीं। [एकाग्र होकर उस दिव्य ब्रह्मसभा का वर्णन सुनिए।] पहले एक समय सत्ययुग में भगवान् आदित्य मनुष्य-लोक की सैर करने को स्वर्ग से पृथ्वी पर आकर मनुष्यरूप से विचर रहे थे। उन्होंने ब्रह्मा जी की सभा देखकर प्रसन्न और विस्मित होकर मुझसे उसका वर्णन इस प्रकार किया। हे नारद ! ब्रह्मा की सभा

चरन्मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयंभुवः ।
स तामकथयन्मह्यं दृष्ट्वा तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥
अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रुवम् ॥ ५ ॥
भगवन्द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम् ।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन्पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥
स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मव्रतमुपास्व त्वं प्रयतेनाऽन्तरात्मना ।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥
ततः स भगवान्सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान् ।
अगच्छत्तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः ॥ १० ॥
एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप ।

अप्रमेय, दिव्य, मानसिक इच्छा से ही निर्मित, सब प्राणियों के मन को रमानेवाली है। उसके प्रभाव और प्रकाश का पूरा-पूरा वर्णन नहीं हो सकता। मैंने उस सभा के गुणों को सुनकर उसके देखने की इच्छा से सूर्य से कहा—हे भगवन्! आपने जिस पाप-ताप-नाशिनी पवित्र ब्रह्मसभा का वर्णन किया, उसे देखने को मेरा बहुत जी चाहता है। कृपा कर कहिए, किस तपस्या, किस कर्म या औषध आदि के फल से वह सभा देखने को मिल सकती है? ॥२।७॥

यह सुनकर सूर्य ने मुझसे कहा—हे तपोधन! यदि यह सभा देखने की तुम्हारी बड़ी ही इच्छा है तो चित्त को एकाग्र करके एक हजार वर्ष में समाप्त होनेवाला ब्राह्म व्रत करो; तभी तुम्हारा मनोरथ सफल हो सकेगा। हे महाराज! यह सुनकर मैं ब्राह्म-व्रत का अनुष्ठान करने के लिये हिमालय पर्वत पर गया। वहाँ सूर्यदेव की उस बतलाई हुई विधि के अनुसार ही मैंने वह व्रत आरम्भ कर दिया। उसके समाप्त होने पर मैं, सूर्यदेव के साथ, बहुत दिनों से जिसे देखने की लालसा लगी हुई थी उस ब्रह्मा की सभा में गया ॥८।१०॥

पहले कभी न देखी हुई उस सभा को अच्छी तरह देखकर भी किसी उपमा से उसका वर्णन या

क्षणेन हि विभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥
न वेद परिमाणं वा संस्थानं चाऽपि भारत ।
न च रूपं मया तादृग्दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥
सुसुखा सा सदा राजन्न शीता न च घर्मदा ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १३ ॥
नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः ।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ॥ १४ ॥
दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भास्वद्भिरमितप्रभैः ।
अतिचन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयंप्रभा ॥ १५ ॥
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् ।
तस्यां स भगवानास्ते विदधद्देवमायया ॥ १६ ॥
स्वयमेकोऽनिशं राजन्सर्वलोकपितामहः ।
उपतिष्ठन्ति चाऽप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥ १७ ॥
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः ।
भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाऽङ्गिराः ॥ १८ ॥
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ।
अथर्वाङ्गिरसश्चैव वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १९ ॥

परिमाण करना सम्भव नहीं। वह क्षण क्षण पर नई शोभा और रूप धारण करती है। उसके परिमाण का निरूपण किसी से भी नहीं हो सकता। अधिक क्या कहूँ, मैंने वैसी सभा और कहीं नहीं देखी। ॥११।१२॥

उस सभा में जानेवाले का मन सदैव प्रसन्न रहता है। वह न तो अत्यन्त ठण्डी है न अत्यन्त गर्म। उस सभा में दाखल होते ही भूख-प्यास, थकान और सब क्लेश तुरन्त दूर हो जाते हैं। उस भवन पर दृष्टि पड़ते ही जान पडता है कि हज़ारों सूर्यमणियों से वह बनाया गया है। उसे चौड़े और ऊँचे खम्भों का आधार नहीं है, पर फिर भी वह प्राचीन सभा कभी अपने स्थान से इधर-उधर नहीं होती। उस सभा में दिव्य प्रभापूर्ण अनेक प्रकार के अलौकिक भाव देख पड़ते हैं। चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि की प्रभा को भी फीकी करती हुई वह सभा आकाशमण्डल में स्थित है। उसके तेज के आगे सूर्य का प्रचण्ड तेज भी मन्दा प्रतीत होता है। उस सभा के मध्य में सर्व सामर्थ्य रखनेवाले और अपनी देवीमाया से सम्पूर्ण लोकों को धारण करनेवाले ब्रह्मा जी बैठा करते है ॥१३।१७॥

प्रजापति लोग उनकी सेवा में रहकर उपासना

मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ।
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ॥ २० ॥
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चाऽन्यत्कारणं भुवः ।
अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ।
दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ॥ २२ ॥
सनत्कुमारो भगवान्योगाचार्यो महातपाः ।
असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ॥ २३ ॥
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ।
आयुर्वेदस्तथाऽष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ॥ २४ ॥
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ।
वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ॥ २५ ॥
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ।
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ २६ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ।
आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २७ ॥
विंशतिः सप्त चैवाऽन्ये लोकपालाश्च सर्वशः ।

किया करते हैं। दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, कश्यप, अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, अथर्ववेदी आङ्गिरस, सूर्य की किरणों को पीकर रहनेवाले वालखिल्य, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, महत्तत्व, और सब सृष्टि के कारण महातेजस्वी अगस्त्य, मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, महाभाग दुर्वासा, ऋष्यशृङ्ग, महातपस्वी योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार, असित, देवल, तत्त्व-ज्ञाता जैगीषव्य, जितशत्रु, ऋषभ, महावीर्य, मणि, आयुर्वेद अपने आठों अङ्गोंसहित देह धारण किये हुए, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा, सूर्य, उनचासों वायु, सम्पूर्ण यज्ञ, संकल्प और प्राण आदि सब पदार्थ मूर्तिमान् होकर ब्रह्मा जी की उपासना किया करते हैं ॥१८।२६॥

धर्म, अर्थ, काम, हर्ष, द्वेष, तप, दम आदि पदार्थ, मूर्तिमान् होकर ब्रह्मा जी की सेवा में लगे रहते हैं। गन्धर्व और अप्सराओं के दल, सत्ताईस नक्षत्र, इन्द्रादि, लोकपाल शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल, शनैश्चर, राहु आदि ग्रह, मन्त्र, रथन्तर साम, हरिमान् और वसुमान् नाम के एक प्रकार के विशेष कर्म, अग्नि-सोम, इन्द्र-अग्नि, आदि देवताओंसहित आदित्यगण,

शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ॥ २८ ॥
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ।
मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान्वसुमानपि ॥ २९ ॥
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ।
मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ॥ ३० ॥
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ॥ ३१ ॥
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३२ ॥
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ।
सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ॥ ३३ ॥
मेधा धृतिः स्मृतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ।
सामानि स्तुतिशास्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा ॥ ३४ ॥
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ।
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ॥ ३५ ॥
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चाऽन्ये गुरुपूजकाः ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथैव च ॥ ३६ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ।

मरुद्गण, विश्वकर्मा, आठ वसु, पितृगण, हवि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सब शास्त्र, इतिहास, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि उपवेद, वेदों के ■ अङ्ग, सब सोम पात्र, सब यज्ञ, सोम, सावित्री, दुर्गतरणी, सात प्रकार* की वाणी, मेधा, धृति, स्मृति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश, क्षमा, शास्त्र नामक सामवेद की स्तुतियां, नाना प्रकार की गाथाएँ, तर्क-सहित भाष्य ये सब देह धारण किये हुए, नाना प्रकार के नाटक, काव्य कथानक, आख्यायिकाएँ, और कारिकाएँ, ये सब मूर्तिमान् होकर ब्रह्मा की महासभा में उपस्थित रहते हैं। बड़े बूढ़ों और गुरुओं की पूजा एवं सत्कार करनेवाले महापुरुषों को उस लोक में जाने का अधिकार है। ॥२७।३६॥

क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, पॉच प्रकार का सँवत्सर, चार प्रकार के रात दिन [१-मनुष्यों का रात दिन साठ घड़ी का, २-पितरों

*दुर्गतरणी वाणी प्रणवरूप है। अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, शक्ति, यह उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म सात प्रकार हैं।

संवत्सराः पञ्चयुगमहोरात्रश्चतुर्विधः ॥ ३७ ॥
कालचक्रं च तद्दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ।
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥
अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ।
कालिका सुरभी देवी सरमा चाऽथ गोतमी ॥ ३९ ॥
प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४० ॥
पृथिवी गाङ्गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ४१ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ४२ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाऽश्विनावपि ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४३ ॥
पितॄणां च गणान्विद्धि सप्त वै पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो वै चत्वारस्त्रयश्चापि शरीरिणः ॥ ४४ ॥
वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत ।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४५ ॥
सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४६ ॥

का एक महीने का, ३–देवताओं का एक वर्ष का, ४–ब्रह्मा का एक कल्प का], इस प्रकार बारह राशियों-वाला, अक्षय, अव्यय, नित्य और दिव्य कालचक्र तथा धर्मचक्र यहाँ नित्य उपस्थित रहते हैं। हे राजा युधिष्ठिर ! अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी, सरमा, गौतमी, प्रभा, कद्रू, रुद्राणी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा, षष्ठी देवी, मूर्तिमती पृथ्वी, गाङ्गता, ह्री, स्वाहा, कीर्ति, सुरा, देवी इन्द्राणी, पुष्टि, अरुन्धती, संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टि, रति, आदि अनेक देवियाँ प्रजापति ब्रह्मा की उपासना किया करती हैं ॥३७।४२॥

आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्गण, साध्य-गण, विश्वेदेवा, दोनों अश्विनीकुमार, मन के तुल्य चलनेवाले पितर आदि भी भगवान् ब्रह्मा की सभा में उपस्थित रहते हैं। हे राजा युधिष्ठिर ! पितरों के सात गण हैं। इनमें चार शरीरधारी और तीन बिना

एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाऽऽप्यायते पुनः ।
त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ।
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ४७ ॥
राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ।
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते ॥ ४८ ॥
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथाऽपरे ।
पुरन्दरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ॥ ४९ ॥
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ।
महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ॥ ५० ॥
देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ।
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजाऽयोनिजास्तथा ॥ ५१ ॥
यच्च किंचित्त्रिलोकेऽस्मिन्दृश्यते स्थाणुजङ्गमम् ।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५२ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५३ ॥
ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथागतम् ॥ ५४ ॥

शरीर के हैं। अग्निष्वात्त, वैराज और गार्हपत्य, ये तीन पितृगण स्वर्गचारी हैं। सोमप, एकशृङ्ग, चतुर्वेद और कला नामक चार पितृगण ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में पूजित होते हैं। पितृगण पहले स्वयं तृप्त होकर सोम को प्रसन्न करते हैं। ये सभी पितृगण ब्रह्मा की सभा में रहकर भगवान् प्रजापति की उपासना किया करते हैं ॥४३।४७॥

इनके अतिरिक्त राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण, पशु, स्थावर और जङ्गम अन्य महाप्राणी प्रसन्नचित्त से परम तेजस्वी महात्मा पितामह ब्रह्मा की उपासना किया करते हैं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज, उमासहित महादेव आदि श्रेष्ठ देवता वहां आते-जाते रहते हैं। हे राजेन्द्र! कार्त्तिकेय, नारायण, सब देव ऋषि लोग, वालखिल्य ऋषिगण तथा योनिज और अयोनिज सब प्राणी उस सभा में ब्रह्मा जी की उपासना किया करते हैं। हे राजा युधिष्ठिर! अधिक क्या कहूं, चर या अचर जो कोई पदार्थ इस त्रिलोकी में देख पड़ता है सो सब ब्रह्मा जी की सभा में मैंने देखा है ॥४८।५२॥

हे पाण्डवश्रेष्ठ! उस सभा में अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेता [बालब्रह्मचारी] ऋषि और पचास हज़ार गृहस्थाश्रमी सन्तानवान् ऋषि वहां मैंने देखे हैं। स्वर्ग

अतिथीनागतान्देवान्दैत्यान्नागांस्तथा द्विजान् ।
यक्षान्सुपर्णान्कालेयान्गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५५ ॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५६ ॥
प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयंभूरमितद्युतिः ।
सान्त्व-मानार्थसंभोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५७ ॥
तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ॥ ५८ ॥
सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ५९ ॥
सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६० ॥
एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

के रहनेवाले सभी जीव इच्छा के अनुसार उस सभा में जाते और प्रजापति ब्रह्मा को प्रणाम कर अपने अपने लोकों को चले जाते हैं । [हे राजा युधिष्ठिर ! भगवान् ब्रह्मा सब प्राणियों को एक दृष्टि से देखते हैं । उनकी बुद्धि असीम है । वे उग्र तेजस्वी, विश्वयोनि, सब लोगों के पितामह और स्वयम्भू हैं] । वे अपनी सभा में आये हुए देव, दानव, नाग, ब्राह्मण, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व, और अप्सरा आदि महाभाग्यशाली अतिथियों को यथायोग्य मधुर वचनों से सादर सन्तुष्ट करके, इच्छा के अनुसार भोग की सामग्रियाँ देकर, विशेष रूप से तृप्त करते हैं । उस सभा में अभ्यागतों की सदा भीड़ लगी रहती है । उसमें असङ्ख्य ब्रह्मर्षि रहते हैं । उसका प्रकाश बहुत बड़ा है । उसमें जाते ही शरीर और मन का खेद जाता रहता है । वह दिव्य सभा अपनी अपूर्व आभा से आप ही जगमगाती हुई बहुत ही सुन्दर है । हे पुरुषश्रेष्ठ ! मनुष्यलोक में जैसे तुम्हारी यह सभा सब से बढ़कर है, वैसे ही देवलोक में ब्रह्मा की सभा अद्वितीय है । मैंने देवलोक की सभी सभाएँ देखी हैं, परन्तु इस समय मनुष्यलोक में तुम्हारी यह सभा ही सबसे बढ़िया जान पड़ती है ॥ ५-३१ ॥

— ० —

सभापर्व का ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर ।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥
वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो ।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ॥ २ ॥
तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ३ ॥
पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणिचैव ह ॥ ४ ॥
शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥
एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
किं कर्म तेनाऽऽचरितं तपो वा नियतव्रत ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥
पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः ॥ ८ ॥
किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाऽऽचक्ष्व सुव्रत ।

बारहवां अध्याय ॥ १२ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे कथा कहने वालों में श्रेष्ठ देवर्षे ! आपने जिन सभाओं का वर्णन किया उनमें से यमराज की सभा में सब राजाओं के रहने का आपने उल्लेख किया है। वरुण के सभासद आपने असङ्ख्य नाग, दानव, नदी, समुद्र आदि बतलाये; कुबेर की सभा में असङ्ख्य यक्षों, गन्धर्वों, निशाचरों और अप्सराओं के रहने तथा भगवान् शङ्कर के आने-जाने का उल्लेख किया। पितामह ब्रह्मा की सभा में महर्षियों, देवताओं और तन्त्रों-मन्त्रों आदि का उपस्थित रहना आपने बताया; इन्द्र की सभा में असङ्ख्य देवताओं, बहुत से महर्षियों और प्रधान-प्रधान गन्धर्वों के नाम गिनाये। किन्तु हे मुनिवर ! इन्द्र महाराज की सभा में सब राजाओं को छोड़कर एक राजा हरिश्चन्द्र के ही होने का क्या कारण है ? हे भगवन् ! राजा हरिश्चन्द्र ने ऐसा कौन-सा पुण्यकर्म किया है कि अकेले वही इन्द्र के समकक्ष होकर उनके साथ एक ही जगह पर रहते हैं ? पितृलोक में आपने हमारे पिता पाण्डु महाराज को देखा ही

त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

नारद उवाच—यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥ १० ॥
स राजा बलवानासीत्सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् ।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ॥ ११ ॥
तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम् ।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥
स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम् ।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥
तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया ।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन्यज्ञे च तेऽभवन् ॥ १४ ॥
प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः ।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥ १५ ॥
अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा ।
प्रसर्पकाले संप्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ १६ ॥
भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः ।

होगा। उनकी आपस क्या बातचीत हुई ? उन्होंने मुझसे क्या कहने के लिये आपसे कहा है ? कृपा करके ये सब बातें विशेषरूप से वर्णन करके मेरे मन का कौतूहल दूर कीजिए ॥९।१०॥

यह सुनकर नारद जी ने कहा हे राजा युधिष्ठिर ! आप बड़े बुद्धिमान्, इन्द्रलोक में रहनेवाले राजा हरिश्चन्द्र के बारे में जो पूछते हैं, सो मैं विशेषरूप से वर्णन करता हूँ। राजा हरिश्चन्द्र बड़ा बलवान् और सब राजाओं का सम्राट् था। सभी राजा उसके आधीन रहकर उसे सिर झुकाते थे। उसने सुवर्ण से भूषित रथपर चढ़कर शस्त्र के प्रताप से जम्बू, कुश, शाक, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेद और पुष्कर इन सातों द्वीपों को जीता था। इस प्रकार से सब पृथ्वी को पहाड़ और वनोंसहित जीतकर उसने राजसूय यज्ञ रचा था। उस यज्ञ में सब राजा लोग धन, अन्न और अन्य अनेक प्रकार के उपहार ले-लेकर उसके पास आये थे। वे सब यज्ञ में ब्राह्मणों की सेवा के काम में नियुक्त थे ॥१०।१४॥

उस यज्ञ के अवसर पर जिसने जो माँगा, उसे राजा ने वही दिया यही नहीं, बल्कि माँगने से चौगुना-पंचगुना दान किया। यज्ञ के विसर्जन होने के समय राजा ने दूर दूर से आये हुए बहुत ब्राह्मणों को उनकी इच्छा के अनुसार खाने-पीने का सामान, दक्षिणा में बहुत सा धन और सम्पत्ति देकर सन्तुष्ट कर दिया।

रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम् ॥ १७ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽप्यधिकोऽभवत्।
एतस्मात्कारणाद्राजन्हरिश्चन्द्रो विराजते ॥ १८ ॥
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद्विद्धि भरतर्षभ ।
समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान् ॥ १९ ॥
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ।
ये चाऽन्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम् ॥ २० ॥
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ।
ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ २१ ॥
ते तत्सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ।
तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ॥ २२ ॥
ते तत्स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भांति नित्यशः।
पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ॥ २३ ॥
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ।
विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ॥ २४ ॥
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ।

बहुत सा धन पाकर ब्राह्मण लोग बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने यह घोषणा करदी कि इस समय राजा हरिश्चन्द्र तेज, यश और ऐश्वर्य में सबसे बढ़कर है। अब तक कोई राजा उसके समान प्रतापी नहीं हुआ। हे राजन्! यही कारण है कि इन्द्रधाम में, जहाँ जाने के लिये अन्य राजाओं के मन में लालसा बनी रहती है, राजा हरिश्चन्द्र ही विराजमान है। प्रबल प्रतापी और पराक्रमी हरिश्चन्द्र का महायज्ञ राजसूय कर चुकने के बाद, सम्राट् के पद पर अभिषेक हो जाने से, बड़ा गौरव हुआ। हे भरत-नन्दन! जो राजा लोग बहुत धन के बिना न हो सकनेवाला राजसूय यज्ञ करके उसे विधिपूर्वक बिना किसी विघ्न के पूरा कर लेते हैं वही इन्द्र के साथ सुख भोगते हुए उनके समान पद के अधिकारी होते हैं। जो क्षत्रिय राजा युद्धभूमि में ठहरकर प्रबल शत्रुओं के पराक्रम को देख तनिक भी नहीं डरते, सामने लड़कर मौत को गले लगाते हैं, उन्हें भी इन्द्र सभासदस्यता मिलने पर अपार आनन्द प्राप्त होता है। और, जो लोग अत्यन्त कठोर तपस्या में मन लगाकर शरीर को छोड़ते हैं वे भी वहां रहकर, नित्य अपार सुख-सम्पत्ति भोगने के अधिकारी होते है ॥१५।२२॥

हे राजा युधिष्ठिर! तुम्हारे पिता महाराज पाण्डु भी राजा हरिश्चन्द्र के इस अपूर्व सौभाग्य को देखकर चकरा गये है। मुझे मनुष्यलोक में आते देख

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ॥ २५ ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ।
त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ॥ २६ ॥
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत्समाः शक्रस्य संसदि ।
एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ॥ २७ ॥
भूर्लोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाऽब्रुवम् ।
तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ॥ २८ ॥
गन्ताऽसि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ।
बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ॥ २९ ॥
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ।
युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ॥ ३० ॥
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ।
एतत्संचिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षेमं तत्समाचर ॥ ३१ ॥
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।

उन्होंने प्रणाम करके मुझसे कहा था हे महाराज ! आप कृपा करके मेरे बड़े पुत्र युधिष्ठिर से कहना कि सब भाई तुम्हारे अधीन हैं। उनकी सहायता से तुम सहज ही सब पृथ्वी को जीतकर दिग्विजय कर सकते हो। इसलिये तुम अवश्य राजसूय यज्ञ करो। तुम मेरे पुत्र हो। तुम यदि यज्ञ फल लाभ के अधिकारी होओगे तो मैं भी राजा हरिश्चन्द्र के समान इन्द्र का सभासद होकर उनके साथ और किसी के अनुभव में न आया हुआ आनन्द पाकर परम सुखी और कृतार्थ बनूंगा ॥२३।२६॥

हे राजन् ! तुम्हारे पिता की यह प्रार्थना सुन कर मैंने कहा कि बहुत अच्छा, जो मैं मनुष्यलोक में जाऊँगा तो तुम्हारा सन्देशा तुम्हारे पुत्र से कह दूँगा। हे राजा युधिष्ठिर ! तुमने महात्मा पाण्डु का सन्देश सुन लिया; अब उनकी इच्छा पूरी करने का यत्न करो। जो तुम यह यज्ञ कर लोगे तो, अपने पूर्वजों के साथ इन्द्र की सभा के सभासद होकर, परम सुखी हो सकोगे। यह यज्ञ बहुत बड़ा है। इसमें विघ्न भी बहुत से होते हैं। और यज्ञ के नाश करनेवाले ब्रह्मराक्षस सदा उसमें छिद्र ढूँढा करते हैं। यज्ञ प्रारम्भ होते ही क्षत्रियों के बीच युद्ध की आग जलने लगती है। इस युद्ध में समय-समय पर पृथ्वी-मण्डल की सभी वस्तुओं के उजड़ जाने की आशङ्का हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कुछ भी दोष हो जाने पर एकदम सर्वनाश हो जाता है ॥२७।३०॥

इसलिये इन सब बातों पर विचार करके जैसा उचित हो वैसा करो। हे राजा युधिष्ठिर ! तुम चारों वर्णों की रक्षा बड़ी सावधानी से करते रहो। तुम्हारा

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ॥ ३२ ॥
एतत्ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३४ ॥
गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरव ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि पाण्डुसंदेशकथने द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥
समाप्तं लोकपालसभाख्यानपर्व ॥

अभ्युदय हो। तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त हो। ब्राह्मणों को दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट करते हुए उनसे आशीर्वाद प्राप्त करो। तुमने जो पूछा था सो मैंने विस्तार के साथ कह दिया। अब मैं विदा होता हूँ। मेरा विचार द्वारकापुरी को जाने का है। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! नारद जी पाण्डवों से विदा होकर उन ऋषियोंसहित जिनके साथ आये थे चले गये। उनके चले जानेपर अब राजा युधिष्ठिर अपने छोटे भाइयों से राजसूय यज्ञ करने की सलाह करने लगे ॥३१।३५॥

सभापर्व का बारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच–ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः ।
चिन्तयन्राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥
राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम् ।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः ।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।

तेरहवा अध्याय ॥ १३ ॥

वैशम्पायन कहते है–हे जनमेजय! देवर्षि नारद के वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर ने एक लम्बी श्वास ली। वे विचार करने लगे कि राजसूय यज्ञ किस प्रकार हो। इसी चिन्ता ने उन्हें बेचैन कर दिया। महात्मा राजऋषियों की महिमा, पुण्यकर्म करने से यजमानों को श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति और राजसूय यज्ञ का फल भोगनेवाले राजा हरिश्चन्द्र के स्वर्गवास आदि बातों के बारे में विचार करने से राजसूय

प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे　　॥ ४ ॥
स राजसूयं राजेन्द्र ! कुरूणामृषभस्तदा ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चाऽसकृत् ॥ ५ ॥
भूयश्चाऽद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवाऽनुचिन्तयन् ।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे　　॥ ६ ॥
अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः　　॥ ७ ॥
सर्वेषां दीयतां देयं मुष्णन्कोपमदावुभौ ।
साधु धर्मेति धर्मेति नाऽन्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥ ८ ॥
एवं गते ततस्तस्मिन्पितरीवाऽऽश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याऽजातशत्रुता　　॥ ९ ॥
परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः　　॥ १० ॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात्सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ।
अविग्रहा वीतभयाः स्वकर्मनिरताः सदा　　॥ ११ ॥

यज्ञ करने के लिये उनकी उत्कण्ठा प्रबल हो उठी। अब महाराज युधिष्ठिर ने सभासदों का सम्मान करके और उनसे सम्मान पाकर राजसूय यज्ञ करने का विचार कर लिया। अद्भुत तेज-प्रताप से अलङ्कृत, श्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिर ने धर्म करने की चिन्ता में अपना मन लगा दिया। उनके मन में केवल यही चिन्ता प्रबल हो उठी कि प्रजा का भला किस उपाय से हो सकता है। वे क्रोध, मत्सर आदि से बचकर, पक्षपात छोड़कर, सभी का उपकार करने लगे। उन्होंने अपने गुरु का सब देना चुका देने की आज्ञा दे दी। सब जगह सब लोग धर्म को और धर्मराज को, साधुवाद देते दिखाई पड़ते थे। लगातार धर्म कर्म करने से सब प्रजा दिन दिन उन्हें अपने पिता के समान समझकर उनपर अटल भक्ति रखने लगी। उनका अप्रिय या अनिष्ट की चेष्टा करनेवाला कोई नहीं देख पड़ता था। इसी कारण युधिष्ठिर का नाम 'अजातशत्रु' पड़ गया ॥१।०॥

भीमसेन अपने बाहुबल से प्रजा के कष्टों को दूर करते हुए उसकी रक्षा और पालन करने लगे। अर्जुन शत्रुओं का नाश करने में और बुद्धिमान् सहदेव धर्म के आचरण में प्रवृत्त हुए। महात्मा नकुल स्वाभाविक नम्रता से सबको अपने अनुकूल बनाने लगे। इस प्रकार पाँचों पाण्डवों के यत्न से सब प्रजा युद्ध आदि के झगड़ों से बची रहकर आनन्द-

निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा ।
वार्द्धूषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥ १२ ॥
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणा ।
अनुकर्ष च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ॥ १३ ॥
सर्वमेव न तत्राऽऽसीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।
दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥
राजवल्लभतश्चैव नाऽश्रूयत मृषाकृतम् ।
प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥ १५ ॥
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग्जात्यैश्च नैगमैः ।
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १६ ॥
कामतोऽप्युपयुञ्जाने राजसैर्लोभजैर्जनैः ।
सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥
यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः ।
यत्र राजन्! दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा ।

पूर्वक अपने-अपने काम करने लगी। नगरों और गाँवों में प्रजा के मध्य में कहीं लड़ाई झगड़ा नहीं होता था। ठीक समय पर जल वर्षता था। सब लोग भरे-पुरे और सम्पन्न हो गये। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्यकाल में किसी आवश्यक वस्तु की कमी नहीं रह गई। शासन की उत्तमता से महाजनी, यज्ञ फल, गोरक्षा, पशु-पालन, खेती, वनिज आदि सभी बातों की उन्नति होने लगी ॥१०।१३॥

धोखा देकर प्रजा के धन को ठगना या बलपूर्वक छीन लेना,व्याधि-भय,अग्नि-भय, अकाल मृत्यु आदि का कहीं नाम न सुन पड़ता था। उस समय कहीं यह सुन भी न पड़ता था कि चोर, ठग या राजा के कृपा-पात्र लोग कहीं कुछ अत्याचार कर रहे हैं। गरीबी के कारण राजा की मालगुजारी बाक़ी रहना, 'कर' के लिये प्रजापीड़न, वर्षा का न होना, या अत्यन्त वर्षा होना, ये उपद्रव राजा युधिष्ठिर के राज्य में न होते थे। अपने रोजगार के ऊपर बँधा हुआ टैक्स देने के लिये व्यापारियों के आने से और राजा का प्रिय करने तथा उनकी उपासना के लिये कर देने-वाले राजाओं के लगातार आने-जाने से राजा युधि-ष्ठिर की राजधानी और राज की दिन दिन श्री-वृद्धि होने लगी। अधिक क्या कहें, उनके राज्यकाल में सुख सम्भोग-लोलुप और लोभ-मद आदि राजसी वृत्तियों के अत्यन्त वशीभूत विलासी व्यक्तियों के द्वारा भी देश की विशेष रूप से उन्नति होने लगी। युधिष्ठिर को सब लोग सर्वव्यापक सब गुणों से अलकृत, सहन-शील, शान्तस्वभाव, जानते और मानते थे। तेजस्वी, महायशस्वी, सम्राट् धर्मराज ने जिन जिन स्थानों पर

अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातृंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ १९ ॥
ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥
येनाऽभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति ।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥
तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २२ ॥
तस्य यज्ञस्य समय स्वाधीनः क्षत्रसंपदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते संशितव्रतैः ॥ २३ ॥
दर्वीहोमानुपादाय सर्वान्यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकं च यस्याऽन्ते सर्वजित्तेन चोच्यते ॥ २४ ॥
समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात्त्वं महाराज ! राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥
अविचार्य महाराज ! राजसूये मनः कुरु ।

अधिकार कर लिया था वहां के ब्राह्मणों से लेकर शूद्र अहीर तक उनको अपने पिता-माता अथवा उनसे भी अधिक समझकर उन पर भक्ति और श्रद्धा रखते थे। ॥१५।१८॥

बोलने की अलौकिक शक्ति रखनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने छोटे भाइयों और मन्त्रियों को बुलाकर उनसे अपने राजसूय यज्ञ करने के बारे में बार-बार सलाह करने लगे। यज्ञ करने की इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् युधिष्ठिर के अर्थपूर्ण वाक्य सुनकर मन्त्रियों ने एकमत होकर उनसे कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ! जो राजा सार्वभौम नरेश के योग्य गुणों का पात्र होकर अभ्युदय को प्राप्त होता है वही राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी समझा जाता है। राजसूय यज्ञ करने से ही राजा सम्राट् कहलाता है। आप में सम्राट् के सब गुण विद्यमान है, इसलिये आप राजसूय यज्ञ अच्छी तरह कर सकते हैं। हम लोग और आपके इष्ट-मित्र यह बात मानते हैं कि इस समय आप राजसूय यज्ञ करने योग्य है, आप शीघ्र ही इस यज्ञ का अनुष्ठान कीजिए। आपके मित्र भी इसका अनुमोदन करेंगे। इस समय राज्य में किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है ॥१९।२२॥

क्षत्रियबल-सम्पन्न होने पर यह यज्ञ सहज ही किया जा सकता है। व्रतधारी सामवेदी ऋत्विक् ब्राह्मण लोग इस यज्ञ में मन्त्रपाठ पूर्वक छः प्रकार

इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक्च सह चाऽब्रुवन् ॥ २६ ॥
स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते ।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसाऽरिहा ॥ २७ ॥
श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाऽप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ! ॥ २८ ॥
स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदत स्पृहा मे सा कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ! ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥
अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ ! राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥ ३२ ॥

के अग्नि की स्थापना करते हैं। राजसूय यज्ञ की दीक्षा लेने से और यज्ञान्त में अवभृथ स्नान तथा राज्याभिषेक होने से अग्निहोत्र आदि सभी यज्ञों के करने का फल मिल जाता है। इसी कारण राजसूय यज्ञ की दीक्षा लेनेवाला सर्वजित् कहलाता है। हे महाराज! आप बड़े पराक्रमी और प्रतापी हैं; हम लोग भी आपके आज्ञाकारी है। यज्ञ का आरम्भ कीजिए; शीघ्र ही आपकी इच्छा पूरी होगी। इसलिए अब आप अधिक सोच विचार न करके राजसूय यज्ञ प्रारम्भ कर दीजिए। हे राजा जनमेजय! युधिष्ठिर के मन्त्री, इष्ट-मित्र आदि ने एकत्र होकर और अलग-अलग भी उन्हें यही सम्मति दी ॥२३।२६॥

पाण्डव युधिष्ठिर ने उनकी धर्म-सम्पादक, इष्ट और न्याय-सङ्गत श्रेष्ठ यह सलाह मन ही मन मान ली। किन्तु उनके मनमें यह आन्दोलन बराबर चलता रहा कि इस यज्ञ का अनुष्ठान अभी मेरे लिये उचित है या नहीं। इस इतने बड़े यज्ञ की योग्यता मुझमें है या नहीं; परन्तु बार-बार राजसूय यज्ञ करने की ओर ही उनका मन ललक उठता था। इस कारण मन्त्र कार्य में चतुर धर्मराज युधिष्ठिर फिर अपने भाइयों, मन्त्रियों, महात्मा ऋत्विक् ब्राह्मणों और धौम्य, व्यास आदि को एकत्र करके उनसे पूछने लगे। धर्मराज ने कहा—सार्वभौम राजा के करने योग्य राजसूय महायज्ञ करने के लिये मेरा जी बहुत चाहता है। मुझे उसके करने की श्रद्धा है। अब तुम लोग बताओ कि किस उपाय से मेरा यह मनोरथ सफल हो सकता है ॥२७।३०॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रस्ताव को सुनकर सबने यह समयोचित सलाह दी—हे महाराज! आप व्यर्थ चिन्ता

मन्त्रिणो भ्रातरश्चाऽस्य तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।
स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवाऽऽत्मनाऽऽत्मवान् ॥ ३३ ॥
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं संप्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥ ३४ ॥
विमृश्य सम्यक्च धिया कुर्वन्प्राज्ञो न सीदति ।
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ॥ ३५ ॥
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥
सर्वलोकात्परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ।
अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृपु ॥ ३७ ॥
पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसंमितैः ।
नाऽस्य किंचिदविज्ञातं नाऽस्य किंचिदकर्मजम् ॥ ३८ ॥
न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ।
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥

कर रहे हैं। आप अवश्य राजसूय यज्ञ करने के योग्य पात्र हैं। काम शुरु कर दीजिए, सहज ही आपकी इच्छा पूर्ण होगी। इस प्रकार भाइयों, मन्त्रियों, ऋत्विजों और ऋषियों को अपनी इच्छा के अनुकूल सलाह देते देखकर जितेन्द्रिय सत्यवादी महाराज युधिष्ठिर को बड़ा सन्तोष हुआ। किन्तु इसके पश्चात् फिर वे सोचने लगे कि जो मनुष्य अपनी सामर्थ्य, सुयोग, देश, काल, आमदनी और खर्च पर अच्छी तरह विचार कर किसी काम को शुरु करता है, उसे पीछे पछताना नहीं पडता। बुद्धिमान् चतुर लोग इन बातों पर विशेष रूप से विचार किये बिना काम नहीं करते, इसी से उन्हें मुसीबत में नहीं पडना पड़ता॥३१।३४॥

केवल अपने ही निश्चय पर भरोसा करके किसी तरह इतने बड़े यज्ञ के काम में हाथ डालना उचित नहीं। यह सोचकर धर्मराज ने कर्त्तव्य का निश्चय करने के विचार से पुरुषोत्तम कृष्ण को स्मरण किया। उन्होंने विचार किया कि कृष्णचन्द्र सब मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं। वे अप्रमेय, महाबाहु, अपनी इच्छा से मनुष्य लोक में उत्पन्न साक्षात् नारायण हैं। देवताओं के ऐसे कृष्णचन्द्र के विचित्र कार्यों को देखकर धर्मराज युधिष्ठिर को निश्चय हो गया था कि पृथ्वीमण्डल में ऐसी कोई वस्तु या बात ही नहीं जिसे कृष्ण न जानते हों, ऐसा कोई काम ही नहीं जिसे वे सहज ही न कर सकते हों, ऐसी कोई बात ही नहीं जिसे वे सह न सकते हों। कृष्ण के बारे में ऐसा दृढ निश्चय कर चुकने पर युधिष्ठिर ने आशीर्वाद और अपना सन्देशा कहने के लिये आज्ञा देकर इन्द्रसेन नाम दूत को उसी समय जगद्गुरु कृष्ण के पास भेजा॥३५।३०॥

गुरुवद् भूतगुरवे प्राहिणोद् दूतमञ्जसा ।
शीघ्रगेण रथेनाऽऽशु स दूतः प्राप्य यादवान् ॥ ४० ॥
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ।
दर्शनाकाङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाऽच्युतः ॥ ४१ ॥
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात्तदा ।
व्यतीत्य विविधान्देशांस्त्वरावान्क्षिप्रवाहनः ॥ ४२ ॥
इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ।
स गृहे पितृवद् भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ॥ ४३ ॥
भीमेन च ततोऽपश्यत्स्वसारं प्रीतिमान्पितुः ।
प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ॥ ४४ ॥
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत्पर्युपासितः ।
तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्य ज्ञापयत्स्वप्रयोजनम् ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—प्रार्थितो राजसूयो मे न चाऽसौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत्ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४६ ॥
यस्मिन्सर्वं संभवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४७ ॥

शीघ्र चलनेवाले रथपर बैठकर वह दूत द्वारकापुरी में यादवों के मध्य में बैठे कृष्ण के पास गया। दूत के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर, अपने दर्शन की इच्छा रखनेवाले धर्मराज को दर्शन देने के विचार से, कृष्णचन्द्र उसी समय उस दूत के साथ चल पड़े। वायु के समान वेगशाली रथ पर बैठकर वासुदेव इन्द्रसेन के साथ इन्द्रप्रस्थ पहुँचे और सभा में आकर युधिष्ठिर से मिले। बुआ के लड़के धर्मराज और भीमसेन ने पिता की तरह स्नेह से कृष्ण का सत्कार और स्वागत किया। उनके आदर-यत्न से अत्यन्त प्रसन्न होकर कृष्णचन्द्र ने अपनी बुआ कुन्ती के पास जाकर उनके पैर छुए। नकुल और सहदेव ने शिष्य की तरह उनकी पूजा की और प्रिय मित्र अर्जुन उनके गले से लग गये। इस प्रकार पाण्डवों के पास पहुँचकर कृष्णचन्द्र बड़े प्रसन्न हुए ॥४०।४४॥

जब वह अपनी बुआ कुन्ती से मिलकर कुछ देर विश्राम कर चुके तब युधिष्ठिर उनके पास जाकर अपना प्रयोजन कहने लगे—हे कृष्ण जी! मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ, किन्तु केवल चाहने से ही राजसूय यज्ञ नहीं हो सकता। जिस तरह यह यज्ञ सम्पन्न हो सकता है सो तुमसे छिपा नहीं है। राजसूय यज्ञ वही कर सकता है, जिसमें सब कुछ सम्भव हो,

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ४८ ॥
केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवाऽन्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥
प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवंप्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५० ॥
त्वं तु हेतूनतीत्यैतान्कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत्क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जो सर्वत्र पूजा पाता हो और जो सब पृथ्वीमण्डल का चक्रवर्ती राजा हो। मेरे बन्धु-बान्धवों की सलाह है कि मैं यज्ञ करूँ; यह यज्ञ करने के लिये वे मुझे सब तरह समर्थ समझते और कहते हैं। परन्तु बिना तुम्हारी सलाह लिये मैं इस बारे में कुछ निश्चय नहीं कर सकता। तुम यदि इसका अनुमोदन करोगे तो फिर मैं पूर्णरूप से यह यज्ञ करने का निश्चय कर लूँगा। मैं तुम्हारी सलाह पर ही पूरा भरोसा करता हूँ। इसका एक विशेष कारण है। बहुत से लोग ऐसे होते है जो मित्रता के ख्याल से मित्र के दोष या कमी का उल्लेख करना नहीं चाहते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने स्वार्थ के लिये चापलूसी करते है। कुछ ऐसे होते हैं जो उसी बात को प्रिय कहकर उसके करने की सलाह देते है जिसमें अपना भला हो। हे वासुदेव ! इस संसार में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है। किन्तु ऐसे लोगों की सलाह पर भरोसा करके कोई काम कर उठाना बुद्धिमान् पुरुष का काम नहीं। तुम काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि नीच प्रवृत्तियों के वशीभूत नहीं हो। इसी से मै तुम्हारी श्रेष्ठ सम्मति सुनना चाहता हूँ। जैसा उचित समझो वैसा मुझसे कहो ॥४५।५१॥

— * —

सभापर्व का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—सर्वैर्गुणैर्महाराज ! राजसूयं त्वमर्हसि ।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद्वक्ष्यामि भारत ! ॥ १ ॥

चौदहवां अध्याय ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजन् ! आप में सभी श्रेष्ठ गुण है। इसलिये आप सब तरह राजसूय यज्ञ करने के योग्य पात्र है। आप सब जानते हैं; तो भी मैं आपसे कुछ कहता हूँ, सुनिए। जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने पूर्व समय में क्षत्रिय वंश का जड़सहित नाश कर

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम् ।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २ ॥
कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप! ।
निदेशभाग्भिस्तत्ते हि विदितं भरतर्षभ! ॥ ३ ॥
ऐलस्यैक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथाऽन्ये क्षत्रिया भुवि ॥ ४ ॥
ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ! ॥ ५ ॥
ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज! विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ।
इदानीमेव वै राजञ्जरासन्धो महीपतिः ।
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ॥ ७ ॥
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ।
सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथो भेदममन्यत ॥ ८ ॥
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् ।
स साम्राज्यं महाराज! प्राप्तो भवति योगतः ॥ ९ ॥
तं स राजा जरासन्धं संश्रित्य किल सर्वशः ।

दिया था। इस समय जो क्षत्रिय कहे जाते हैं वे पहले के क्षत्रियों की अपेक्षा हीन पराक्रमी और निकृष्ट हैं। उन्होंने एकत्र होकर जो कुलों के नियम आदि चलाये हैं उन्हें भी आप जानते हैं। इस समय के अधिकाश क्षत्रिय और राजा अपने को इला और इक्ष्वाकु की सन्तान कहते हैं ॥१।४॥

इला और इक्ष्वाकु की सन्तानों से सौ कुल पैदा हुए। उनमें भोजवश के राजा ययाति का कुल ही पृथ्वीमण्डल भर में प्रसिद्ध और श्रेष्ठ है। हे राजन्! सब क्षत्रिय कुल अपने पूर्वजों के राज्य-ऐश्वर्य का उपभोग करते आते थे; परन्तु वर्त्तमान समय में मगध-नरेश राजा जरासन्ध ने अपने बाहुबल से सब राजाओं को वश में कर लिया है। वह इस समय एकाधिपत्य राज्य कर रहा है। जो कोई सब का प्रभु और अखण्ड पृथ्वीमण्डल का अद्वितीय अधिपति हो वही राजसूय यज्ञ कर सकता है ॥५।९॥

पराक्रमी शिशुपाल जरासन्ध का सहायक और सेनापति है। मायायुद्ध करने में निपुण, प्रबल प्रतापी

राजन्! सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ॥ १० ॥
तमेव च महाराज! शिष्यवत्समुपस्थितः ।
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ॥ ११ ॥
अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ।
जरासन्धं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ॥ १२ ॥
वक्रदन्तः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद्यमद्भुतमणिं विदुः ॥ १३ ॥
मुरुं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १४ ॥
भगदत्तो महाराज! वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद्भक्तिमांस्त्वयि ।
प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित्कुन्तिवर्धनः ।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥
जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥
आत्मानं प्रति जानाति लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिह्नं च मामकम् ॥ १९ ॥

करूष देश का राजा वक्र, जरासन्ध की सभा में शिष्य के समान उसकी उपासना करता है। हंस और डिम्भक नाम के दो और पराक्रमी राजा जरासन्ध के आज्ञाकारी हैं। वक्रदन्त, करभ और मेघवाहन भी उसके अनुगत हैं। हे महाराज! लोकप्रसिद्ध अद्भुत दिव्य मणि को मस्तक पर धारण करनेवाले, मुरु और नरक-देश के शासक पश्चिम दिशा में राज्य फैलाकर वरुण के समान राजराज, अमित-बलशाली आपके पिता के मित्र, यवनाधिपति वृद्ध भगदत्त भी सदा जरासन्ध के अनुकूल रहते हैं। ॥११।१५॥

पश्चिम और दक्षिण दिशा के सब से श्रेष्ठ शासक, आप पर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले, स्नेह के कारण सदा आप की भलाई चाहनेवाले, कुन्तिवंश-वर्द्धन, शत्रुदमन आपके मामा पुरुजित् भी जरासन्ध के अनुगत हैं। चेदि देश में प्रसिद्ध, अपने को

वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥
चतुर्थभाङ् महाराज ! भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्यावलाद्यो व्यजयत्स पाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २१ ॥
भ्राता यस्याऽकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २२ ॥
प्रियाण्याचरतः प्रह्वान्सदा संबन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥
न कुलं न बलं राजन्नभ्यजानात्तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासन्धमुपस्थितः ॥ २४ ॥
उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥ २५ ॥
शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥ २६ ॥
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।

पुरुषोत्तम कहकर मोहवश सदा मेरे चिह्नों को धारण करनेवाला, वङ्ग-पुण्ड्र-किरात देशों का अधिपति, मिथ्या वासुदेव, महापराक्रमी पौण्डक भी इस समय जरासन्ध के अधीन हो गया है ॥१६।२०॥

चतुर्थांश पृथ्वीमण्डल के अधिपति, भोज और राजा इन्द्र के सखा, पाण्ड्य क्रथ-कैशिक देश-विजेता, विद्वान्, बली, शत्रुकुलनाशक, परशुराम के समान तेजस्वी अकृति राजा के बड़े भाई भीष्मक राजा भी जरासन्ध के भक्त हैं। हम इन भीष्मक के नातेदार हैं, सदा उनका प्रिय करने की इच्छा रखते हैं, विनय और नम्रता के साथ उन के अनुगत रहते हैं, तो भी वे हमारी ओर नहीं हुए। वे भी जरासन्ध की प्रसिद्धि और प्रताप का हाल सुनकर मोहित होकर, कुलपरम्परा से चली आ रही शूरता-वीरता-गम्भीरता और मान-आत्माभिमान को भूलकर उसके शरणागत हुए ॥२१।२४॥

अठारह भोजकुल, और उत्तर देश के सब राजा जरासन्ध के डर से ही पश्चिम दिशा को चले गये हैं। शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति, शाल्वायन आदि वहाँ के राजा, दक्षिण-पञ्चाल के राजा, और पूर्व कोशल के राजा भी भाइयों और अनुचरों के साथ अपने-अपने

मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः॥ २८ ॥
तथैव सर्वपञ्चाला जरासन्धभयार्दिताः ।
स्वराज्यं संपरित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २९ ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३० ॥
अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स ज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३१ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्याऽऽसीदतीवाऽपनयो महान् ।
भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३२ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्संभावना कृता ।
दत्वाऽक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३३ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३४ ॥
भये तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् ! कुलैरष्टादशावरैः ॥ ३५ ॥
अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३६ ॥

राज्य छोड़कर, जरासन्ध के डर से कुन्ति देश में जाकर रहे हैं। मत्स्य संन्यस्तपाद देश के राजा भय के मारे दक्षिण दिशा को चले गये है। पाञ्चाल देश के भी सब राजा जरासन्ध के डर से अपने राज्य छोड़कर दूर-दूर इधर-उधर भाग गये है ॥२५।२९॥

कुछ समय हुआ, राजा उग्रसेन के पुत्र दानवराज कंस ने यादवों को जीतकर जरासन्ध की अस्ति और प्राप्ति नाम की दो कन्याओं से विवाह किया था। इस प्रकार जरासन्ध से सम्बन्ध जोड़ करके मूढ़ दुष्ट कंस का साहस और भी बढ़ गया। वह अपने जातिवालों और कुटुम्बियों को बड़ा दुःख देने लगा। हे महाराज! ऐसा करने से कंस को सब लोग घृणा की दृष्टि से देखने और उसकी निन्दा करने लगे। भोजवंश के वृद्ध क्षत्रिय लोग उस दुष्ट के अत्याचार को अधिक न सह सके, तब वे जाति-रक्षा की इच्छा से मेरी शरण में आये। जाति का हित करने के लिये मैंने आहुक की पुत्री सुतनु का विवाह अक्रूर से करा दिया और बलभद्र की सहायता से कंस और सुनामा, दोनों को मारकर जाति का उपकार किया ॥३०।३४॥

यह सुनकर जरासन्ध बड़ी भारी सेना लेकर हमारे ऊपर चढ़ आया। उसकी सेना को देखकर

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३७ ॥
तावुभौ सहितौ वीरौ जरासन्धश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥
न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ! ॥ ३९ ॥
अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान्नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥
हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ! ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् ! यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥
विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाऽहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥
तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४३ ॥
तौ स राजा जरासन्धः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ! ॥ ४४ ॥

मैने अपने से छोटे अठारह यादव-कुलों से मिलकर सलाह की कि यदि हम, शत्रुओं को नष्ट करनेवाले, तीक्ष्ण अस्त्रों से लगातार तीन सौ वर्ष तक युद्ध करते रहें ता भी जरासन्ध की सेना का बिलकुल नाश नहीं कर सकते; क्योंकि देवताओं के समान तेजस्वी महाबली हस और डिम्भक दोनों राजा जरासन्ध के पार्श्वरक्षक है । वे अस्त्र के द्वारा मारे नहीं जा सकते । उन्हें ऐसा ही वरदान है । वे दोनों वीर और तीसरा जरासन्ध मिलकर तीनों लोकों को जीत सकते है । हे राजन् ! यह केवल मेरा ही मत न था, किन्तु सब राजाओं का ऐसा ही विश्वास था ॥३५।३९॥

हम लोगों से युद्ध करने के लिये सत्रहवीं वार जब जरासन्ध चढ़कर आया तब हमको हस और डिम्भक के नाश का एक उपाय सूझ गया। युद्ध में बलभद्र ने हंस नाम के किसी और राजा को मारा उसको देखकर किसी ने डिम्भक से जाकर कह दिया कि हस मारा गया । वह यह सुनकर हंस के बिना अपना जीना व्यर्थ जान कर यमुना में डूबकर मर गया । डिम्भक की मृत्यु जब हस ने सुनी तब वह भी भाई क शोक से विकल हो उठा । उसने भी यमुना में कूदकर जान दे दी । हंस और डिम्भक की मृत्यु हुई सुनकर जरासन्ध की हिम्मत टूट गई। वह उदास होकर अपने नगर को लौट गया । हम लोग भी आनन्द के साथ अपनी मथुरा पुरी में रहने

ततो वयममित्रघ्न ! तस्मिन्प्रीतगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४५ ॥
यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासन्ध-दुहिता मागधं नृपम् ॥ ४६ ॥
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ।
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिन्दम ! ॥ ४७ ॥
ततो वयं महाराज ! तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ।
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ! ॥ ४८ ॥
पृथक्त्वेन महाराज ! संक्षिप्य महतीं श्रियम् ।
पलायामो भयात्तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ॥ ४९ ॥
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ।
कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥ ५० ॥
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ! ।
तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ॥ ५१ ॥
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः ।
तस्यां वयममित्रघ्न ! निवसामोऽकुतोभयाः ॥ ५२ ॥
आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ।

लगे ॥४०।४५॥

उधर कमल-नयनी कंस की स्त्री पति के शोक से विह्वल होकर अपने पिता जरासन्ध को बार-बार यह कहकर युद्ध के लिये उत्साहित करने लगी कि मेरे पति को जिसने मारा है उससे बदला लो। हम लोगों ने भी जरासन्ध के बल वीर्य को स्मरण कर और उसकी चढ़ाई देखकर, पहले की सम्मति के अनुसार मथुरापुरी से भाग जाना उचित समझा। शत्रु के भय से हम लोग बहुत सी सम्पत्ति वहीं छोड़कर—थोड़ी सी आपस में बाँटकर और वही लेकर—सजातीय, पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि के साथ वहाँ से भागकर रैवतक पर्वत से शोभित कुशस्थली नाम की रमणीय नगरी में जाकर बसे हैं। वहाँ जाकर और किले आदि की मुरम्मत कराकर हमने उसपर अपना अधिकार जमा लिया है ॥४६।५१॥

अनेक दुर्गम दुर्गों से रक्षित वह नगरी इस समय ऐसी है कि देवता भी सहज में उसके भीतर नहीं प्रवेश कर सकते। वीर वृष्णिवंश के पुरुषों की तो बात ही नहीं, दुर्ग के अन्दर से स्त्रियाँ भी अच्छी-तरह युद्ध करके आत्मरक्षा कर सकती हैं। सब यादव लोग उस गढ़ की दुर्गमता और उस स्थान का सुरक्षित होना देखकर, अपने को जरासन्ध के

माधवाः कुरुशार्दूल ! परां मुदमवाप्नुवन् ॥ ५३ ॥
एवं वयं जरासन्धादभितः कृतकिल्बिषाः ।
सामर्थ्यवन्तः संबन्धाद्गोमन्तं समुपाश्रिताः ॥ ५४ ॥
त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ।
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ॥ ५५ ॥
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ।
अष्टादशसहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नःकुले ॥ ५६ ॥
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ।
चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ॥ ५७ ॥
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ।
एवमेते रथाः सप्त राजन्नन्यान्निबोध मे ॥ ५८ ॥
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ।
कङ्कः शङ्कुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ॥ ५९ ॥
पुत्रौ चाऽन्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ।
वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ॥ ६० ॥
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ।
स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ! ॥ ६१ ॥

हाथ से उबरा हुआ समझ कर, बड़े आनन्द से उस गढ़ में रहते हैं। इस प्रकार प्रबल प्रतापी जरासन्ध के अत्याचार से हैरान होकर हम बलवान् होने पर भी निरे असमर्थ की तरह भागकर रैवतक पर्वत के आश्रय में जाकर ठहरे हैं। वह पर्वत इक्कीस योजन लम्बा और एक योजन ऊँचा है और उसमें तीन शिखर हैं। योजन योजन भर पर सौ-सौ सैन्यव्यूह और सौ-सौ द्वार बने हुए हैं। वीर पुरुषों का पराक्रम ही उस गढ़ का प्रधान फाटक है। अठारहों यादव कुलों के योद्धा क्षत्रिय उस गढ़ के रक्षक हैं॥५२।५६॥

हे युधिष्ठिर ! हमारे कुल में अठारह सहस्र भाई पैदा हुए हैं और आहुक के सौ पुत्र देवताओं के समान बलवान् हैं। यादवों में चारुदेष्ण, उसका छोटा भाई चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलभद्र, साम्ब, और प्रद्युम्न, ये सात अतिरथी हैं। इनके सिवाय कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिञ्जय, कङ्क, शङ्कु और कुन्ति, ये सात महारथी हैं; अन्धकभोज के दो पुत्र और वृद्ध राजा उग्रसेन आदि दस महारथी जिनके शरीर वज्र के तुल्य हैं बड़े पराक्रमी हैं। ये जरासन्ध के विरोधी और हमारे साथी हैं। हे पाण्डव ! आपमें सम्राट् के सब गुण विद्यमान हैं। आप बिना विरोध के विशाल साम्राज्य भोग सकेंगे। क्षत्रियों

क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत! ।
न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ॥ ६२ ॥
राजसूयस्त्वयाऽवाप्तुमेषा राजन्! मतिर्मम ।
तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ॥ ६३ ॥
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ।
स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर्वसुधाधिपः ॥ ६४ ॥
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिन्दम ! ।
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ॥ ६५ ॥
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ! ।
स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान्पृतनागतान् ॥ ६६ ॥
पुरमानीय बध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ।
वयं चैव महाराज ! जरासन्धभयात्तदा ॥ ६७ ॥
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ।
यदि त्वेनं महाराज! यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि ॥ ६८ ॥
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च ।
समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन ! ॥ ६९ ॥
राजसूयस्य कार्त्स्न्येन कर्तु मतिमतां वर! ।

के मध्य आपका सम्राट् होना अत्यन्त आवश्यक है ॥५७।६२॥

किन्तु मेरी मति से जब तक राजा जरासन्ध जीता है तबतक आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते हैं। सिंह जैसे सहज ही हाथियों पर हमला करके उन्हें पर्वत की खोह में बन्दकर रक्खे, वैसे ही जरासन्ध ने बहुत से राजाओं को युद्ध में हराकर अपने गढ़ के भीतर कैद कर रक्खा है। पूर्व समय में जरासन्ध ने, राजाओं की बलि देकर यज्ञ करने की इच्छा से, भगवान् शङ्कर की आराधना की थी। फिर आशुतोष भोलानाथ की कृपा पाकर वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुका है, क्योंकि उसने अनेक राजाओं को जीतकर बलिदान के लिये कैद कर रक्खा है। दिग्विजय के लिये निकलकर वह जीते हुए राजाओं को पकड़ लाकर कैद करने लगा था ॥६३।६७॥

यह देखकर हम भय के मारे मथुरा पुरी छोड़ कर द्वारका नगरी को भाग गये। इसलिये हे कुरु-नन्दन ! जो आपको राजसूय यज्ञ करने की बड़ी ही अभिलाषा हो तो पहले दुष्ट दुर्जय जरासन्ध को मारकर कैद किये गये राजाओं को छुड़ाइए। यह किये बिना आपकी राजसूय यज्ञ करने की इच्छा

इत्येषा मे मती राजन्! यथा वा मन्यसेऽनघ!।
एवं गते ममाऽऽचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥ ७० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि श्रीकृष्णवाक्यं चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

किसी तरह पूरी नहीं हो सकती। यदि राजसूय यज्ञ करना आपको बहुत पसन्द है तो पहले मेरी विचार में यही करना चाहिए। अब देश, काल, कार्य और कारण का विचार तथा निश्चय करके आपको जो उचित जान पड़े वह कीजिए ॥६८।७०॥

— * —

सभापर्व का चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति ।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नाऽन्यो विद्यते भुवि ॥ १ ॥
गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक्॥ २ ॥
कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति ।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥
विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ! ॥ ४ ॥
शममेव परं मन्ये शमात्क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज! आपकी बुद्धि बहुत ही उज्ज्वल और तीक्ष्ण है, आपकी विवेकबुद्धि अलौकिक है। आपके उपदेश का खण्डन नहीं हो सकता। आप ही एकमात्र इस जगत् भर के संशय को दूर करनेवाले योगीश्वर हो। इस पृथ्वीमण्डल पर अपने अपने कार्य में लगे हुए अनेकों राजा महाराजा हैं, किन्तु कोई भी सम्राट् के पद को नहीं पा सकता। सम्राट् का पद मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है। जो मनुष्य दूसरे के प्रभाव को नहीं जानता है वह अपनी बड़ाई क्योंकर कर सकता है। जो रणभूमि में पहुँचकर शत्रु की सेना पर बेधड़क आक्रमण करके उसे हरा सकता है वही प्रशंसा का पात्र है। हे वृष्णिवंशावतंस! नाना प्रकार के रत्नों से पूर्ण इस विशाल वसुन्धरा में कोई अभिज्ञता के बिना श्रेय को नहीं प्राप्त कर सकता। मेरी समझ में शान्ति में ही सब भलाइयाँ मिलती हैं। इसलिये शान्ति की सेवा ही मेरे लिये निधि और मेरा कर्त्तव्य कर्म है। राजसूय महायज्ञ आरम्भ करके अन्त को परम सुखदायक फल पाने की आशा करना दुराशामात्र है। हमारे वंश के सब

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चित्कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ! ॥ ६ ॥
वयं चैव महाभाग ! जरासन्धभयात्तदा ।
शङ्किताः स्म महाभाग ! दौरात्म्यात्तस्य चाऽनघ ! ॥ ७ ॥
अहं हि तव दुर्धर्षभुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नाऽऽत्मानं वलिनं मन्ये त्वयि तस्माद्विशङ्किते ॥ ८ ॥
त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ! ।
अर्जुनाद्वा महावाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ॥ ९ ॥
एवं जानन्हि वार्ष्णेय ! विमृशामि पुनः पुनः ।
त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ! ।
तच्छ्रुत्वा चाऽब्रवीद्भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १० ॥
भीम उवाच—अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्वलश्चाऽनुपायेन वलिनं योऽधितिष्ठति ॥ ११ ॥
अतन्द्रितस्तु प्रायेण दुर्वलो वलिनं रिपुम् ।
जयेत्सम्यक्प्रयोगेण नित्यार्थानात्मनो हितान् ॥ १२ ॥
कृष्णे नयो मयि वलं जयः पार्थे धनञ्जये ।

राजाओं का भी यही सिद्धान्त रहा है। प्रतीत होता है, वे कभी सारी पृथ्वी को जीतकर वश में नहीं कर सके। दूसरे, दुष्ट जरासन्ध के उपद्रव को देखकर मुझे बड़ी शङ्का हो गई है। मुझे सदा आपके ही बाहु-बल की आशा और आपका ही भरोसा रहता है। फिर जब आपको जरासन्ध के भय से भागना पड़ा तब मेरा उसे मारकर राजसूय यज्ञ की आशा करना दुराशामात्र है। हे महाबाहो ! आप, बल्देव, भीमसेन और अर्जुन, इन चारों में से कोई क्या युद्ध में जरासन्ध को परास्त कर सकता और मार सकता है ? इस दुष्ट को मारने की मुझे सदा बड़ी चिन्ता रहती है। आपसे अधिक और मैं क्या कहूँ ! आप जो उपदेश करोगे उसके विरुद्ध मैं कभी कुछ न करूँगा। आप जिस राह पर चलाओगे उसी पर चलूँगा ॥१।१०॥

यह सुनकर भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! जो राजा उद्योग को छोड़ बैठता है, अथवा दुर्बल और निरुपाय होकर प्रबल शत्रु से युद्ध करने लगता है, वह अवश्य ही मर मिटता है। इसके विपरीत जो बल में हीन राजा भी आलस्य और उपेक्षा के भाव को छोड़कर अच्छी नीति के द्वारा प्रबल शत्रु पर आक्रमण करता है, तो वह युद्ध में जय पाता है। हे राजन् ! हमारी मण्डली भर में श्रीकृष्ण से बढ़कर नीति को कोई नहीं जानता। मैं भी बलवान् हूं,

मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाऽग्नयः ॥ १३ ॥

कृष्ण उवाच—अर्थानारभते वालो नाऽनुवन्धमवेक्षते ।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति वालमर्थपरायणम् ॥ १४ ॥
जित्वा जय्यान्यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः ।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद्बलात्तु भरतो विभुः ॥ १५ ॥
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान्पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम ।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ! ॥ १६ ॥
मन्त्रान्वश्याननुस्पृशन्नेवमेव सतां युगे ।
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तो धर्मार्थनियलक्षणैः ।
वार्हद्रथो जरासन्धस्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥ १७ ॥
न चैनमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः ।
तस्मादिह वलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः ॥ १८ ॥
रत्नभाजो हि राजानो जरासन्धमुपासते ।
न च तुष्यति तेनाऽपि वाल्यादनयमास्थितः ॥ १९ ॥
मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो वलात् ।

और अर्जुन सर्वत्र विजय ही पाते हैं। इस कारण तीन अग्नि* जैसे यज्ञकार्य को पूरा करते हैं वैसे ही हम तीनों मिलकर अवश्य ही जरासन्ध का काम तमाम कर सकेंगे ॥११।१३॥

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाराज! मूर्ख नादान लोग परिणाम का विचार किये बिना ही काम में हाथ लगा देते हैं। उससे शत्रु-जय आदि कोई चाहा हुआ काम पूरा नहीं होता। मैंने सुना है पहले युवनाश्व के पुत्र (मान्धाता) ने कर लेना छोड़कर, भगीरथ ने प्रजापालन करके, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु) ने कठोर तप के प्रभाव से, भरत ने बाहुबल से और मरुत्त ने धन के बल से साम्राज्य पाया था। विचार कर देखिए, ये सब एक ही एक गुण के अधिकारी होकर सम्राट् हो गये; किन्तु आप में तो सभी गुण हैं। आप अपने सम्राट् हो सकने में क्यों सन्देह करते हैं? धर्म-अर्थ और नीति के द्वारा प्रतापी जरासन्ध को मारने का उद्योग करना इस समय आपका सबसे पहला और सबसे बढ़कर कर्तव्य है। विचार कर देखिए, एक सौ वंशों के इतने क्षत्रिय हैं; उनमें से एक भी जरासन्ध को परास्त नहीं कर सका; बल्कि वह दुष्ट उन में से प्रायः सबको हराकर सुखपूर्वक अखण्ड साम्राज्य कर रहा है। ऐश्वर्यशाली राजाओं ने अपार धन-रत्न देकर उसकी अधीनता स्वीकार की, पर यह दुष्ट हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर उन्हें अपने यहाँ कैद में डाले है। ऐसा कोई राजा ही नहीं देख पड़ता, जिससे कर

* दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, और आहवनीय ये तीन अग्नि यज्ञ कार्य में होते हैं।

आदत्ते न च नो दृष्टो भागः पुरुषतः क्वचित् ॥ २० ॥
एवं सर्वान्वशे चक्रे जरासन्धः शतावरान् ।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥ २१ ॥
प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे ।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ! ॥ २२ ॥
क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः ।
ततः स्म मागधं सङ्ख्ये प्रतिबाधेम यद्वयम् ॥ २३ ॥
षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश ।
जरासन्धेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ॥ ॥ २४ ॥
प्राप्नुयात्स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत् ।
जयेद्यश्च जरासन्धं स सम्राण्नियतं भवेत् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

ज़बरदस्ती 'कर' न लेता हो। नीच-जरासन्ध ने अनेक महाराजाओं की दुर्दशा कर रक्खी है। सब उससे भय खाते हैं। धर्मराज, जो आप से भी बढ़कर निर्बल हैं वे उस नराधम का क्या बिगाड़ सकेंगे! हे भरतकुल तिलक! बलिदान के लिये लाये गये राजा लोग पशुओं की तरह बड़े कष्ट से पशुपति के मन्दिर में कैद हैं। वह दुरात्मा जरासन्ध शीघ्र ही उनका बलिदान करदेगा। इसी कारण मैं युद्ध करने की सम्मति देता हूं। इसके अतिरिक्त इस घोर निन्दित कर्म को रोकने का दूसरा उपाय ही नहीं। उस दुष्ट ने ८६ (छियासी) राजाओं को पकड़कर कैद कर रक्खा है। और जो चौदह और राजा रह गये हैं उनको भी अपने वश में करना चाहता है। एक सौ पूरे होने पर वह एक साथ उन सबकी हत्या करके अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहता है। हे राजा युधिष्ठिर! इस समय जो कोई उस पापी के इस निष्ठुर हत्याकाण्ड में विघ्न डालकर राजाओं को कैद से छुड़ावेगा उसे अवश्य चिरस्मरणीय कीर्त्ति प्राप्त होगी। जो मनुष्य उसको जीत लेगा वह सम्राट् हो जायगा ॥१४।२५॥

सभापर्व का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

अथ षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

युधिष्ठिर उवाच—सम्राड्गुणमभीप्सन्वै युष्मान् स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण ! सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥
भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥

जरासन्धवलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥ ३ ॥
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥ ४ ॥
यथाऽहं विमृशाम्येकस्तत्तावच्छ्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्याऽस्य जनार्दन ! ।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच-पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥
अर्जुन उवाच—धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् ! दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ७ ॥
कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः ।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥ ८ ॥
कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥ ९ ॥

सोलहवां अध्याय ॥१६॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! साम्राज्य की इच्छा मुझे इतनी प्रबल नहीं कि मैं केवल साहस पर भरोसा करके, अत्यन्त स्वार्थपरता में मूढ़ होकर, आपको उस प्रबल पराक्रमी दस्यु के पास भेज दूँ। भीमसेन और अर्जुन दोनों मेरे नेत्र हैं; आपको मैं अपना मन समझता हूँ। मन और नेत्रों से हीन पुरुष का जीवन कैसे हो सकता है ? राजा जरासन्ध बड़ा बलवान् है, उसको यमराज भी नहीं जीत सकता है। आप लोग जाकर उसका क्या कर लेंगे ? मैं समझता हूँ कि इस काम में हाथ डालने से महा अनर्थ होगा। इसी कारण राजसूय यज्ञ करना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता। अब मेरी यही सम्मति है कि यज्ञ करके सम्राट् होने का विचार ही छोड़ देना ठीक होगा। मैं आपसे सत्य कहता हूँ, इस विषय का आन्दोलन करने से मैं अत्यन्त आकुल हो रहा हूँ। प्रतीत होता है कि राजसूय यज्ञ करना मेरे भाग्य में लिखा ही नहीं ॥१।५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! खाण्डव वन जलाते समय अर्जुन ने अग्नि से गाण्डीव धनुष, अक्षय तर्कस, दिव्य रथ और ध्वजा आदि युद्ध की सामग्री प्राप्त की थी। उन्होंने युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर कहा—हे महाराज ! श्रेष्ठ धनुष, शस्त्र, बाण, पौरुष, स्वपक्ष, राज्य, यश और बल ये वस्तुएँ अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होती हैं।

क्षत्रियः सर्वशो राजन् ! यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये ।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान्हि तरेद्रिपून् ॥ १० ॥
सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥ ११ ॥
जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम् ।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित्प्रमादान्नोपयुज्यते ।
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥ १२ ॥
दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते ।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १३ ॥
जरासन्धविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम् ।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १४ ॥
अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः ।
गुणान्निःसंशयाद्राजन्नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १५ ॥
काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम् ।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

किन्तु सौभाग्यवश मुझे ये सब अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त हो गई है । विद्वान् लोग अच्छे श्रेष्ठ वंश में जन्म की प्रशंसा करते हैं, परन्तु मेरी समझ में बल-वीर्य और साहस की ही प्रशंसा होनी चाहिये । पराक्रमी कुल में उत्पन्न होकर पराक्रम हीन पुरुष क्या कर सकता है ? इसके विपरीत कमजोर वंश में उत्पन्न पुरुष यदि पराक्रमी और बली हैं, तो वह अवश्य अपने को माननीय बना लेगा । जो शत्रु को जीत सके वही सचमुच क्षत्रिय है । बलवान् पुरुष में यदि अन्य अनेक सद्गुण न हों तो भी वह शत्रुओं को जीत सकता है, किन्तु दुर्बल पुरुष चाहे सब अच्छे गुणों की खान हो, तो भी उसके द्वारा कोई काम नहीं होता । जहाँ पराक्रम है, वहाँ सब गुण आपही आ जाते है । अत्यन्त जी लगाना (उत्साह) पौरुष और दैव, यही तीन जय-प्राप्ति के कारण है। अत्यन्त बहादुरी होने पर भी जिसमें एकाग्रता या तत्परता नहीं है, वह विजयी तो होता नहीं, उलटा शत्रुओं से हारकर नीचा देखता है । निर्बल मनुष्य में दीनता होना और बलवान् में मोह होना दोनों नाशकारक है। इसलिये विजय की इच्छा रखने-वाले को इनसे सब तरह बचना चाहिये । राजसूय महायज्ञ करने के लिये दुरात्मा जरासन्ध को मारकर, कैद में पड़े हुए राजाओं को छुड़ाकर, कीर्ति प्राप्त करने से बढ़कर हमारा कर्तव्य और क्या हो सकता है !

इस विषय में शांत रहकर युद्ध न करने से लोग हमें बल-वीर्य-हीन समझेंगे। हे महाराज! युद्धचेष्टा से रहित क्षत्रिय को लोग गुण-हीन समझते हैं। फिर आप निःसंशय गुण से निर्गुण होना क्यों अच्छा समझते है? शान्ति की इच्छा रखनेवाले साधुओं को गेरु रङ्ग का वस्त्र पहन कर वन में रहना उचित है। हम लोग साम्राज्य की इच्छा से शत्रुओं के साथ अवश्य युद्ध करेंगे ॥६।१६॥

सभापर्व का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

वासुदेव उवाच—जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च ।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥
न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनाऽनुशुश्रुम ॥ २ ॥
एतावदेव पुरुषैःकार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥
सुनयस्याऽनपायस्य संयोगे परमः क्रमः ।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः॥ ४ ॥
अनयस्याऽपायस्य संयुगे परमः क्षयः ।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥ ५ ॥

सत्रहवां अध्याय ॥१७॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! अर्जुन के वचन भरतवंश में उत्पन्न वीर पुरुष के योग्य ही हैं। कुन्ती ऐसी माता के पुत्र को जैसा साहस, धैर्य और विचार करना चाहिए, उसमें अर्जुन ने कुछ कसर नहीं की। हम लोग निश्चित रूप से नहीं जानते कि कब, दिन को या रात को, मृत्यु आकर हम पर हमला करेगी; अर्थात् मौत के लिये कोई निश्चित समय नहीं है। हमने यह भी नहीं सुना कि युद्ध न करनेवाला कोई मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। इसलिये क्षत्रिय के धर्म के अनुसार नीति के अनुकूल कार्य करके शत्रुओं पर चढ़ाई करना और उससे अपने चित्त को संतुष्ट बनाना ही वीर पुरुषों का काम है। साम-दान आदि के अनुगामी और क्षय-रहित पुरुष का कार्यारम्भ कभी निष्फल नहीं हो सकता। ऐसा पुरुष शत्रु पर हमला करने से अवश्य युद्ध में विजयी होता है। किन्तु जो नीति और उपाय से रहित है, वह अवश्य युद्ध में नष्ट हो जाता है; उसके सब प्रयत्न निष्फल होते हैं। यदि दोनों पक्ष नीति के अनुसार चलते है, तथा दोनों का पराक्रम भी एक जैसा होता है, तो भी एक पक्ष का विजयी होना सर्वथा असम्भव नहीं; क्योंकि एक की कुछ श्रेष्ठता और दूसरे की कुछ निकृष्टता बनी ही रहती

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ॥ ६ ॥
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ।
व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह ॥ ७ ॥
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममाऽपीह रोचते ।
अनवद्या ह्यसंबुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ॥ ८ ॥
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ।
एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभ ! ॥ ९ ॥
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ।
अथ वैनं निहत्याऽऽजौ शेषेणाऽपि समाहताः ॥ १० ॥
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ।

युधिष्ठिर उवाच—कृष्ण ! कोऽयं जरासन्धः किंवीर्यः किंपराक्रमः ।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाऽग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥

कृष्ण उवाच—शृणु राजन् ! जरासन्धो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः ।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १२ ॥
अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः ।

है; दोनों की सम्पूर्ण समता हो नहीं सकती ॥१।५॥

हम लोग भी नीति का आश्रय लेकर शत्रु के देश में जायँगे और उसपर आक्रमण करके उसी तरह उसे नष्ट कर सकेंगे, जैसे नदी का प्रवाह किनारे के वृक्षों को उखाड़कर गिरा देता है। अपने दोषों को छिपा कर शत्रु के दोषों को देखकर यथासमय आक्रमण करने से अवश्य ही हमारा मनोरथ सिद्ध होगा। बहुत सी सेनावाले, अत्यन्त प्रबल शत्रु के साथ प्रकट रूप से युद्ध करना उचित नहीं। यह पण्डितों की सम्मति मुझे भी मान्य है। इसलिये हम लोग गुप्त-रूप से शत्रु के पास जाकर द्वन्द्वयुद्ध करके उसे मार सकेंगे। इस प्रकार हमारा कार्य पूरा हो जायगा। पराक्रमी जरासन्ध, सब प्राणियों के अन्तरात्मा के समान, सब राजाओं को जीत कर प्रधानता प्राप्त करके अकेला ही राजलक्ष्मी का भोग कर रहा है। वह स्वेच्छाचार करता हुआ एकाधिपत्य कर रहा है। अपनी जाति के राजाओं की रक्षा करने के लिये उसे मारकर पीछे उसकी सेना और सहायकों के द्वारा यदि हम लोग मारे भी जायँगे तो अवश्य स्वर्गलोक के भागी होंगे ॥६।१०॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! यह जरासन्ध कौन है ? उसका बल और पराक्रम कितना है ? मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि अग्नि के समान तुमपर आक्रमण करके वह पतङ्ग के समान भस्म होने

राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १३ ॥
रूपवान्वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवाऽपरः ॥ १४ ॥
तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः ।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥
तस्याऽभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम ! ।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥
स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ ! ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते ॥ १७ ॥
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ।
नाऽतिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा ॥ १८ ॥
स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ।
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः ॥ १९ ॥
तयोर्मध्यगतश्चाऽपि रराज वसुधाधिपः ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः ॥ २० ॥
विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ।

से कैसे बच गया? कृष्ण ने कहा—हे महाराज! जरासन्ध के वीर्य, पराक्रम आदि का वृत्तान्त सुनिये। बार-बार उसके अप्रिय और अनिष्ट करने पर भी क्यों हम लोगों ने उसपर ध्यान नहीं दिया। इसका भी कारण कहता हूँ, सुनिए। मगध देश में एक बड़ा प्रतापी बृहद्रथ नाम का राजा रहता था। उसके पास तीन अक्षौहिणी सेना थी। वह स्वरूपवान्, पराक्रमी, श्रीमान्, युद्ध में देवतुल्य अजेय और सदा यज्ञ की दीक्षा धारण करनेवाला राजा बृहद्रथ इन्द्र के समान प्रजा का पालन करता था। वह तेज में सूर्य के समान, क्षमा में पृथ्वी के समान, ऐश्वर्य में कुबेर के समान और क्रोध में काल-मृत्यु के समान था ॥११।१५॥

वह ऐसा गुणवान् था कि उसके गुणों की प्रशंसा पृथ्वी पर इस प्रकार से फैल गई थी जैसे सूर्य की किरणें सब स्थानों में व्याप्त हो जाती है। काशिराज की दो यमज (जोडिया) कन्याएँ राजा बृहद्रथ की रानी थीं। राजा ने उन दोनों रानियों से यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं तुम दोनों को बराबर दृष्टि से देखूँगा, दोनों को बराबर प्यार करूँगा। दो हथिनियों के बीच जैसा हाथी, अथवा गंगा और यमुना के बीच शरीरधारी समुद्र जैसे शोभित हो, वैसे ही दोनों स्त्रियों के बीच राजा बृहद्रथ शोभायमान था ॥१६।२०॥

विषय भोग करते-करते राजा का यौवन व्यतीत हो गया, परन्तु पुत्र की कामना से बहुत यज्ञ आदि करने पर

न च वंशकरः पुत्रस्तस्याऽजायत कश्चन ॥ २१ ॥
मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः ।
नाऽऽससाद नृपश्रेष्ठःपुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २२ ॥
अथ कक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः ।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २३ ॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् ।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २४ ॥
तमब्रवीत्सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र ! वरं वरय सुव्रत ! ॥ २५ ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद्बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ २६ ॥
राजोवाच—भगवन् ! राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाऽल्पभाग्यस्य किं राज्येनाऽप्रजस्य मे ॥ २७ ॥
श्रीकृष्ण उवाच—एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत्क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाऽऽम्रवृक्षस्यच्छायायां समुपाविशत् ॥ २८ ॥
तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।

भी उसके वंश का चलानेवाला कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। तब दोनों स्त्रियों सहित राजा बृहद्रथ बहुत ही उदास हो गया। इसके पीछे एक समय ऐसा हुआ कि कक्षीवान् गौतम ऋषि का बड़ा तपस्वी चण्डकौशिक नाम का पुत्र अपनी इच्छा से उस राजा के नगर में आया और एक वृक्ष के नीचे उसने वास किया। उसके आने का वृत्तान्त सुनकर राजा अपनी दोनों स्त्रियों-सहित उसके पास गया। पाद्य अर्घ्य आदि से सत्कार करके राजा ने उन्हें प्रसन्न किया ॥२१।२५॥

राजा की भक्ति और सेवा से संतुष्ट होकर सत्यवादी जितेन्द्रिय ऋषिवर ने उनसे वरदान माँगने के लिये कहा। दोनों स्त्रियों के साथ साष्टाङ्ग प्रणाम करके आँखों में आँसू भरे हुए राजा ने गद् गद् स्वर से कहा—हे महाराज ! मैं बड़ा अभागा हूँ। अब तक पुत्र का मुख न देख पड़ने के कारण मुझे बड़ी चिन्ता और दुःख सताये रहता है। निराश होकर विषय-भोग को त्यागकर, मैं इस समय दोनों स्त्रियों के साथ तप करने की इच्छा से वन को जा रहा हूँ। मुझे अब वरदान माँगकर क्या करना है ? राजा के दुःख भरे दीन वचन सुनकर मुनि को दया आ गई। वे उसी वृक्ष के नीचे आँखें बन्द करके ध्यान करने लगे। राजा के पुत्र न होने के कारण को जानने के लिये वे ध्यान कर रहे थे कि उस वृक्ष से एक पका

अवानमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २९ ॥
तत्प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाऽभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसंप्राप्तिकारणम् ॥ ३० ॥
उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन्कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ! ॥ ३१ ॥
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३२ ॥
यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात्पत्नीभ्यां भरतर्षभ ! ॥ ३३ ॥
ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चाऽर्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥ ३४ ॥
तयोः समभवद्गर्भः फलप्राशनसंभवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३५ ॥
अथ काले महाप्राज्ञ ! यथासमयमागते ।
प्राजायेतां शुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३६ ॥
एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।

हुआ आम का फल उनकी गोद में आकर गिरा । वह फल न तो सूखा हुआ था और न किसी तोते आदि पक्षी ने उसे जूठा ही किया था। मुनिवर ने उस फल को हाथ में ले लिया । उन्हें जान पड़ा कि वह फल राजा को पुत्र की प्राप्ति के लिये ईश्वर ने ही दिया है। मुनिवर ने अपने तप के बल से अभिमन्त्रित करके वह फल राजा के हाथ में दिया और कहा— हे राजन् ! तुम्हारा मनोरथ सफल हो गया । यह फल अपनी स्त्री को खिला दो। तुम्हारे पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा । अब तुम वनवास का विचार छोड़कर अपनी राजधानी को लौट जाओ । हे महाराज ! मुनि की आज्ञा पाकर उनके दिये फल और आशीर्वाद को सादर ग्रहण करके राजा बृहद्रथ अपने घर को लौट आये ॥२६।३२॥

उन्होंने अपनी पहले की प्रतिज्ञा के अनुसार वह आम का फल दोनों स्त्रियों को दिया । उन स्त्रियों ने भी उस फल को बराबर बाँटकर, खा लिया। कुछ समय के व्यतीत होने पर मुनि का कहना पूरा हो गया । दोनों स्त्रियों को गर्भ रह गया। स्त्रियों के गर्भवती होने की सूचना पाकर राजा बृहद्रथ को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ ॥३३।३५॥

हे महाराज ! दस महीने समाप्त होने पर दोनों स्त्रियों के शरीर से दो टुकड़े अलग-अलग उत्पन्न हुए । स्त्रियों ने देखा,दोनों टुकड़ों के एक आँख,एक

दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥ ३७ ॥
उद्विग्ने सह संमन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाऽवले ।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३८ ॥
तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसंप्लवे ।
निर्गम्याऽन्तःपुरद्वारात्समुत्सृज्याऽभिजग्मतुः ॥ ३९ ॥
ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाऽथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र ! मांसशोणितभोजना ॥ ४० ॥
कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी ।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४१ ॥
ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ !
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४२ ॥
ततः सा राक्षसी राजन्विस्मयोत्फुल्ललोचना ।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४३ ॥
बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चाऽऽस्ये निधाय सः ।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४४ ॥

कान,एक हाथ,एक पैर, आधा चेहरा,आधा पेट और आधा कटिभाग अलग-अलग है। यह आश्चर्य घटना देखकर दोनों स्त्रियाँ राजा के भय से काँपने लगीं। उन्होंने परस्पर में यह सम्मति की कि ऐसे खण्डित और मरे हुए पुत्र होने की सूचना महाराज को देने से वे हम पर अवश्य नाराज़ हो जायँगे, इसलिये इन दोनों टुकड़ों को धाय के हाथ बाहर फिकवा देना ही ठीक है। इसी विचार के अनुसार ही कार्य हुआ। दोनों स्त्रियों की आज्ञा से उन टुकड़ों को वस्त्र में लपेटकर, गुप्त रूप से महल के बाहर ले जाकर, चौराहे पर वह धाय डाल आई ॥३६।३९॥

हे राजन्! मेदा और मास आदि को भक्षण करनेवाली जरा नाम की राक्षसी दैवयोग से उधर से आ निकली। उसने उन विचित्र शरीर के टुकड़ों को चौराहे पर पड़े देखकर उठा लिया। उस राक्षसी ने, आसानी से ले जाने की इच्छा से, दोनों टुकड़ों को एक में मिला दिया। मिलाते ही वे टुकड़े आपस में जुड़ गये और एक सुन्दर बालक बन गया। विधाता का विधान ही ऐसा था। इसी से वह राक्षसी उधर से निकली; उसने दोनों टुकड़ों को उठाया और एक में मिलाया। टुकड़ों के मिलाते ही, सजीव होकर बालक बन जाने से उस राक्षसी को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उस बालक को बार-बार देख रही उस राक्षसी ने अपनी गोद में उठाना चाहा, पर वह बालक पर्वत ऐसा [illegible]री हो गया। राक्षसी उसे उठा नहीं सकी। भूख से व्याकुल वह बालक लाल-लाल हथेलीवाली मुट्ठी मुँह में डालकर मेघ के गरजने के समान गम्भीर स्वर से रोने लगा ॥४०।४४॥

तेन शब्देन संभ्रान्तः सहसाऽन्तःपुरे जनः ।
निर्जगाम नरव्याघ्र ! राज्ञा सह परंतप ! ॥ ४५ ॥
ते चाऽवले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे ।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाऽभ्यगच्छताम् ॥ ४६ ॥
तेऽथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम् ।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४७ ॥
नाऽर्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः ।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥
सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम् ।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४९ ॥
राक्षस्युवाच—बृहद्रथ ! सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् ।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयाऽयं परिरक्षितः ॥ ५० ॥
श्रीकृष्ण उवाच—ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपद्याऽऽशु प्रस्रवैरभ्यषिञ्चताम् ॥ ५१ ॥

उसके रोने के शब्द को सुनकर महल से राजा और अन्य लोग शीघ्र से निकल आये। उदास, दूध से भरे स्तनोंवाली और पुत्र-लाभ से निराश दोनों स्त्रियां भी एकाएक उसी ओर दौड़ी आई। उस दशा में स्त्रियों को और सन्तान के लिये चिन्तित राजा को, बहुत लोगों के साथ, उधर आते देखकर और बालक के भी महाबली होने का परिचय पाकर 'जरा' राक्षसी सोचने लगी कि मैं धार्मिक महात्मा राजा के राज्य में रहती हूँ और यह राजा पुत्र पाने के लिये बहुत ही चिन्तित है। इस कारण राजा बृहद्रथ के इस पुत्र को मारना उचित न होगा। इसलिये इस बालक को न मारकर राजा के हवाले ही कर दूँ। अब क्या था, उस मायाविनी राक्षसी ने मनुष्य का रूप धारण कर लिया। बादलों में जैसे सूर्य की शोभा होती है, वैसे ही उस राक्षसी की गोद में वह बालक शोभायमान हुआ। वह राक्षसी उस बालक को गोद में लिये राजा बृहद्रथ के पास जाकर कहने लगी—हे राजन्! मैं तुमको यह पुत्र देती हूँ, ले लो। एक ब्राह्मण की कृपा से तुम्हारी दोनों स्त्रियों के गर्भ से, अलग-अलग दो टुकड़ों के रूप में यह सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ था। दो टुकड़े अलग-अलग देखकर भय के मारे स्त्रियों ने धाय के हाथों इसे चौराहे पर फिकवा दिया था। इसे देखकर मैंने जिलाया है ॥४५।५०॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! उस बालक को देखकर स्नेह की प्रबलता के मारे स्त्रियों के स्तनों

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५२ ॥
राजोवाच—का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥ ५३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

से दूध की धारा बह निकली। उन्होंने उसी समय बड़े आनन्दपूर्वक बच्चे को गोद में ले लिया। सब वृत्तान्त सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। इसके पश्चात् उन्होंने परम सुन्दर स्त्री का रूप रखनेवाली जरा राक्षसी से कहा—हे कमल-नयनी! मुझे मेरा पुत्र देनेवाली तुम कौन हो? मेरी समझ में तुम कोई देववधू जान पड़ती हो ॥५१।५३॥

—:०—

सभापर्व का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

राक्षस्युवाच—जरा नामाऽस्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी ।
तव वेश्मनि राजेन्द्र! पूजिता न्यवसं सुखम् ॥ १ ॥
गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी ।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ॥ २ ॥
दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी ।
यो मां भक्त्या लिखेत्कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम् ॥ ३ ॥
गृहे तस्य भवेद्वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् ।
त्वद्गृहे तिष्ठमाना तु पूजिताऽहं सदा विभो! ॥ ४ ॥
लिखिता चैव कुड्येऽहं पुत्रैर्बहुभिरावृता ।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यैर्भोज्यैः सुपूजिता ॥ ५ ॥

अठारहवां अध्याय ॥ १८ ॥

राजा की यह बात सुनकर उस राक्षसी ने कहा—हे महाराज! मैं जरा नाम की राक्षसी हूं। मैं चाहे जैसा रूप धारणकर चाहे जहाँ आ-जा सकती हूं। मैं तुम्हारे राज्य में समुचित सम्मान के साथ रहती हूँ। सब मनुष्यों के घर में नित्य रहती हूं। ब्रह्मा जी ने मुझे गृहदेवी नाम से दानव-नाशार्थ उत्पन्न किया है। जो कोई स्त्री पुत्र-सहित मेरी मूर्ति दीवार में लगाकर भक्ति सहित पूजा करती है उसके कुल की वृद्धि होती है। और जो ऐसा नहीं करती उसका कुल नाश हो जाता है। हे राजन्! तुम्हारे घर में मेरी पूजा बहुत अच्छी तरह से हुआ करती है। मेरे स्वरूप को भीत पर पुत्रों-सहित लिख लिख कर गन्ध, पुष्प, धूप

साऽहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव ।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ! ॥ ६ ॥
संश्लेषिते मया दैवात्कुमारः समपद्यत ।
तव भाग्यान्महाराज ! हेतुमात्रमहं त्विह ॥ ७ ॥
मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् ।
गृहसंपूजनात्तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव ॥ ८ ॥
श्रीकृष्ण उवाच—एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवाऽन्तरधीयत ।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः ॥ ९ ॥
तस्य बालस्य यत्कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा ।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम् ॥ १० ॥
तस्य नामाऽकरोच्चैव पितामहसमः पिता ।
जरया संधितो यस्माज्जरासन्धो भवत्वयम् ॥ ११ ॥
सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः ।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवाऽनलः ।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

और नैवेद्य से तुम्हारी रानियां पूजा किया करती हैं। इससे तुम्हारा उपकार करने की मुझे नित्य चिन्ता रहती थी ॥१।६॥

सो आज तुम्हारे इस पुत्र के शरीर की दोनों फाँकों को यहाँ पड़ा हुआ देखकर मैंने उठा लिया और दोनों को मिलाने पर देव-इच्छा से यह लड़का हो गया। हे महाराज ! इस घटना का कारण तुम्हारा भाग्य ही है, मैं तो निमित्त हो गई हूँ। तुम्हारे इस बालक की कौन कहे, मैं तो सुमेरु पर्वत को भी भक्षण कर सकती हूँ। तुम्हारे घर में अपना पूजन होने से, तुमपर प्रसन्न होकर, यह पुत्र मैं तुमको फेर देती हूँ। श्रीकृष्ण जी बोले—हे राजा युधिष्ठिर ! इतना कहकर वह राक्षसी अन्तर्द्धान हो गई। राजा बृहद्रथ भी प्रसन्नतापूर्वक उस बालक को लेकर अपने घर आये। अब उन्होंने बालक के जात कर्म आदि संस्कार कराये। फिर उनकी आज्ञा से 'जरा' राक्षसी के नाम पर मगध देश में बड़ा भारी उत्सव किया था। जरा राक्षसी के द्वारा मिलने के कारण से उस पुत्र का नाम जरासन्ध रक्खा गया। माता-पिता के आनन्द को बढ़ानेवाला वह बालक शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़कर बड़ा तेजस्वी हो गया ॥७।१२॥

—(*)—

सभापर्व का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—कस्यचित्त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥
तस्याऽऽगमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ! ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां पार्थिवाद्भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन्प्रहृष्टेनाऽन्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन्दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र ! यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥
अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥
प्रापयिष्यति तत्सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नाऽनुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥
पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चाऽस्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥
देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ! ।

उन्नीसवां अध्याय ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! कुछ समय के व्यतीत होने पर वही चण्डकौशिक मुनि फिर मगध देश में आये। उनके आने का हाल सुनकर राजा बृहद्रथ अपने मन्त्री, पुत्र और रानियों सहित उनके पास गया और पाद्य, अर्घ्य आदि से उनका पूजन करके अपना पुत्र राज्यसहित निवेदन किया। वह ऋषि राजा की पूजा को अङ्गीकार करके प्रसन्नतापूर्वक बोले कि हमको दिव्य दृष्टि से तुम्हारे पुत्र की सब व्यवस्था मालूम हो गई थी। यह तुम्हारा पुत्र बड़ा पराक्रमी और स्वरूपवान् होगा। और इसके घर में लक्ष्मी का बड़ा प्रकाश होगा। इसके पराक्रम के आगे सब राजा लोग इस प्रकार से अस्त हो जायँगे जैसे गरुड़ के सामने पक्षी हो जाते हैं। और इसके सब शत्रु नष्ट हो जायँगे। जैसे नदी के प्रवाह का वेग पर्वत से टकराकर व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही उनके शस्त्र इसके शरीर में लगकर बे-काम हो जायँगे। राजसिंहासन पर जिनका अभिषेक हुआ है उन सबका यह मुकुटमणि होगा। उन लोगों का तेज इसके

न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥
सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥
एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥
एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥
एष धारयिता सम्यक्चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥
अस्याऽऽज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥
एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद्द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥
एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथाऽरिहन् ! ॥ १६ ॥
प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसंबन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासन्धं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।

सामने ऐसे अस्त हो जायगा जैसे सूर्य के उदय होने पर सब तारागण क्षीण पड़ जाते हैं। पतङ्ग जैसे आग के ऊपर गिरकर भस्म हो जाते हैं वैसे ही चतुरङ्गिणी सेना लेकर इस बालक पर चढ़ाई करनेवाले सब राजा नष्ट हो जायँगे ॥२।११॥

वर्षा में बढ़ी हुई नदियों और नदों के जल को जैसे समुद्र अपने पेट में रख लेता है वैसे ही यह बालक सब राजाओं की राजलक्ष्मी को छीन लेगा। सब अन्नों को उत्पन्न करनेवाली समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी जैसे भली और बुरी सब वस्तुओं को धारण करती है वैसे ही यह भी चारों वर्ण की प्रजा का पालन करेगा—उनका आश्रय रूप होगा। शरीरधारी लोग जैसे,सब प्राणियों के आत्मरूप,वायु के अधीन हैं वैसे ही सब राजा इसके अधीन होकर इसकी आज्ञा का पालन करेंगे। यह महाबली कुमार महादेव रुद्र के दर्शन पाकर धन्य होगा ॥१२।१५॥

हे महाराज ! राजा बृहद्रथ से यों कहकर चण्डकौशिक ऋषि किसी अन्य कार्य के लिये वहां से चल दिये। मुनि से विदा होकर राजा बृहद्रथ प्रसन्नता से अपने नगर को गया। जातिवालों और सम्बन्धियों

अभिषिक्ते जरासन्धे तदा राजा बृहद्रथः ।
पत्नीद्वयेनाऽनुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥
ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासन्धः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद्वशे ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच-अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत्तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥
जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥
निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥
भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ! ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २३ ॥
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याऽद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २४ ॥
दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग्गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत्ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥

को एकत्र करके राजा बृहद्रथ ने मगध के राजसिंहासन पर जरासन्ध का अभिषेक कर दिया। उसको राज्य देकर दोनों स्त्रियों के साथ राजा तप करने के लिये तपोवन को चला गया। पिता का राज्य पाकर जरासन्ध भी अपने पराक्रम और बाहुबल से सब राजाओं को वश में करके एकच्छत्र राज्य स्थापित करने का उद्योग करने लगा ॥१८।१९॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! बहुत समय तक तप करने के पीछे राजा बृहद्रथ अपनी दोनों स्त्रियों-सहित स्वर्गवासी हुआ। और जरासन्ध ने चण्डकौशिक मुनि के कहने के अनुसार सब राज्य का पालन किया। [उसी समय मथुरा का राजा कंस जरासन्ध का मित्र और सम्बन्धी हो गया।] श्रीकृष्ण ने [हंस, डिम्भक और] कंस को मार डाला। [जरासन्ध की कन्याएँ विधवा हो गईं] इसी कारण श्रीकृष्ण से और जरासन्ध से शत्रुता हो गई। जरासन्ध ने उस वैर का बदला लेने के लिये अपनी राजधानी से ही एक बड़ी भारी गदा निन्नानवे बार घुमाकर ज़ोर से फेंकी। वह गदा निन्नानवे योजन पर मथुरा के पास आकर गिरी। उस समय श्रीकृष्ण मथुरा में ही थे [किन्तु उस गदा से उनका कुछ नहीं बिगड़ा] पुरवासियों ने उस गदा को देखकर सब हाल आकर श्रीकृष्ण से कहा। वह गदा जहाँ पर गिरी थी वह स्थान गदावसान के नाम से विख्यात हुआ॥२०।२५॥

तस्याऽऽस्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रविशारदौ ॥ २६ ॥
यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥
एवमेष तदा वीर ! बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज ! नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः॥ १९॥
समाप्तं च राजसूयारम्भपर्व ।

जरासन्ध के हंस और डिम्भक नाम के दो सेनापति जिनकी मृत्यु शस्त्र से नहीं होती थी और दोनों मन्त्र और नीतिशास्त्र के परम ज्ञाता थे उनका हाल मैं पहले तुमसे कह चुका हूँ कि वे दोनों तीसरे जरासन्ध सहित तीनों लोकों को जीत सकते थे। इसी कारण, दुर्बल को सबल का सामना न करना चाहिये - इस नीति का ख्याल करके, बलवान् होने पर भी वृष्णि, कुकुर, भोज और अन्धक आदि वंशों के यादवों ने जरासन्ध से युद्ध करना उचित नहीं समझा ॥२६।२८॥

सभापर्व का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥



अथ विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥
अथ जरासन्धवधपर्व ॥

वासुदेव उवाच—पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः ।
जरासन्धस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥
न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः ।
प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ॥ २ ॥
मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चाऽऽवयोर्जयः ।

बीसवां अध्याय ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! अब हंस और डिम्भक दोनों यमुना में डूब कर मर चुके और सब साथियों-समेत नीच कंस भी मारा गया। केवल यह जरासन्ध रह गया है सो इसके मरने का भी समय अब आ पहुँचा है। युद्ध में तो इसको सब असुर और देवता भी नहीं जीत सकते हैं। इसलिये मेरी सम्मति तो यह है कि द्वन्द्वयुद्ध में यह हराया और मारा जा सकेगा। मैं नीति का जानकार हूँ, भीमसेन बलवान् हैं और अजेय अर्जुन हमारे सहायक साथी हैं ! तीन अग्नि जैसे यज्ञ कार्य करते हैं, वैसे ही हम तीनों मिलकर अवश्य दुष्ट जरासन्ध को मारने का काम पूरा कर लेंगे। हम तीनों एकान्त में जाकर उससे युद्ध करने की इच्छा प्रकट करेंगे तो यह हममें से एक से युद्ध करने को अवश्य राज़ी हो जायगा।

मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाऽग्नयः ॥ ३ ॥
त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः ।
न संदेहो यथा युद्धमेकनाऽप्युपयास्यति ॥ ४ ॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति ॥ ५ ॥
अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायाऽन्तको यथा ॥ ६ ॥
यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि ।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अच्युताऽच्युत! मा मैवं व्याहराऽमित्रकर्शन ! ।
पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाऽऽश्रिता वयम् ॥ ९ ॥
यथा वदसि गोविन्द ! सर्वं तदुपपद्यते ।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी ॥ १० ॥
निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः ।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥

अपमान, राज्यलोभ और बाहुबल के घमण्ड के कारण यह अवश्य भीमसेन से ही युद्ध करना चाहेगा। सिर उठानेवाले घमण्डी आदमी को जैसे मौत मार डालती है वैसे ही घमण्डी जरासन्ध को भीमसेन मार लेगा। यदि आप मेरे हृदय की बात जानते हैं और मुझपर आपको विश्वास है तो शीघ्र ही धरोहर के तौर पर भीमसेन और अर्जुन को मुझे सौंप दीजिए ॥१।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण के वचन सुनकर और अपने सामने प्रसन्नचित्त भीमसेन तथा अर्जुन को खड़े देखकर युधिष्ठिर ने कहा—हे पुरुषोत्तम ! तुम यह क्या कह रहे हो ! तुम पाण्डवों के सहायक और स्वामी हो; हम लोगों को तुम्हारा ही सहारा है। तुम्हारा कहना सब ठीक है, तुम जो कहोगे और सम्मति दोगे उसे मैं युक्तिसिद्ध और कर्त्तव्य समझता हूँ। सौभाग्य-लक्ष्मी जिनसे विमुख होती है उनके सहायक तुम कभी नहीं हो सकते। मुझे पूर्ण विश्वास है, तुम्हारी आज्ञा पर चलने से मेरा सब कार्य बन जायगा। मैं समझता हूँ कि जरासन्ध मर गया, राजाओं को छुटकारा मिल गया और राजसूय यज्ञ भी सकुशल पूरा हो गया ॥८।११॥

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत्कार्यं समुपपद्यते ।
अप्रमत्तो जगन्नाथ ! तथा कुरु नरोत्तम ! ॥ १२ ॥
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाऽहं जीवितुमुत्सहे ।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त इव दुःखितः ॥ १३ ॥
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना ।
नाऽजेयोस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ॥ १४ ॥
अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥
सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥
यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम् ।
यतश्छिद्रं ततश्चाऽपि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥
तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥
एवं प्रज्ञा-नयबलं क्रियोपायसमन्वितम् ।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

हे जगदीश्वर ! जिस उपाय से यह कार्य शीघ्र हो जाय उस तरह सावधानी के साथ आरम्भ कर दो। भीम, अर्जुन और तुम, तीनों के बिना मैं वैसे ही जीवित नहीं रह सकता जैसे धर्म, अर्थ और काम से रहित दुःखित रोगी मनुष्य नहीं जीवित रह सकता। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अर्जुन के बिना कृष्ण और कृष्ण के बिना अर्जुन नहीं रह सकते। ऐसा कोई कार्य नहीं जिसे कृष्ण और अर्जुन मिलकर पूरा न कर सकते हों; ऐसा कोई बली नहीं जिसे न जीत सकते हों। बली पुरुषों में श्रेष्ठ यह यशस्वी भीमसेन, तुम दोनों की सहायता पाकर, सब कुछ कर सकता है। सेनापति की जानकारी और चतुराई की सहायता पाकर सिपाही लोग झटपट शत्रु पर विजय पा सकते हैं। बिना सेनापति की सेना को पण्डित लोग अन्धे और जड़ मनुष्य के समान कहते हैं। [इसलिये नीतिनिपुण पुरुष को ही नेता या सेनापति का कार्य सौंपा जाता है।] क्योंकि चतुर मनुष्य उसको इस प्रकार से ले जाकर अपना अर्थ सिद्ध करते हैं जैसे धीवर लोग जल को उसी राह से ले जाते हैं जिधर निचान अथवा छिद्र होता है। इसी प्रकार से हे श्रीकृष्ण ! तुम नीति विधान में चतुर हो। हम लोग तुम्हारे पीछे-पीछे उसी प्रकार से चलेंगे जिस प्रकार से तुम आज्ञा करोगे और अपने सब कार्यों में तुम ही को आगे रक्खेंगे, क्योंकि तुम नीति-बुद्धि और

एवमेव यदुश्रेष्ठ ! यावत्कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम् ।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम् ।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनान्दिताः ॥ २२ ॥
अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् ।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत्तदा वपुः ॥ २३ ॥
हतं मेने जरासन्धं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥
ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ ।
धर्मकामार्थकार्याणां लोकानां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥
कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च ।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याऽव्रजन्त ते ॥ २७ ॥
उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां मालां चर्मण्वतीं नदीम् ॥ २८ ॥

उपाय के बल से युक्त हो। सो आगे-आगे तुम चलो तुम्हारे पीछे अर्जुन और अर्जुन के पीछे भीमसेन चलेगा। इस प्रकार से नीति, जय और बल तीनों के एक जगह होने पर हमारा कार्य सिद्ध होगा । ॥१२।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार से सब भाई सम्मति करके भीमसेन और अर्जुन श्रीकृष्ण जी सहित मगध देश की ओर चल दिये। तीनों ने ब्राह्मणों के से वस्त्र पहनकर अपना वेष बदल लिया और अपने जातियालों के कार्य को विचार कर क्रोध के कारण से तीनों का शरीर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के समान झलकने लगा। मनुष्यों ने उन दोनों एव रूप कृष्ण और अर्जुन को जो धर्म और काम के कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले थे, भीमसेन के आगे-आगे जाते हुए देखकर जरासन्ध को मरा हुआ समझ लिया। वे तीनों कुरुजाङ्गल देश से चलकर पद्म सरोवर और कालकूट पर्वत और गण्डकी, महाशोना, सदानीरा, एक पर्वत की नदियां सरयू, कोशला, माला और

अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥
ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

चर्मण्वती आदि नदियों पर होते हुए गंगा और शोणभद्र नदियों को उतरकर पूर्व दिशा की ओर चले गये और मगधपुर के समीप आ पहुंचे और वहां गोरथ पर्वत पर चढ़कर उस नगर को देखने लगे जो बहुत सी गायें और नाना प्रकार के वृक्षों से सुशोभित हो रहा था ॥२९।३०॥

सभापर्व का बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीवासुदेव उवाच–एष पार्थ ! महान्भाति पशुमान्नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥
वैहारो विपुलःशैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाऽभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥
पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥
शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत्काक्षीवाद्यान्सुतान्मुनिः ॥ ५ ॥

इक्कीसवां अध्याय ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा–हे अर्जुन ! देखो, मगधदेश की राजधानी की कैसी अपूर्व शोभा है । यह देश पशुओं से, यथेष्ट जल से और बड़े-बड़े महलों से शोभित है । यहाँ व्याधि आदि बाधाएँ नहीं हैं । इस देश में किसी प्रकार का कोई उपद्रव नहीं देख पड़ता । यह देश वैहार, वृषभ, वराह, ऋषि और चैत्यक नाम पांच पहाड़ों से जो एक दूसरे से मिले हुए और ऊँचे ऊँचे शिखर और सुन्दर वृक्षों से शोभित हो रहे हैं, घिरा हुआ है । लाल-लाल नये पल्लवोंवाले, सुगन्धित फूले हुए वृक्षों से मनोहर, कामी पुरुषों को प्रिय ये लोध्र वृक्षों के वन मानों चारों ओर से इस नगरी को छिपाये हुए हैं ॥१।४॥

यह देखो, इस स्थान पर गौतम ऋषि ने औशीनरी नाम की शूद्रा के गर्भ से काक्षीवान्

गौतमस्य क्षयात्तस्माद्यथाऽसौ तत्र सद्मनि ।
भजते मानवं वंशं स नृपाणामनुग्रहः ॥ ६ ॥
अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुराऽर्जुन ! ॥ ७ ॥
वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ ! गौतमौकः समीपजाः ॥ ८ ॥
अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्याऽऽलयश्चाऽत्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥
अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाऽप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥
एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासन्धोऽभिमन्यते ॥ ११ ॥
वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेम हि ।

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ॥ १३ ॥
स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ।

आदि पुत्र उत्पन्न किये थे । शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी जो ये राजा राज्य कर रहे हैं, सो इस वंश पर गौतम ऋषि की कृपा ही इस का कारण है । पहले समय में अंग, वंग आदि देशों के राजा इस गौतम ऋषि के आश्रम में आकर, यहाँ की शोभा देखकर, अपार आनन्द प्राप्त करते थे । वह देखो, गौतम ऋषि के आश्रम के आस-पास लोध्र और पीपलों के वनों की कैसी अपूर्व शोभा देख पड़ती है । इसी स्थान पर शत्रुदमन, अर्बुद, शक्रवापी, स्वस्तिक, मणिनाग और और नागों के रहने के स्थान हैं, और वे सदैव यहाँ रक्षा किया करते हैं । मनु जी ने इस देश को ऐसा बनाया है कि यहां सब कालों में वर्षा रहती है । जरासन्ध ऐसे रक्षित और रमणीय नगर के पाने ही के कारण से अपने को अर्थसिद्ध मानता है, सो हम आज मिलकर उसके इस घमण्ड को तोड़ डालेंगे ॥५।११॥

वैशम्पायन कहते हैं–हे राजा जनमेजय ! यादव-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इस प्रकार भीम और अर्जुन को अनेक स्थान और वस्तुएँ दिखाते हुए नगर के समीप पहुंच गये । वह नगरी बहुत समृद्धिशालिनी थी । उसमें नित्य उत्सव हुआ करते थे । वहा चारों वर्ण की प्रजा रहती थी । उसपर कोई शत्रु सहज में आक्रमण नहीं

ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ।
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ।
मागधानां तु रुचिरं चैत्यकान्तरमाद्रवन् ॥ १४ ॥
यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्त्रो भेरीरकारयत् ॥ १५ ॥
स्वपुरे स्थापयामास तेन चाऽऽनह्य चर्मणा ।
यत्र ताः प्राणदन्भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १६ ॥
भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन् ।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानायुधास्तथा ॥ १७ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन् ।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासन्धं जिघांसवः ॥ १८ ॥
स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत्तत्पुरातनम् ।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याऽभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २० ॥
एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ॥ २१ ॥

कर सकता था। कृष्ण जी नगरी के फाटक में होकर भीतर नहीं गये। राजा और प्रजा जिसकी पूजा करते थे उस उन्नत और मनोहर नगर चैत्य की ओर तीनों वीर शीघ्रता के साथ गये। उस चैत्य में तीन बहुत बड़े नगाड़े रक्खे हुए थे। राजा बृहद्रथ ने मांसभक्षक ऋषभासुर को मारकर उसकी खाल से मढ़वा कर ये तीनों नगाड़े वहां पर रखवा दिये थे। उन नगाड़ों की फूल आदि से नित्य पूजा हुआ करती थी। उन पर चोट पड़ने से ऐसा गम्भीर शब्द होता था कि वह महीने भर तक सुन पड़ता था। इन वीरों ने वहां आकर पहले उन नगाड़ों को तोड़ डाला। फिर जरासन्ध के मारने की इच्छा रखनेवाले ये वीर उस चैत्य (मन्दिर) की दीवार के पास पहुंचे। वह मन्दिर बहुत पुराना था, चन्दन आदि से उसकी नित्य पूजा हुआ करती थी। इन वीरों ने अपने विशाल बलवान् हाथों से ही उस चैत्य को गिरा दिया फिर ये प्रसन्नता-पूर्वक उसी राह से नगरी के भीतर घुसे ॥१२।२०॥

इसी अवसर में ब्राह्मणों ने बहुत से दुष्ट शकुन देखकर राजा जरासन्ध को दिखलाये, और पुरोहितों ने उसको हाथी पर चढ़ा कर उसके चारों ओर अग्नि फिराकर फेंक दी। और राजा ने उन दुष्ट शकुनों की शान्ति के लिये दीक्षित होकर उपवास किया।

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासन्धः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ।
स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ॥ २३ ॥
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासन्धेन भारत ! ।
भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ॥ २४ ॥
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ।
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ॥ २५ ॥
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
वलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ॥ २६ ॥
विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाऽऽजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ॥ २७ ॥
गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवतो यथा ।
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ॥ २८ ॥
अशोभन्त महाराज! बाहवो युद्धशालिनाम् ।
तान्दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्छालस्कन्धानिवोद्गतान् ॥ २९ ॥
व्यूढोरस्कान्मागधानां विस्मयः समपद्यत ।

इधर स्नातक का वेष बनाये, निहत्थे, केवल बाहुबल के भरोसे जरासन्ध से युद्ध करने की इच्छा रखनेवाले कृष्ण, अर्जुन और भीम नगरी के भीतर पहुँचे। राजमार्ग में पहुँचकर उन्होंने देखा, दोनों ओर अनेक प्रकार की वस्तुओं से भरी हुई दुकानें लगी हुई हैं। उनमें खाने-पीने और पहनने के सामान भरे पड़े हैं। तीनों वीर इसतरह नगरी की शोभा और समृद्धि देखते हुए राजमहल की ओर चले ॥२१।२४॥

एक माली की दुकान पर सुन्दर सुगन्धित फूलों की मालाएँ रक्खी हुई थीं। इन वीरों ने उससे मालाएँ छीनकर पहन लीं। रङ्गीन वस्त्र, माला और कुण्डल आदि पहने ये तीनों वीर, गोशाला की खोज में जा रहे सिंहों के समान, जरासन्ध के घर की खोज में चले। उन वीरों की भुजाओं में चन्दन और अगुरु लगा हुआ था, वे साखू के लट्ठों के समान जान पड़ती थीं। शाल वृक्ष के समान ऊँचे डील के, चौड़ी-चौड़ी छातीवाले, गजराज सदृश तीनों वीरों को देखकर मगध देश के निवासियों को बड़ा आश्चर्य होता था ॥२५।२९॥

हे महाराज ! वे तीनों वीर, बहुत से लोगों से परिपूर्ण राजभवन की तीन ड्योढ़ियाँ लाँघकर, बिना किसी सङ्कोच के अहङ्कार का भाव दिखाते हुए जरा-

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ॥ ३० ॥
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ।
तान्पाद्यमधुपर्कार्हान्गवार्हान्सत्कृतिं गतान् ॥ ३१ ॥
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ।
उवाच चैतान्राजाऽसौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ॥ ३२ ॥
मौनमासीत्तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ! ।
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥ ३३ ॥
वक्तुं नाऽऽयाति राजेन्द्र ! एतयोर्नियमस्थयोः ।
अर्वाङ्निशीथात्परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ॥ ३४ ॥
यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ।
ततोऽर्धरात्रे संप्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ॥ ३५ ॥
तस्य ह्येतद्व्रतं राजन् ! बभूव भुवि विश्रुतम् ।
स्नातकान्ब्राह्मणान्प्राप्ताञ्श्रुत्वा स समितिंजयः ॥ ३६ ॥
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ! ।
तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ॥ ३७ ॥
उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाऽभवत्तदा ।
ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्धं नरर्षभाः ॥ ३८ ॥

सन्ध के पास पहुँचे। उन्हें देखते ही जरासन्ध आदर का भाव दिखाकर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। आये हुए तीनों वीरों को आदर-सत्कार के योग्य समझकर जरासन्ध ने आसन, पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क आदि पूजन की सामग्री से विधिपूर्वक सत्कार करके स्वागत और कुशलप्रश्न किया। भीमसेन और अर्जुन चुप रहे। बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाराज! ये इस समय मौनी हैं, इसलिये नहीं बोलेंगे। आधी रात्रि के पश्चात् ये आप से बातचीत करेंगे॥३०।३४॥

इन तीनों वीरों को यज्ञशाला में ठहराकर राजा जरासन्ध अपने रनिवास में चला गया। आधी रात्रि के व्यतीत हो जाने पर वह फिर उनके पास आया। हे भरतश्रेष्ठ ! महाराज जरासन्ध का ऐसा नियम था कि आधी रात्रि को भी यदि स्नातक ब्रह्मचारी आये तो वह उसी समय उसके पास जाकर उसका सत्कार करता था। उसका यह नियम सब जगत् में विख्यात था। पास जाकर उनके अपूर्व वेष को देखकर जरासन्ध को बड़ा अचरज हुआ। ये तीनों वीर राजा जरासन्ध को अपने समीप आया हुआ देखकर बोले कि तुम्हारा कल्याण निर्विघ्नता से हो। यह सुनकर जरासन्ध ने उन तीनों छद्मवेष-धारियों को बैठने की आज्ञा दी। और वे तीनों इस प्रकार से बैठ गये

इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ।
*स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥
तं नृपं नृपशार्दूल! प्रेक्षमाणाः परस्परम् ।
तानब्रवीज्जरासन्धस्तथा पाण्डवयादवान् ॥ ४० ॥
आस्यतामिति राजेन्द्र! ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ।
अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ॥ ४१ ॥
संप्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाऽग्नयः ।
तानुवाच जरासन्धः सत्यसन्धो नराधिपः ॥ ४२ ॥
विगर्हमाणः कौरव्य! वेषग्रहणवैकृतान् ।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ ४३ ॥
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन्विदितं मम सर्वशः ।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ॥ ४४ ॥
बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ ।
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ ४५ ॥
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ।
चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिहच्छद्मना ॥ ४६ ॥
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ।

जैसे बड़े यज्ञ में लक्ष्मी सहित तीनों अग्नि स्थापित होती है ॥३५।४१॥

अब सत्यवादी प्रतापी राजा जरासन्ध ब्रह्मचारियों के विरुद्ध वेषवाले इन लोगों की निन्दा सी करता हुआ कहने लगा—हे स्नातक ब्राह्मणो! मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि स्नातक व्रतधारी ब्राह्मण गृहस्थाश्रम में जाने से पहले न तो कभी माला पहनते, और न अपने शरीर में चन्दन लगाते है। किन्तु मैं देखता हूँ कि तुम लोग रङ्गीन वस्त्र, माला, चन्दन आदि धारण किये हुए हो। तुम्हारी कलाइयों में धनुष की डोरी की रगड़ के चिह्न भी देख पड़ते हैं। तुम अपने को ब्राह्मण बता चुके हो, पर मुझे तुम में क्षत्रियों के भाव देख पड़ते है। तुम्हारे चेहरों पर क्षत्रियों का तेज साफ झलक रहा है। सत्य-सत्य कहो, तुम लोग कौन हो? राजाओं के सामने सत्य बोलना ही श्रेष्ठ होता है। इससे हमसे सत्य-सत्य कहो कि तुम द्वार छोड़कर चैत्यक पहाड की शिखर को तोड़कर राजा के अपराध से निडर होकर दूसरी राह से क्यों आये हो? ब्राह्मणों का वचन बलवान् होता है। ब्राह्मणों का कर्म बलवान् नहीं होता है। सो तुम्हारा कर्म भी तुम्हारे

*'सुतराम् अस्ति, तत्स्वस्ति' ऐसा विग्रह करके स्वस्ति शब्द का चिरस्थायी स्वर्ग अथवा मोक्ष अर्थ लेना, ऐसा यहां श्रीकृष्ण जी का तात्पर्य है। इसी आशय से यह आशीवचन है। इससे 'हम तुम्हें मारेंगे' यह सिद्ध किया।

वदध्वं चापि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ ४७ ॥
कर्म चैतद्विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ।
एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनाऽर्हणाम् ॥ ४८ ॥
प्रणीतां नाऽनुगृह्णीत कार्यं किं वाऽस्मदागमे ।
एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४९ ॥
श्रीकृष्ण उवाच—स्नातकान्ब्राह्मणान्राजन्विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप! ।
स्नातकव्रतिनो राजन्ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ५० ॥
विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत ।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ॥ ५१ ॥
पुण्यवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुण्यवन्तस्ततो वयम् ।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ॥ ५२ ॥
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद्वार्हद्रथेरितम् ।
स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत् ॥ ५३ ॥
तद्दिदृक्षसि चेद्राजन्! द्रष्टाऽस्यद्य न संशयः ।
अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ॥ ५४ ॥
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ।
कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नाऽर्हणां वयम् ।
प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्धसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वेष के विपरीत है। इसके अतिरिक्त मैंने जो तुम्हारा पूजन किया उसे भी तुमने स्वीकार नहीं किया ॥४२।४८॥

राजा जरासन्ध के इस प्रकार पूछने पर बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने गम्भीर स्वर से कहा—हे महाराज! हम स्नातक ब्राह्मण हैं। स्नातकव्रत केवल ब्राह्मण ही नहीं करते, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य भी करते हैं। इनमें से कोई तो विशेष नियम और कोई अविशेष नियम को लेने वाला क्षत्रिय लक्ष्मी पाता है और पुण्य धारण करनेवालों को निश्चय लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इस कारण से हम भी पुण्यधारी हैं। यह सत्य है कि क्षत्रियों का पराक्रम भुजाओं में होता है, वचनों में नहीं। इसी कारण उनके लिये प्रगल्भतापूर्ण वचन कहने की विधि नहीं है। विधाता ने अपना पराक्रम क्षत्रियों के हाथों में ही स्थापित किया हुआ है। जो तुम इस पक्ष को

देखना चाहते हो तो अभी देख लो। हे बृहद्रथ नन्दन ! जो धीर वीर पुरुष हैं उनका यही धर्म है कि वे शत्रु के घर में असली राह से न जाकर दूसरी ही राह से जाते हैं, मित्र के ही यहाँ असली राह से जाते हैं। हे राजन् ! अपने कार्य के लिये शत्रु के घर जाकर उसकी दी हुई पूजा की सामग्री को स्वीकार न करना हमारा कुल परम्परा का नियम है ॥४९।५७॥

सभापर्व का इक्कीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

जरासन्ध उवाच—न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥
वैकृते वाऽसति कथं मन्यध्वं मामनागसम् ।
अरिं वै ब्रूत हे विप्रा सतां समय एष हि ॥ २ ॥
अर्थधर्मोपघाताद्धि मन समुपतप्यते ।
योऽनागासि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥
अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञ सन्महारथः ।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥
त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम् ।
नाऽन्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥
तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः ।
अनागसः प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

बाइसवा अध्याय ॥ २२ ॥

जरासन्ध ने कहा—हे स्नातको ! मैंने कब तुम्हारे साथ शत्रुता की है, सो मुझे स्मरण नहीं। बार बार सोचकर भी मुझे स्मरण नहीं आता कि तुम्हारा अपकार मैंने किया है। जब मैंने तुम्हारे साथ कभी कोई शत्रुता का व्यवहार नहीं किया तब फिर तुम लोग मुझे शत्रु क्यों कह रहे हो ? तुम मुझे शत्रु कह रहे हो इसका कारण क्या है ? ठीक ठाक कहो क्योंकि सज्जन पुरुष सत्य को ही सब से बढ़कर समझते है। देखो, धर्म या अर्थ में किसी के द्वारा बाधा पड़ने से ही मनुष्य का मन दुखी होता है। जो कोई क्षत्रियकुल में पैदा होकर और धर्म-अर्थ के तत्त्व को जानकर भी बिना अपराध के दूसरे के धर्म या अर्थ की सिद्धि में बाधा डालता है वह इस लोक में निन्दा और कष्ट पाकर परलोक में नरकगामी होता है। त्रिलोकी में क्षत्रिय धर्म ही सन्मार्ग का प्रवर्त्तक है। धर्मज्ञ पण्डित लोग इसी कारण क्षत्रिय धर्म की प्रशंसा किया करते हैं। मैं सदा अपने धर्म पर स्थित रहता और अपनी प्रजा के धर्म और अर्थ में बाधा नहीं डालता हूं। फिर तुम मुझे शत्रु क्यों कह रहे हो ? प्रतीत होता है, तुम प्रमाद या मतिभ्रम

श्रीकृष्ण उवाच—कुलकार्यं महाबाहो! कश्चिदेकः कुलोद्वहः ।
वहते यस्तन्नियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥
त्वया चोपहृता राजन्! क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥
राजा राज्ञः कथं साधून्हिंस्यान्नृपतिसत्तम! ।
तद्राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥
अस्मांस्तदेनोपगच्छेत्कृतं बार्हद्रथ! त्वया ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥
मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥
सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि ।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासन्ध! वृथामतिः ॥ १२ ॥
यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत्कर्म करोति यः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥
ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः ।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहाऽऽगताः ॥ १४ ॥

के कारण ऐसा कह रहे हो ॥१।६॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहो! कुलप्रवर कोई एक पुरुष कुल कार्य को वहन करते हैं, उन्हीं की आज्ञा से हम लोग यहाँ, तुम्हारे पास, आये है। हे महाराज! तुमने बलपूर्वक बहुत से राजाओं को हराकर, बलिदान की इच्छा से, अपने यहाँ कैद कर रक्खा है। ऐसा अति कुटिल दोष करके भी तुम क्योंकर अपने को निर्दोषी समझ रहे हो? राजा होकर कौन पुरुष, बिना किसी अपराध के, अपने सजातीय भाइयों की हत्या करना चाहेगा! तुम क्या समझकर उन राजाओं को पकड़कर महादेव के आगे उनका बलिदान करना चाहते हो? हम लोग धर्म का आचरण करनेवाले और धर्म की रक्षा करने में समर्थ है। इस कारण जो हम तुम्हारे इस क्रूर काम में हस्तक्षेप न करें तो हमें भी तुम्हारे किये इस पाप का भागी होना पड़ेगा। हमने कभी कहीं मनुष्य-बलि होते देखा-सुना नहीं है। फिर तुम कैसे भगवान् शङ्कर को मनुष्यों के बलिदान से सन्तुष्ट करना चाहते हो? हे जरासन्ध! तुम क्षत्रिय होकर पशुओं की तरह क्षत्रियों की बलि देना चाहते हो। तुम्हारे सिवा और कौन मूढ़ ऐसा करने का इरादा करेगा! जो कोई जिस-जिस अवस्था में जो जो कर्म करता है, उस-उस अवस्था में उसे उन-उन कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। तुम अपनी जाति

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव यत् ।
मन्यसे स च ते राजन् ! सुमहान्बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥
को हि जानन्नभिजनमात्मवान्क्षत्रियो नृप ! ।
नाऽऽविशेत्स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥
स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः ।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद्विद्धि मनुजर्षभ ! ॥ १७ ॥
स्वर्गयोनिर्महद्ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्यशः ।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥
एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः ।
येनाऽसुरान्पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥
स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद्विग्रहो वै यथा तव ।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥
माऽवमंस्थाः परान्राजन्नाऽस्ति वीर्यं नरे नरे ।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ! ॥ २१ ॥
यावदेतदसंबुद्धं तावदेव भवेत्तव ।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ! ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

का नाश करते हो और हम लोग पीड़ितों की सहायता करते हैं ॥७।१४॥

तुम अपने मन में यह समझते हो कि मेरे समान संसार में कोई दूसरा क्षत्रिय ही नहीं है, सो यह तुम्हारी बुद्धि की मन्दता का कारण है। भला ऐसा कौन क्षत्रिय होगा जो युद्ध करके स्वर्ग में न जाना चाहे और जातिवालों को न छुड़ाना चाहे। जो क्षत्रिय युद्धरूपी यज्ञ में दीक्षित होता है वह स्वर्ग में रहकर सम्पूर्ण लोकों को अपने वश में कर लेता है। हे राजन् ! वेद पढ़ना, बड़ा यश लेना, तप करना और युद्ध में व्यभिचार-रहित मरना स्वर्ग की योनि अर्थात् स्वर्ग देनेवाले है। युद्ध में मृत्यु होने से मनुष्य को इन्द्र का प्रासाद (राजमहल) भी मिलता है और इन्द्र भी इसी से असुरों को जीतकर जगत् की रक्षा करता है ॥१५।१९॥

सो चाहे जो हो, [हम लोगों से शत्रुता होने के कारण] तुम्हारे लिये स्वर्ग जाने की राह जैसी सुगम हो गई है वैसी और किसी के लिये न हुई होगी। तुम मगध देश की असङ्ख्य सेना के बल पर गर्वित होकर सब राजाओं का अपमान करते हो; किन्तु ऐसा करना तुम्हें कदापि उचित नहीं। मनुष्यों में एक से एक बढ़कर बलवान् और पराक्रमी पड़े हुए हैं। इस पृथ्वीमण्डल पर तुम्हारे समान और तुमसे बढ़कर भी प्रबल और पराक्रमी लोग हैं। उन लोगों

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध ! ।
मागमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥
दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः ।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥
युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम् ।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ॥ २५ ॥
त्वामाह्वयामहे राजन्स्थिरो युध्यस्व मागध ! ।
मुञ्च वा नृपतीन्सर्वान्गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥ २६ ॥

जरासन्ध उवाच—नाऽजितान्वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥
क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत्समाचरेत् ॥ २८ ॥
देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण ! कथं भयात् ।
अहमद्य विमुञ्चेयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २९ ॥
सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।

के बारे में जानकारी न होने के कारण दिन पर दिन तुम्हारा अहङ्कार और स्वेच्छाचार बढ़ता जा रहा है। तुम्हारा दर्प और स्वेच्छाचार अब असह्य हो उठा है। इसी से मैं कहता हूँ कि अपने समान कुल में उत्पन्न क्षत्रियों से ऐसे घमण्ड और स्वेच्छाचार का व्यवहार करना छोड़ दो; पुत्र, मन्त्री सेना-सहित यमलोक जाने का उपाय मत करो ॥२०।२३॥

महाबली सहस्रबाहु अर्जुन, उत्तर और बृहद्रथ आदि महाराज बड़े ही पराक्रमी थे; पर अति घमण्ड के कारण शुभ-अशुभ का विवेक एकदम छोड़ देने पर अपनी सेना और अनुचरों-सहित मारे गये। सत्य तो यह है कि हम तीनों ब्राह्मण नहीं हैं; तुमको मारने के लिये ब्राह्मण का वेष बनाकर यहाँ आये हैं। हम तीनों जने क्षत्रिय हैं—ये दोनों वीर तो भीमसेन और अर्जुन नाम के पाण्डव हैं, और मैं इनके मामा वासुदेव का पुत्र और तुम्हारा शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। हे मगधराज ! हम तुमको युद्ध करने के लिये ललकारते हैं। या तो उन सब राजाओं को छोड़ दो जिन्हें तुमने कैद कर रक्खा है, अथवा हमारे साथ युद्ध करके यमपुरी को जाओ ॥२४।२६॥

यह सुनकर जरासन्ध ने कहा—जिन राजाओं को मैं अपने बाहुबल से हरा चुका हूँ उन्हीं को मैंने यहाँ, बलिदान के लिये कैद कर रक्खा है। हारे हुए राजाओं के सिवा यहाँ कोई कैद नहीं है। और

द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत्पृथगेव वा ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभि ॥ ३१ ॥
स तु सेनापति राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन्युद्ध उपस्थिते ॥ ३२ ॥
ययोस्ते नामनी राजन्हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वं संकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३३ ॥
तं तु राजन्विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३४ ॥
सत्यसन्धो जरासन्धं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३५ ॥
नाऽऽत्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

पृथ्वीमण्डल पर ऐसा है ही कौन जो मुझसे युद्ध कर सके ? हे कृष्ण ! बाहुबल से शत्रु को हराकर उसे अपने वश में रखना या उसके साथ मनमाना बर्ताव करना ही क्षत्रियों का धर्म है। क्षत्रियधर्म का विचार करके महादेव की आराधना के लिये मैंने जिन राजाओं को अपने यहाँ कैद कर रक्खा है उन्हें, तुमसे डरकर, मैं इस समय कैसे छोड़ सकता हूँ ? मैं तुम लोगों से युद्ध करने के लिये तैयार हूँ। चाहे तुम व्यूह रचनापूर्वक सेना लेकर मेरी सेना से युद्ध करो । चाहे एक दो या तीनों एकत्र होकर अथवा अलग अलग युद्ध करो । मैं सब तरह तुमसे युद्ध करने के लिये तैयार हूँ ॥२७।३०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा जरासन्ध ने उक्त प्रकार से कहकर अपने पुत्र सहदेव को राज्याभिषेक करने की आज्ञा दी, और अपने कौशिक और चित्रसेन नामी सेनापतियों को जो पूर्व वर्णित हंस और डिम्भक नामी जरासन्ध के सेनापति के तुल्य थे, याद किया । वृष्णिवंशावतंस कंसनाशन पुरुषसिंह सत्यसन्ध दृढ़व्रत कृष्णचन्द्र यह सोचकर जरासन्ध से नहीं लड़े कि यादवों के हाथ से उसकी मौत ब्रह्मा ने नहीं लिखी थी, भीमसेन के हाथ से ही उसकी मौत बदी थी ॥३१।३६॥

सभापर्व का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥



अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः ।
उवाच वाग्मी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥ १ ॥
श्रीकृष्ण उवाच—त्रयाणां केन ते राजन्योद्धुमुत्सहते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥
एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥
आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च ।
धारयन्नगदान्मुख्यान्निर्वृतीर्वेदनानि च ।
उपतस्थे जरासन्धं युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥ ४ ॥
कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
समनह्यज्जरासन्धः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥
अवमुच्य किरीटं स केशान्समनुगृह्य च ।
उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवाऽर्णवः ॥ ६ ॥
उवाच मतिमान्राजा भीमं भीमपराक्रमः ।
भीम! योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेनमरिन्दमः ।

तेइसवां अध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब यदुकुल-तिलक कृष्णचन्द्र ने जरासन्ध को युद्ध के लिये तैयार देखकर उनसे पूछा—हे महाराज! हम तीनों मनुष्यों में से किससे युद्ध करने को तुम्हारा जी चाहता है? तुमसे युद्ध करने के लिये कौन तैयार हो? यह सुनकर महाबली जरासन्ध ने भीमसेन [को ही उनमें बलवान् और बड़ा देखकर उन] से युद्ध करने की इच्छा प्रकट की। जरासन्ध को युद्ध के लिये तैयार देखकर गोरोचना, माला, अन्य मङ्गल की वस्तुएँ और पीड़ा तथा मूर्च्छा को दूर करने की औषधियाँ लेकर कुल-पुरोहित उसके पास आया ॥१।४॥

यशस्वी ब्राह्मण कुल-पुरोहित के स्वस्त्ययन-शान्तिपाठ कर चुकने पर, क्षत्रियधर्म को स्मरण करके पराक्रमी जरासन्ध युद्ध के लिये तैयार हो गया। उसने अपना किरीट-मुकुट उतार डाला और वह बालों को बाँधकर समुद्र के समान मर्यादा के साथ खड़ा होकर भीमसेन से बोला—हे भीमसेन! आओ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा, क्योंकि बड़ों के हाथ से पराजित होना भी अच्छा समझा जाता है। यह कहकर, जरासन्ध भीमसेन के सामने जाकर इस प्रकार खड़ा हो गया, जैसे बल नाम का असुर इन्द्र के सामने

प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवाऽसुरः ॥ ८ ॥
ततः संमन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली ।
भीमसेनो जरासन्धमाससाद युयुत्सया ॥ ९ ॥
ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः ।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥ १० ॥
करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥ ११ ॥
स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ! ॥ १२ ॥
चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाऽशनिम् ॥ १३ ॥
बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥
करसंपीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥
तलेनाऽऽहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥

जाकर गड़ा हुआ था ॥७।८॥

उधर भीमसेन, कृष्ण जी से सम्मति करके, स्वस्त्ययन कर्म के उपरान्त युद्ध करने के लिये जरासन्ध की ओर चले। वे भुजारूपी शस्त्रों से युद्ध करने-वाले दोनों वीर, परस्पर जय पाने की इच्छा से, दो सिंहों के समान प्रसन्नता और उत्साह के साथ भिड़ कर युद्ध करने लगे। दोनों ने पहले परस्पर पाँव छुए, हाथ मिलाये; फिर वे ताल और खम ठोककर ध्वनि से [राज भवन को] हिलाने से लगे। कन्धों पर बार-बार हाथ मारकर एक दूसरे के अङ्गों से लिपटकर एक दूसरे से भिड़ने लगे। चित्रहस्त अर्थात मुट्ठी बाँधना, कक्षाबन्ध आदि अनेक दाव पेंच करते हुए दोनों वीर परस्पर ऐसे ऐसे हाथ मारने लगे कि दोनों के शरीरों से चिनगारियाँ भी निकलने लगीं और बिजली गिरने का सा शब्द होने लगा ॥९।१३॥

फिर एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाते हुए दोनों वीर मस्त हाथियों की तरह गरजकर 'बाहुपाश' आदि अनेक लपेटों के साथ लड़कर 'उरोहस्त', 'पूर्ण-कुम्भ' आदि विविध युद्ध-कौशल दिखाने लगे। थप्पड़, और घूँसे आदि मारने, क्रोध के मारे काँप रहे, सिंहों के समान गरज रहे दोनों वीर परस्पर क्रोध पूर्ण दृष्टि से देखने और एक दूसरे को मारनी

अङ्गेनाऽङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥
उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाऽऽक्षिपत् ॥ १८ ॥
सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
संपूर्णमूर्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥
तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥
तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥
शूद्राश्च नरशार्दूल! स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत्तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥
तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात्तथा ।
आसीत्सुभीमसंपातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥
उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्याऽन्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥
तद्भीममुत्सार्य जनं युद्धमासीदुपप्लवे ।

ओर खींचते हुए घोर युद्ध करने लगे। वे दोनों वीर अपने अङ्गों और हाथों से चोट पहुँचाकर, हाथों से पेट पकड़कर, कमर और पसली पकडकर इधर-उधर और पीछे हटाकर, सिमटकर, झपटकर, ताल ठोककर, 'अतिक्रान्तमर्याद'–'पृष्टभङ्ग'–'सम्पूर्णमूर्च्छा'–'पूर्णकुम्भ'-'तृणपीड'-'पूर्णयोग' 'मुष्टिक' आदि विचित्र युद्ध करके अपना बल और कौशल दिखाने लगे। दोनों ही वीर कुश्ती की कला में सुशिक्षित और बल में भी बराबर थे ॥१४।२०॥

हे राजा जनमेजय! उस समय वहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि हजारों पुरवासी, स्त्रियाँ, जवान, बालक, वृद्ध आकर युद्ध देखने लगे। और उन दोनों के भुजा से भुजा लडाने और निग्रह अर्थात् 'ग्रीवा पकड़कर नीचे को दबा देना' और प्रग्रह अर्थात् 'पट्टे खींचकर चित्त गिरा देना' और-और दावों के करने से ऐसा भयानक शब्द होने लगा जैसा पर्वत पर बिजली गिरने से होता है। दोनों ही वीर, बली और जय की इच्छा रखनेवाले थे; दोनों ही अपने को बचाकर दूसरे पर वार करने का अवसर देख रहे थे। वे परस्पर उदास या शान्त न होकर और भी अधिक उत्साह और प्रसन्नता प्रकट करने लगे। अब यह लोगों की भीड़ वहाँ से दूर हटा दी गई ॥२१।२४॥

वलिनोः संयुगे राजन्वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥
प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चाऽवजघ्नतुः ॥ २६ ॥
ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ २८ ॥
कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ २९ ॥
तद्वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥ ३० ॥
तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं संबोधयन्निव ॥ ३१ ॥
क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय! लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥ ३२ ॥
तस्मात्ते नैव कौन्तेय! पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युद्ध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ! ॥ ३३ ॥
एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।

उन दोनों का युद्ध उस रणभूमि में इन्द्र और वृत्रासुर के समान होने लगा। कभी आगे कभी पीछे कभी तिरछे कभी सामने एक दूसरे को खींच ले जाता और एक दूसरे को घुड़क-घुड़क कर पत्थर मारने के समान घोंट्ट आदि से प्रहार करता था। और दोनों की भुजा मारने का शब्द ऐसा होता था, जैसे लोहे के परिघाओं को मारने से होता है। उन दोनों का युद्ध कार्तिक वदी प्रतिपदा से आरम्भ हुआ और इसी तरह लगातार दिन-रात होता रहा। दोनों में से किसी ने भी न तो कुछ खाया न पिया और न तनिक विश्राम ही किया। चतुर्दशी की रात्रि को थककर जरासन्ध ने यह युद्ध कुछ समय के लिये बन्द करना चाहा ॥२५।३०॥

जरासन्ध को थका हुआ देखकर परमचतुर कृष्ण ने भीमसेन को चिताते हुए कहा—हे कुन्तीनन्दन ! थका हुआ शत्रु पीड़ा नहीं दे सकता है और वहीं सुगमता से मारा जा सकता है। इसलिये इस समय तुम इससे बराबर युद्ध किये जाओ। श्रीकृष्णचन्द्र के इस प्रकार कहने से अधिक उत्तेजित भीमसेन ने देखा कि जरासन्ध को मारने का यह

जरासन्धस्य तद्रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥
ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धक्रान्तौ त्रयोविंशोऽध्याय ॥ २३ ॥

अच्छा अवसर है। तब उसे मार डालने के विचार से भीमसेन ने झपटकर बड़े वेग से उसपर हमला किया ॥३१।३५॥

—*—

सभापर्व का तेईसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्याय ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम् ।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासन्धवधेप्सया ॥ १ ॥
नाऽयं पापो मया कृष्ण! युक्तः स्यादनुरोधितुम्।
प्राणेन यदुशार्दूल! बद्धकक्षेण वाससा ॥ २ ॥
एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन्पुरुषव्याघ्रो जरासन्धवधेप्सया ॥ ३ ॥
यत्ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम! जरासन्धे दर्शयाऽऽशु तदद्य वै ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तदा भीमो जरासन्धमरिन्दमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ॥ ५ ॥

चौबीसवा अध्याय ॥ २४ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! तब जरासन्ध को मार डालने का दृढ निश्चय करके भीमसेन ने श्रीकृष्ण जी से कहा—हे महाराज! शत्रु ने अभी तक हार नहीं मानी है, ऐसी दशा में इस पापी को मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? यह सुनकर श्रीकृष्ण ने उन्हें, जरासन्ध को शीघ्र मारने के लिये, उत्साहित करते हुए कहा—तुममें जो दुर्लभ दैवबल है, जो बल तुमने अपने पिता वायु से प्राप्त किया है, वह इस समय दिखाओ ॥१।४॥

श्रीकृष्ण के इस अभिप्राय को समझकर भीमसेन ने वायुवेग से झपटकर जरासन्ध को पकड़ लिया। फिर वह उसे ऊपर उठाकर वेग से घुमाने लगा। सौ बार ऊपर घुमाकर भीमसेन ने जरासन्ध को पृथ्वी पर पटक दिया और घुटना मारकर उसकी पीठ की हड्डी तोड़ डाली। फिर गरजते हुए भीमसेन ने उसे पृथ्वी पर अच्छीतरह रगड़ चुकने के पश्चात् पाँच

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ! ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ।
करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ॥ ६ ॥
तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।
अभवत्तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः ॥ ७ ॥
वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रवुः ।
भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ॥ ८ ॥
किं नु स्याद्धिमवान्भिन्नः किं नु स्विद्दीर्यते मही ।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ॥ ९ ॥
ततो राजकुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ॥ १० ॥
जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥ ११ ॥
ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १२ ॥
अक्षतः शस्त्रसंपन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १३ ॥
यः स सोदर्यवान्नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः ।

से उसकी टांगे चीर डालीं। उस समय भीमसेन के भयङ्कर गर्जना को सुनकर सब प्राणी डर गये। राजधानी के सब मनुष्य भय के मारे कांपने लगे और स्त्रियों के गर्भ गिर गये। मरते समय जरासन्ध के चिल्लाने का और भीमसेन के गरजने का शब्द सुनकर सब लोगों को जान पड़ा कि शायद हिमालय पर्वत फट गया है, अथवा पृथ्वी फटी जा रही है ॥५।९॥

इसके पीछे वे तीनों वीर जरासन्ध के मृतक शरीर को उसके घर के द्वार पर डालकर रात्रि में ही बाहर चले गये। और जरासन्ध के पताकाधारी रथ को जोतकर उसपर बैठकर वहां गये, जहां जरासन्ध ने सब राजाओं को कैद कर रक्खा था। वहां जाकर उन्होंने उन राजाओं को कैद से छुड़ा दिया। बन्धन से छुटकारा पाकर उन राजाओं ने सब रत्नों के योग्य स्वामी श्रीकृष्णचन्द्र को उपहार के रूप में अनेक रत्न अर्पण किये और अपनी कृतज्ञता प्रकट की। इस प्रकार शत्रु को जीतकर–राजाओं को छुड़ाकर–महाबाहु श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन उन राजाओं को साथ लिये गिरिव्रज से बाहर निकले। तीनों में से किसी वीर के शरीर में एक भी घाव नहीं लगने पाया।

अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १४ ॥
भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १५ ॥
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये ।
रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥ १६ ॥
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना ।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणाऽमित्रघातिना ॥ १७ ॥
येन शक्रो दानवानां जघान नवतिर्नव ।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १८ ॥
ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ १९ ॥
हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनाऽतीव भारत ! ॥ २० ॥
असङ्गो देवविहितस्तस्मिन्रथवरे ध्वजः ।
योजनाद्ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २१ ॥
चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् ।
क्षणे तस्मिन्स तेनाऽऽसीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः ॥ २२ ॥

भीम और अर्जुन दोनों योद्धाओं और श्रीकृष्ण सारथी के बैठने से वह रथ बहुत भला देख पड़ा ॥१०।१४॥

वह रथ तारागण के समान चमकीला था। पूर्व समय में विष्णु और इन्द्र उसी रथ पर बैठकर दानवों से युद्ध करते थे। इन्द्र ने निन्नानवे बार उस रथ पर बैठकर दानवों से युद्ध किया और उन्हें मारा। उस रथ की प्रभा तपाये हुए सुवर्ण के समान थी। उस रथ का शब्द बादल की गरज के सदृश था। वह रथ शत्रुओं के नाश करनेवाला और जय का दाता था। वह किङ्किणीजाल-युक्त रथ मिल जाने से तीनों वीरों को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ ॥१५।१८॥

श्रीकृष्ण को भीम और अर्जुन के साथ बैठे देखकर मगध देश के निवासियों को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उस रथ में वायु के समान शीघ्र चलनेवाले घोड़े जुते हुए थे। और एक ध्वजा देवताओं की बनाई हुई उस पर बिना आधार के लगी हुई थी। उस ध्वजा की प्रभा बिजली के समान थी और वह एक योजन (चार कोस) की दूरी पर से दिखलाई देती थी ॥१९।२१॥

उस समय श्रीकृष्ण जी ने गरुड़ जी को स्मरण किया। स्मरण करते ही वे आ गये। मुख फैलाकर महाशब्द करनेवाले भूतगण के साथ, गरुड़ भी

व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।
तस्मिन्रथवरे तस्थौ गरुत्मान्पन्नगाशनः ॥ २३ ॥
दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाऽभ्यधिकं बभौ ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २४ ॥
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन्दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २५ ॥
तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाऽच्युतः ॥ २६ ॥
यं लेभे वासवाद्राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः ।
बृहद्रथात्क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृपम् ॥ २७ ॥
स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिव्रजाद्बहिस्तस्थौ समे देशे महायशाः ॥ २८ ॥
तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाऽभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ २९ ॥
बन्धनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३० ॥
नैतच्चित्रं महाबाहो ! त्वयि देवकिनन्दने ।

उस ध्वजा के ऊपर बैठ गये । सहस्रों किरणों से युक्त सूर्य जैसे दोपहर को ऐसे प्रचण्ड हो जाते हैं, कि कोई उनकी ओर ताक नहीं सकता, वैसा ही तेज उस रथ का हो गया ॥२२।२४॥

उस रथ पर की दिव्य ध्वजा न तो वृक्षों में अटकती थी और न शस्त्रों से काटी जा सकती थी। इस समय वह मनुष्यों को भी देख पड़ने लगी । यह रथ पहले इन्द्र के पास था। इन्द्र ने वह रथ राजा वसु को दिया । वसु ने राजा बृहद्रथ को दिया और बृहद्रथ से राजा जरासन्ध ने पाया था। उसी दिव्य रथ पर भीमसेन और अर्जुन के साथ बैठकर श्रीकृष्णचन्द्र गिरिव्रज देश अर्थात् पहाड़ी पृथ्वी से निकलकर समतल भूमि में आये॥२५।२८॥

वहाँ ब्राह्मण आदि नगरनिवासियों ने आकर विधिपूर्वक श्रीकृष्ण आदि का सत्कार और पूजन किया । बन्धन से छूटे हुए राजा लोगों ने भी भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण जी की पूजा करके स्तुति करते हुए कहा—हे महाराज ! आपने हम लोगों को, जो दुःखरूपी कीचड़ में फँसे हुए थे, धर्म का पालन करके बाहर निकाला है, सो यह आपके लिये कुछ विचित्र बात नहीं । हे भगवन्! गिरिव्रज की पहाड़ी खोह में पड़े हुए हम लोगों का उद्धार करने से आपका उज्ज्वल

भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३१ ॥
जरासन्धह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३२ ॥
विष्णो ! समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोक्षाद्यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ! ॥ ३३ ॥
किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र ! शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद्विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३४ ॥
तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३५ ॥
तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३६ ॥
ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ! ।
तथेत्येवाऽब्रुवन्सर्वे प्रतिगृह्याऽस्य तां गिरम् ॥ ३७ ॥
रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३८ ॥
जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ३९ ॥
स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।

यश और भी बढ़ गया। हे पुरुषसिंह ! हम सब आपके अधीन हैं। आज्ञा दीजिए, हम सेवक आपकी क्या सेवा करें। जो आज्ञा आप देंगे वह अत्यन्त दुष्कर होगी तो भी उसे हम अवश्य पूर्ण करेंगे ॥२९।३४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उन राजाओं को दिलासा देकर श्रीकृष्ण जी ने कहा कि राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करके साम्राज्य पदवी प्राप्त करना चाहते हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग जनकर इस कार्य में उनकी सहायता करो। सब राजाओं ने श्रीकृष्ण की इस आज्ञा को सादर मा[न] लिया। उन सब ने श्रीकृष्ण जी को रत्न [आदि] भेंट किये। श्रीकृष्ण जी ने उन सब राजाओं [पर] दया करके उनकी दी हुई भेंटों को अङ्गीकार [किया]। इसके पश्चात् जरासन्ध का पुत्र बुद्धिमान स[हदेव] भी बड़े-बड़े मोल के रत्नादि पदार्थों को आ[गे] लेकर अपने मन्त्री और पुरोहितों-सहित श्रीकृष्ण के पास नम्रतायुक्त आया। श्रीकृष्ण जी ने उसक[ी] दी हुई भेंट को स्वीकार किया। फिर श्रीकृष्ण ज[ी] की सम्मति से भीम और अर्जुन ने सहदेव को विधि

सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४० ॥
भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाऽभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४१ ॥
अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४२ ॥
विवेश राजा द्युतिमान्बार्हद्रथपुरं नृप ! ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥
कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४४ ॥
इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाऽच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४५ ॥
दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासन्धो निपातित ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ! ॥ ४६ ॥
दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ! ॥ ४७ ॥
ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४८ ॥
ततः क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।

पूर्वक मगध देश की राजगद्दी देकर राज्याभिषेक कर दिया । श्रीकृष्ण की कृपा और राज्य पाकर सहदेव अपनी राजधानी में गया ॥३५।४३॥

, हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार प्रबल प्रतापी रासन्ध को मारकर, राजाओं को छुड़ाकर और श से भेंटों का बहुत सा धन लेकर श्रीकृष्णचन्द्र, भीमसेन और अर्जुन लौटकर इन्द्रप्रस्थ नगर में पहुँच गये । महाराज युधिष्ठिर से मिलकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा--हे महाराज ! बड़े भाग्य की बात है कि महाबली भीमसेन ने बाहुयुद्ध में प्रतापी राजा जरासन्ध को मार डाला और उसके यहा जितने राजा कैद थे उन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया । आपके सौभाग्य से भीम और अर्जुन दोनों भाई शत्रु को मारकर कुशलतापूर्वक घर लौट आये हैं । उनके शरीर में कहीं तनिक सा घाव भी नहीं हुआ ॥४४।४७॥

शत्रुओं के लिये दुर्जय महावीर जरासन्ध के मरने का वृत्तान्त सुनकर और श्रीकृष्ण जी के साथ अपने भाइयों को सकुशल लौट आये देखकर धर्मराज युधिष्ठिर को अपार आनन्द प्राप्त हुआ । उन्होंने

अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ४९ ॥
यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५० ॥
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५१ ॥
एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ॥ ५२ ॥
घातयित्वा जरासन्धं बुद्धिपूर्वमरिन्दमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ! ॥ ५३ ॥
सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५४ ॥
तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनाऽनादयन्दिशः ॥ ५५ ॥
ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ! ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५६ ॥
ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाऽभयं तदा ॥ ५७ ॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ! ।

उचित रूप से श्रीकृष्ण जी की पूजा की और अर्जुन और भीमसेन को छाती से लगाया । इसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने जरासन्ध के यहां की कैद से छूटकर आये हुए राजाओं को, उनकी अवस्था के अनुसार पूजा और सत्कार-द्वारा प्रसन्न करके अपने-अपने घर जाने की आज्ञा दी। युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर वे राजा लोग प्रसन्नता से रथों और वाहनों पर चढ़कर अपने-अपने स्थान को चल दिये ॥४८।५१॥

इस प्रकार से हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण जी अपने शत्रु जरासन्ध को पाण्डवों से मरवाकर युधिष्ठिर, कुन्ती, द्रौपदी, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और धौम्य पुरोहित से यथायोग्य मिलकर युधिष्ठिर के दिये हुए उसी रथ में बैठकर, जो मन की गति के समान शीघ्र चलनेवाला था, द्वारका पुरी को चले। चलते समय पाण्डवों ने श्रीकृष्ण जी की प्रदक्षिणा की। फिर पहियों की घरघराहट से दसों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरी को गये । इसप्रकार प्रबल प्रतापी राजा जरासन्ध को मारकर, बलिदान के लिये लाये गये राजाओं को छुटकारा दे देने से, धर्मराज युधिष्ठिर की कीर्ति चारों

द्रौपद्याः पाण्डवा राजन्परां प्रीतिमवर्धयन् ॥ ५८ ॥
तस्मिन्काले तु यद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद्राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

समाप्तं चेदं जरासन्धवधपर्व ।

और फैल गई। हे भरतकुल-तिलक ! अब भाइयों-सहित महाराज युधिष्ठिर द्रौपदी को प्रसन्न रखते हुए धर्म, अर्थ, काम का सञ्चय करने लगे। वे न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन करते हुए बड़े सुख से रहने लगे ॥५२।५९॥

सभापर्व का चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

अथ दिग्विजयपर्व ।

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥
अर्जुन उवाच—धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन्दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥
तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम ! ॥ ३ ॥
विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिनाम् ।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाऽभिपूजिते ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच—धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

पच्चीसवां अध्याय ॥ २५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उत्तम धनुष, अक्षय तरकस, दिव्य रथ, सभा और ध्वजा प्राप्त होने से अधिक साहसी होकर अर्जुन ने एक दिन राजा युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज ! श्रेष्ठ धनुष, शस्त्र, बाण, बल, श्रीकृष्ण जैसे सहायक, दुर्ग और सेना, ये सब अपने दुर्लभ अभीष्ट मैं प्राप्त कर चुका हूँ। इन वस्तुओं को पाकर अब मैं अपना कर्तव्य यही समझता हूँ कि राज्य का कोष बढ़ाऊँ। मैं इस समय दिग्विजय के लिये जाकर सब राजाओं से 'कर' वसूल करूँगा। मैं शुभ मुहूर्त, शुभ तिथि, और शुभ नक्षत्र में दिग्विजय के लिये उत्तर दिशा को जाऊँगा ॥१।४॥

अर्जुन के ये वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर

स्वस्ति वाच्याऽर्हतो विप्रान्प्रयाहि भरतर्षभ ! ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ॥ ६ ॥
विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि ।
इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महता वृतः ॥ ७ ॥
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाऽद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।
दिशं धनपतेरिष्टामजयत्पाकशासनिः ॥ ९ ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन्दिशं व्यजयताऽस्त्रवित् ॥ १० ॥
खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत्परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

ने स्नेहपूर्ण गम्भीर स्वर से कहा—हे भाई ! अच्छी बात है। पूजनीय ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन पाठ कराकर, उनके आशीर्वाद लेकर, शत्रुओं को दुखी और मित्रों को सुखी बनाते हुए तुम दिग्विजय करने जाओ। तुम अवश्य ही विजय प्राप्त करोगे और तुम्हारी प्रिय इच्छा पूर्ण होगी। यह सुनकर अर्जुन बड़ी सेना को साथ लेकर अग्नि के दिये हुए दिव्य रथ पर बैठकर उत्तर दिशा को चल दिया। इसी प्रकार से युधिष्ठिर से प्रोत्साहित होकर भीमसेन पूर्व दिशा, नकुल पश्चिम दिशा और सहदेव दक्षिण दिशा को बहुत सी सेना साथ लेकर चल दिये। अर्जुन ने उत्तर दिशा को, भीम ने पूर्व दिशा को, सहदेव ने दक्षिण दिशा को और अस्त्र-विद्या के पण्डित नकुल ने पश्चिम दिशा को दिग्विजय में जीता। धर्मराज युधिष्ठिर अपनी राजधानी में मन्त्रियों और मित्रों के साथ श्रेष्ठ ऐश्वर्य का भोग करते हुए प्रजा का पालन करने लगे ॥५।११॥

सभापर्व का पच्चीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

जनमेजय उवाच—दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणाऽनुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥
वैशम्पायन उवाच—धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।

यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥
पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥
आनर्तान्कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं च विजितं कृतवान्ससैनिकम् ॥ ४ ॥
स तेन सहितो राजन् ! सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥
शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥
स तानपि महेष्वासान्विजिग्ये भरतर्षभ ! ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥
तत्र राजा महानासीद्भगदत्तो विशांपते ! ।
तेनाऽऽसीत्सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥
स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥
ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।

छब्बीसवां अध्याय ॥ २६ ॥

यह वृत्तान्त सुनकर राजा जनमेजय ने वैशम्पायन जी से कहा—हे महाराज ! आप चारों दिशाओं के विजय करने का वृत्तान्त विस्तार सहित वर्णन कीजिए। मेरा चित्त पाण्डवों के चरित्र को सुनने से तृप्त नहीं होता है । यह सुनकर वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! चारों पाण्डव एक साथ दिग्विजय करने निकले थे—एक साथ ही उन्होंने दिग्विजय किया था; पर मैं सब से पहले अर्जुन के दिग्विजय का वृत्तान्त कहता हूँ । बाहुबल और अस्त्रविद्या में अद्वितीय अर्जुन पहले कुलिन्द देश में गया और वहां के राजा को उसने बड़ी सुगमता से अपने वश में कर लिया । इसके पीछे उसने आनर्त, कालकूट, कुलिन्द और सुमण्डल देश के राजाओं पर चढ़ाई की और इन सबको सेना-सहित जीत लिया । उपरांत वह उन सब जीते हुए राजाओं-सहित शाकल द्वीप आदि सात द्वीपों में गया और वहां के प्रतिविन्ध्य आदि बड़े धनुर्द्धारी राजाओं से तुमुल युद्ध करके सबको जीत लिया । फिर उन सबको साथ लेकर अर्जुन ने प्राग्ज्योतिषपुर पर चढ़ाई की। वहां के राजा महाबली भगदत्त थे । उन्होंने किरात, चीन और समुद्र के किनारे पर रहनेवाली अन्यान्य अनेक जातियों की सेना को साथ लेकर आठ दिन तक अर्जुन से युद्ध

प्रहसन्नब्रवीद्राजा संग्रामे विगतक्लमम् ॥ १० ॥
उपपन्नं महाबाहो ! त्वयि कौरवनन्दन ! ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥
अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे ।
न शक्ष्यामि च ते तात ! स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥ १२ ॥
त्वमीप्सितं पाण्डवेय ! ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि महाबाहो तत्करिष्यामि पुत्रक ! ॥ १३ ॥
अर्जुन उवाच—कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ।
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ॥ १४ ॥
भवान्पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च ।
ततो नाऽज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥
भगदत्त उवाच—कुन्तीमातः ! यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः ।
सर्वमेतत्करिष्यामि किं चाऽन्यत्करवाणि ते ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनदिग्विजये भगदत्तजये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

किया ॥१।१०॥

तब भी अर्जुन को न थकते देखकर भगदत्त हँसते हुए उनके पास आये और कहने लगे—हे अर्जुन ! तुम इन्द्र के पुत्र हो, इस कारण युद्ध में ऐसा बल और पराक्रम प्रकट करना तुम्हारे योग्य ही है। मैं भी इन्द्र का मित्र हूँ, परन्तु अब मेरी सामर्थ्य तुम्हारे साथ युद्ध करने की नहीं है। इससे जो कुछ तुम्हारी मनोकामना हो सो कहो, मैं वह करने के लिये तैयार हूँ। तुम मेरे पुत्र के समान हो। यह सुनकर अर्जुन ने कहा—कुरुवंश में श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर धर्मात्मा, दृढ़व्रत, सत्यवादी और याज्ञिक हैं। वे राजसूय यज्ञ करके, औरों के लिये दुर्लभ सम्राट् का पद प्राप्त करना चाहते हैं। मैं उन्हीं की अनुमति से दिग्विजय करने निकला हूँ। उन्हें आप 'कर' दीजिए। आप मेरे पिता के मित्र हैं और मुझ पर प्रसन्न भी हुए हैं। मैं आपको आज्ञा नहीं देता, आप अपनी प्रसन्नता से 'कर' देकर मुझे अनुगृहीत कीजिए। भगदत्त ने कहा—हे कुन्तीनन्दन ! तुमको मैं जैसे स्नेहपात्र समझता हूँ, वैसे ही राजा युधिष्ठिर को भी। मैं 'कर' अवश्य दूँगा। इसके अतिरिक्त और बताओ; मैं क्या तुम्हारा प्रिय करूँ ॥११।१६॥

सभापर्व का छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः ।
अनेनैव कृतं सर्वं भविष्यत्यनुजानता ॥ १ ॥
तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
प्रययावुत्तरां तस्माद्दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥
अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम् ।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥
विजित्य पर्वतान्सर्वान्ये च तत्र नराधिपाः ।
तान्वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥
तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान्नृपान् ।
उलूकवासिनं राजन्बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥
मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥
ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा ।
निष्क्रम्य नगरात्तस्माद्योधयामास फाल्गुनम् ॥ ७ ॥
सुमहान्सन्निपातोऽभूद्धनंजयबृहन्तयोः ।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥
सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः ।

सत्ताईसवा अध्याय ॥ २७ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! राजा भगदत्त की वह बात सुनकर अर्जुन ने उत्तर दिया कि इतना करने से ही मानों आप हमारा सब कुछ प्रिय कर चुके। इस प्रकार भगदत्त को जीतकर वहां से अर्जुन उत्तर दिशा की ओर बढ़ा। उसने अन्तर्गिरि, बहिर्गिरी और उपगिरि आदि सब स्थानों को जीता। पहाड़ी स्थान के भीतर, बाहर और आसपास रहनेवाले सब राजाओं को जीतकर, उनसे बहुत सा धन लेकर और उन्हें अपने साथ लेकर, अर्जुन मृदंग बजाता, रथों की झंझनाहट और हाथियों की चिंघार से पृथ्वी कँपाता हुआ उलूक देश के राजा बृहन्त के पास गया ॥१।६॥

राजा बृहन्त ने चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर अर्जुन से बड़ा भारी युद्ध किया; किन्तु वे अर्जुन के पराक्रम को नहीं सह सके। तब उसको दुर्जय समझकर राजा बृहन्त ने युद्ध बन्द कर दिया। अनेक रत्न लेकर वे अर्जुन के पास आये। वहां से बृहन्त को साथ लेकर अर्जुन ने सेनाबिन्दु राजा पर

उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥
स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन्राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥ १० ॥
मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥
तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान्राजन्देशान्पञ्चगणांस्ततः ॥ १२ ॥
स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत्प्रभुः ॥ १३ ॥
स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ! ॥ १४ ॥
विजित्य चाऽऽहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥
पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः ।
गणानुत्सव*सङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥
ततःकाश्मीरकान्वीरान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभः ।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिःसह ॥ १७ ॥
ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।

चढ़ाई की । उसे गद्दी से उतारकर अर्जुन ने उत्तर उलूक देश के मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल आदि राजाओं को सहज ही अपने वश में कर लिया। फिर उनकी सहायता से पंचगण नाम के देशों को विजय किया । इसके पश्चात् उसने राजा सेनाबिन्दु के देवप्रस्थ नाम के नगर को जीता और वहां से सब राजाओं को साथ लिये हुए पुरुवंशी राजा विष्वगश्व के सम्मुख गया । विष्वगश्व के पास महावीर पहाड़ी लोगों की सेना थी । अर्जुन ने उन पहाड़ियों को और विष्वगश्व को भी जीत लिया । फिर पर्वतों पर रहनेवाले, उत्सव संकेत नाम की लुटेरी म्लेच्छ जाति के, सात दलों को अर्जुन ने जीता । अब अर्जुन काश्मीर देश में पहुँचा । वहां उसने दस सामन्त राजाओं सहित लोहित नाम के राजा को जीता ॥७।१७॥

आगे बढ़ने पर त्रिगर्त, दारुक और कोकनद आदि देशों के क्षत्रिय लोग पहले से ही बहुत धन-रत्न

* स्त्री पुरुषों के परस्पर प्रीति-मूलक उत्सव होना यही 'रत्यर्थ-संकेत' जिन गणों में होता है । अर्थात् विवाह-संस्कार न होने से पशुतुल्य अव्यवस्थित रति जिनमें है, उन्हें 'उत्सव संकेत' कहते हैं ।

क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥
अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥
ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्राधमद्बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥
ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत्कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥
ततः परमविक्रान्तो वाह्लीकान्पाकशासनिः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥
गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
दरदान्सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः ॥ २३ ॥
प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान्सर्वानजयत्प्रभुः ॥ २४ ॥
लोहान्परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान्महाराज ! व्यजयत्पाकशासनिः ॥ २५ ॥
ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवाऽतिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥ २६ ॥
स विजित्य ततो राजन्नृषिकान्रणमूर्धनि ।

लेकर अर्जुन के समीप चले आये, उन्होंने बिना युद्ध के ही आत्म-समर्पण कर दिया। फिर अर्जुन ने अभिसारी नाम की नगरी जो बड़ी रमणीक थी, उसके राजा को जीता; उरगावासी और रोचमान नाम के राजाओं को भी परास्त किया। और वहां से सिंहपुर नाम नगर में जाकर, जो चित्र आयुधों से रक्षित था, युद्ध किया और वहां के राजा को जीत लिया। आगे बढ़कर सेना-सहित पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन ने सुह्म और चोल देश के राजाओं को अपने वश में कर लिया। श्रेष्ठ योद्धा धनञ्जय ने बड़ा भारी युद्ध करके महाबली बाह्लीक देश के राजाओं को जीता। चुनी हुई सेना साथ लेकर अर्जुन ने दरद और काम्बोज के राजाओं को, पूर्व-उत्तर दिशा में रहनेवाले म्लेच्छों को तथा जङ्गली जातियों को हराकर अपने वश में कर लिया ॥१८।२४॥

फिर उसने लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक और उत्तर आदि देशों के मिलकर लड़नेवाले राजाओं को भी अपने बल से जीत लिया। ऋषिक देश के राजा से अर्जुन का भारी युद्ध हुआ, यहीं के युद्ध के समान युद्ध हुआ। अन्त में ऋषिक देशी राजा हार गये, और

शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥ २७ ॥
मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥ २८ ॥
स विनिर्जित्य सङ्ग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत्पुरुषर्षभः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशविजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अर्जुन ने उनसे आठ घोड़े जिनका वर्ण तोते के उदर के समान था, और बहुत से मोर का वर्ण रखनेवाले थे 'कर' में लिये। इसके पीछे अर्जुन ने युद्ध में हिमवान् और निष्कुट आदि पहाड़ी स्थानों को जीतकर श्वेत पर्वत पर आकर अपनी सेना का पडाव डाल दिया ॥२५।२९॥

सभापर्व का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच-स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किंपुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ॥ २ ॥
तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ २ ॥
तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥
सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत्पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥

अट्ठाईसवां अध्याय ॥ २८ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! अर्जुन श्वेत पर्वत को लाँघकर किंपुरुषावास देश में पहुँचा। वहां महाराज द्रुम के पुत्र राज्य करते थे। वहां के बड़े भारी युद्ध में अनेक वीर क्षत्रियों का विनाश हुआ। इसके पश्चात् वे अर्जुन के अधीन हो गये। उन्होंने 'कर' देना स्वीकार कर लिया। आगे चलकर हाटक नाम के देश को, जो यक्षों के द्वारा सुरक्षित था, सामनीति से जीत लिया। और वहां से मानससरोवर पर पहुँचकर अनेक ऋषि-कन्याओं के दर्शन किये ॥१।४॥

वहां से हाटक देश के आसपास गन्धर्वों से सुरक्षित देश को जीता। गन्धर्वों से उसे 'कर' के

तत्र तित्तिरिकल्मापान्मण्डूकाख्यान्हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात्तदा ॥ ६ ॥
उत्तरं हरिवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः ।
इयेप जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥
तत एनं महावीर्या महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥
पार्थ ! नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण ! पर्याप्तमिदमच्युत ! ॥ ९ ॥
इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर ! पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥
न चाऽत्र किंचिज्जतेव्यमर्जुनाऽत्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नाऽत्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय ! नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुपदेहेन शक्यमत्राऽभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥
अथेह पुरुषव्याघ्र ! किंचिदन्यच्चिकीर्पसि ।
तत्प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात्तव भारत ! ॥ १३ ॥
ततस्तानब्रवीद्राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव ।

रूप में तितरी, कल्माप और मण्डूक आदि नामोंवाले श्रेष्ठ घोड़े प्राप्त हुए। जय की इच्छा रखनेवाला अर्जुन वहां से उत्तर हरिवर्ष को गया ॥५।७॥

उस देश के भीतर पैर रखते ही महावीर्य, महाकाय, महाबली, प्रसन्नमुख, द्वारपालों ने अर्जुन के पास आकर कहा—हे अर्जुन! इस देश में घुसने का व्यर्थ उद्योग क्यों करते हो? इस राज्य को तुम किसी तरह नहीं जीत सकते। लौट जाओ, इस स्थान में मनुष्य नहीं आ सकते। यहां तक तुम आ गये, इतना ही बहुत है। इस गन्धर्व नगर में प्रवेश करनेवाला मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। तुम्हारा साहस देखकर हम बहुत प्रसन्न हुए हैं। तुम यहाँ तक दिग्विजय कर चुके, यही बहुत हो गया। यहां पर जीतने की कोई वस्तु नहीं है। यह देश उत्तर-कुरु देश कहलाता है। यहां युद्ध नहीं हो सकता। यहा प्रवेश करने पर भी तुम मनुष्य-दृष्टि से कुछ न देख सकोगे। मनुष्य यहां की कोई वस्तु नहीं देख सकता है। हे अर्जुन! जो और यहां तुम्हारा काम हो तो हमसे कहो, हम तुम्हारे कहने से उसे अवश्य पूरा कर देंगे ॥८।१३॥

हे राजन्! यह सुनकर अर्जुन ने हंसकर उनसे कहा—मैं श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर का अखण्ड साम्राज्य

पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥
न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत्किंचित्करपण्यं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥
ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुःकरम् ॥ १६ ॥
एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान्सुबहून्कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान्करे च विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्शुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान्सर्वाननिलरंहसः ॥ १९ ॥
वृतः सुमहता राजन्बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥
धर्मराजाय तत्पार्थो धनं सर्वं सवाहनम् ।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान्ययौ ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनोत्तरदिग्विजये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

स्थापित करने की इच्छा से दिग्विजय करने निकला हूँ। तुम्हारे इस स्थान में प्रवेश करने का यदि मनुष्यों को अधिकार नहीं है, तो तुम लोग महाराज युधिष्ठिर के लिये केवल कुछ 'कर' दो। मैं लौट जाऊँगा। द्वारपालों ने अर्जुन पर प्रसन्न होकर दिव्य वस्त्र, रेशमी और ऊनी कपड़े, बढ़िया गहने आदि सामग्री 'कर' के रूप में उसे दी। पुरुषसिंह अर्जुन इस प्रकार उत्तर दिशा भर जीतकर, म्लेच्छों और क्षत्रियों से अनेक संग्राम करके, सब राजाओं से 'कर' वसूल करता और फिर उन्हें उनका राज्य देता हुआ, बहुत सी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर श्रेष्ठ पुरी इन्द्रप्रस्थ को लौट आया। तीतर, मोर और तोते के रङ्ग के विचित्र, वायु के समान वेग से चलनेवाले घोड़े, रत्न, धन आदि सब लेकर अर्जुन ने युधिष्ठिर को अर्पण कर दिया। फिर उनकी आज्ञा लेकर वे अपने महलों को गये ॥१४।२१॥

सभापर्व का अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

अथ एकोनत्रिंशोऽध्यायः

वैशम्पायन उवाच—एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥

महता वलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
ततो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्धनः ।
स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥
पञ्चालान्विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः ।
ततः स गण्डकाञ्शूरो विदेहान्भरतर्षभ! ॥ ४ ॥
विजित्याऽल्पेन कालेन दाशार्णानजयत्प्रभुः ।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ॥ ५ ॥
कृतवान्भीमसेनेन महद्युद्धं निरायुधम् ।
भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ॥ ६ ॥
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ।
ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥
सैन्येन महता राजन्कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
सोऽश्वमेधेश्वरं राजन्रोचमानं सहानुगम् ॥ ८ ॥
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ।

उन्तीसवां अध्याय ॥ २९ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! दिग्विजय के लिये जिस समय अर्जुन उत्तर दिशा को गया था, उसी समय बलवान् भीमसेन युधिष्ठिर से आज्ञा पाकर अपने साथ बड़ी भारी हाथी, घोड़े और रथों-सहित सेना को लेकर पूर्व दिशा को गया था। वह पहले पाञ्चाल देश की महानगरी में गया। अनेक उपायों से अपने सम्बन्धी पाञ्चालराज को अनुगत बनाकर, उनसे 'कर' लेकर, वह गण्डक और विदेह देश में पहुँचा। थोड़े ही समय में उन्हें अपने अधीन बनाकर भीमसेन ने दशार्ण देश पर चढ़ाई की। उस देश के राजा सुधर्मा ने बिना शस्त्र के भीमसेन से बड़ा युद्ध किया। परन्तु भीमसेन ने उसको जीत लिया। और उसके बल को देखकर उसे अपनी सेना का एक प्रधान सेनापति बनाया ॥१।७॥

इसके उपरान्त भीमसेन पूर्व दिशा की ओर गया और अश्वमेध देश के रोचमान नाम राजा को, अनुचरों और सैनिकों-सहित, विजय किया। उसको जीतने के पीछे भीमसेन ने सम्पूर्ण पूर्व दिशा को बड़ी सुगमता से विजय कर लिया। और वहां से दक्षिण की ओर जाकर पुलिन्द नामी बड़े नगर को और सुमित्र और सुकुमार नामी राजाओं को वश में किया। इसके पश्चात् महावीर भीमसेन चेदि देश के महापराक्रमी राजा शिशुपाल के पास पहुँचा।

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ ९ ॥
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत् ॥ १० ॥
सुकुमारं वशं चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद्भरतर्षभः ।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ! ॥ ११ ॥
चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम् ।
उपनिष्क्रम्य नगरात्प्रत्यगृह्णात्परंतपः ॥ १२ ॥
तौ समेत्य महाराज ! कुरुचेदिवृषौ तदा ।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १३ ॥
ततो निवेद्य तद्राष्ट्रं चेदिराजो विशांपते ! ।
उवाच भीमं प्रहसन्किमिदं कुरुषेऽनघ ! ॥ १४ ॥
तस्य भीमस्तदाचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १५ ॥
ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर की अनुमति से दिग्विजय के लिये निकले हुए भीमसेन के इरादे को जानकर शिशुपाल पहले से ही उसे लेने के लिये पहुँच गया। कुरुवंश और चेदिवंश में परस्पर नातेदारी थी। उन दोनों ने मिलकर आपस में कुशल पूछी। अपना राज्य और धन सब कुछ अर्पण करके राजा शिशुपाल ने भीमसेन से उसके आने का कारण पूछा। उसने धर्मराज के राजसूय यज्ञ करने का वृत्तान्त कहकर शिशुपाल से 'कर' देने के लिये कहा। राजा शिशुपाल ने उसे आदरपूर्वक 'कर' दे दिया। भीमसेन तेरह दिन चेदि देश में रहकर, शिशुपाल के किये आदर-सत्कार से प्रसन्न होकर, अपनी सेना सहित आगे बढ़ा ॥८।१६॥

—x*x—

सभापर्व का उन्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाऽजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिन्दम ! ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महावलम् ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥
ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाऽजयत्प्रभुः ॥ ३ ॥
ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं वली ॥ ४ ॥
एवं वहुविधान्देशान्विजिग्ये भरतर्पभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥
पाण्डवः सुमहावीर्यो वलेन वलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुवाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महावाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥
युध्यमानं वलात्संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्पभः ।
ततो मत्स्यान्महातेजा मलदांश्च महावलान् ॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महावाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥

तीसवा अध्याय ॥ ३० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् भीमसेन ने कुमार देश में जाकर श्रेणिमान् राजा को हराया; कोशल देश के राजा बृहद्बल को भी पराप्त किया। फिर अयोध्याधिपति धर्मज्ञ,याज्ञिक महावली दीर्घयज्ञ नाम के राजा को उसने सहज में ही अपने अधीन कर लिया। आगे चलकर गोपालकक्ष और उत्तर कोशल और मल्ल देश के राजाओं को भीमसेन ने पराप्त किया। इसके पश्चात् हिमवान् के निकटवर्ती जलोद्भव देश में पहुँचकर उसने थोड़े ही समय में वहा के सब राजाओं से 'कर' प्राप्त किया ॥१।४॥

इस प्रकार बहुत से देशों को जीतकर भीमसेन ने अपना साम्राज्य फैलाया। फिर महावली भीमसेन ने सम्पूर्ण भल्लाट देश को और शुक्तिमान् पर्वत के रहनेवाले पुरुषों को जीता। सुपार्श्व देश के राजा क्रथ को बलपूर्वक युद्ध में परास्त करके भीमसेन ने, किसी से युद्ध में विमुख न होनेवाले, काशी के राजा सुबाहु को भी अपने अधीन बना लिया। वहा से आगे बढ़कर पाण्डव श्रेष्ठ भीमसेन ने मत्स्य, महावली मलद, अनघ, अभय आदि देशों के राजाओं से 'कर' लेकर पशु भूमि को अपने अधिकार में कर लिया। फिर मद-धार, महीधर, सोमधेय आदि को जीतने के उपरान्त

सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान्बलात् ॥ १० ॥
भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान्बहून् ॥ ११ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाऽजयद्भीमो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥
शर्मकान्वर्मकांश्चैव व्यजयत्सान्त्वपूर्वकम् ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नाऽतितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥
वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् ।
किरातानामाधिपतीनजयत्सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥
ततः सुह्मान्प्रसुह्मांश्च सपक्षानपि वीर्यवान् ।
विजित्य युधि कौन्तेयो *मागधानभ्यधाद्बली ॥ १६ ॥
दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन् ।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥
जारासन्धिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह ।

भीमसेन उत्तर मुख को घूम पड़ा ॥५।९॥

उधर उसने वत्सभूमि, भर्गराज, निषादपति और मणिमान् आदि बहुत से राजाओं को अपने अनुगत बनाया। वहां से दक्षिण मल्ल देश और भोगवान् पर्वत के राजाओं को सहज में ही परास्त करता हुआ वह आगे बढ़ा। शर्मक और वर्मक राजा आप ही उसके अधीन हो गये। पुरुषसिंह भीमसेन ने विदेह देश के राजा जनक से अनायास ही 'कर' पाकर उन्हें अपने अनुगत बनाया। आगे बढ़कर उसने नीति-कौशल-पूर्वक शक और बर्बर जातियों को अपने अधीन किया ॥१०।१४॥

वैदेह देश में ही ठहरकर भीमसेन ने इन्द्रपर्वत के पास रहनेवाले किरात जाति के सात राजाओं को जीत लिया। वहां से सुह्म और प्रसुह्म देश के राजाओं को उनके सहायकों-सहित जीतकर महाबली भीमसेन मगध देश में पहुंचा। वहां दण्ड, दण्डधार आदि राजाओं को जीतकर उनको अपने साथ लिये हुए भीमसेन गिरिव्रज में पहुंचा। वहां जरासन्ध के पुत्र सहदेव को ढाढ़स बंधाकर, और उसे करद राजा बनाकर, अधीनस्थित सब राजाओं को साथ लिये हुए भीमसेन ने

* मगध देश के सब माण्डलिकों को 'कर' देओ, ऐसा कहा।

तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद्बली ॥ १८ ॥
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा ।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनाऽमित्रघातिना ॥ १९ ॥
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत ! ।
ततो विजिग्ये बलवान्राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ २० ॥
अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम् ।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥
ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम् ।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥ २२ ॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
निर्जित्याऽऽजौ महाराज ! वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥
समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम् ।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः ।
सर्वान्म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ॥ २५ ॥
एवं बहुविधान्देशान्विजित्य पवनात्मजः ।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद्बली ॥ २६ ॥
स सर्वान्म्लेच्छनृपतीन्सागरानूपवासिनः ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २७ ॥
चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम् ।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥ २८ ॥

अङ्ग देश के राजा कर्ण के ऊपर चढ़ाई कर दी ॥१५।१८॥

चतुरङ्गिणी सेना के बोझ से पृथ्वी को कँपाते हुए बलवान् भीमसेन ने युद्ध में कर्ण को भी जीत कर वश में कर लिया। फिर उसने कई प्रबल पहाड़ी राजाओं को परास्त किया। आगे बढ़कर मोदा-पर्वत पर जाकर, उसने वहां के बहुत ही बली राजा को बाहु-युद्ध में मार डाला। अब पुण्ड्र नरेश वासुदेव, कौशिकी-कच्छ (जलप्रायदेश) के राजा, बङ्ग देश के समुद्रसेन और चन्द्रसेन, ताम्रलिप्त नरेश, कर्वट देश के राजा, सुह्माधिप और समुद्रतट के निवासी अनेक म्लेच्छों को जीतता हुआ भीमसेन लौहित्य देश में पहुँचा ॥१९।२५॥

इस प्रकार सब देशों को जीतते आ रहे भीमसेन

ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा ।
अभ्यवर्षन्महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २९ ॥
इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद्धनम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमप्राचीदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

ने समुद्रतट के सब म्लेच्छ राजाओं से 'कर' के रूप में विविध विचित्र रत्न, चन्दन, अगुरु, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चांदी, मूंगे आदि बहुत से पदार्थ प्राप्त किये। पूर्व दिशा को अच्छी तरह जीतकर भीमसेन इन्द्रप्रस्थ को लौट आया। उसने वह सब धन युधिष्ठिर को अर्पण कर दिया ॥२९।३०॥

सभापर्व का तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

अथ एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन्प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥
स शूरसेनान्कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाऽजयत्प्रभुः ।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद्बली ॥ २ ॥
अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्त्रं महाबलम् ।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ॥ ३ ॥
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
तथैवाऽपरमत्स्यांश्च व्यजयत्स पटच्चरान् ॥ ४ ॥
निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा ।
तरसैवाऽजयद्धीमाञ्छ्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

इकतीसवां अध्याय ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब हम सहदेव के दिग्विजय का वृत्तान्त कहते हैं, जो महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से चतुरङ्गिणी सेना लेकर दक्षिण दिशा को गया था। उसने पहले शूरसेन और मत्स्य देश के राजाओं को युद्ध करके वश में किया। फिर राजा दंतवक्र को, जो सब राजाओं का अधिपति था, जीता। और उससे 'कर' देने का निबन्ध करके फिर उसे राजसिंहासन पर बैठा दिया और सुकुमार, सुमित्र नामी राजाओं और पटच्चरों-सहित मत्स्यों को विजय किया। वहां से चलकर सहदेव ने निषादभूमि-गोशृंग पर्वत और राजा श्रेणिमान् को पराजय किया। फिर नरराष्ट्र देश को जीतकर वह शीघ्र राजा कुन्तिभोज के देश में पहुँचा। कुन्तिभोज ने बड़ी प्रसन्नता से 'कर' देकर उसकी

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तीभोजमुपाद्रवत् ।
प्रीतिपूर्वं च तस्याऽसौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥
ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्याऽऽत्मजं नृपम् ।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥
चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ! ।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥
सेकानपरसेकांश्च व्यजयत्सुमहाबलः ।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ९ ॥
ततस्तैनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ ॥ १० ॥
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ।
ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ ॥ ११ ॥
तत्र युद्धमभूद्राजन्दिवसद्वयमच्युतम् ।
स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः ॥ १२ ॥
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम् ।
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोशलान्नृपान् ॥ १३ ॥
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान्युधि ।

अधीनता स्वीकार कर ली। फिर वह वहा से चलकर चर्मण्वती (चंबल) नदी के किनारे पहुँचा ॥१।६॥

वहाँ पहुँचकर जम्भक राजा के पुत्र के साथ उसने बड़ा भारी युद्ध किया। पहले के वैरी श्रीकृष्ण ने पहले ही युद्ध करके उसका बल घटा दिया था। उसे जीतकर सहदेव और आगे दक्षिण दिशा में बढ़ा। सेक और अपरसेक देशों के राजाओं को जीतकर उनसे 'कर' में सहदेव ने अमित धन और असङ्ख्य श्रेष्ठ रत्न प्राप्त किये। फिर उन सबको साथ लेकर वह नर्मदा नदी के किनारे पर पहुँचा। अवन्ती देश के राजा विन्द और अनुविन्द ने बहुत सी सेना लेकर सहदेव का सामना किया। उन्हें भी जीतकर उनसे बहुत से रत्न आदि लेकर वह भोजकट नाम नगर को गया ॥७।११॥

वहा दो दिन बराबर युद्ध करके उसने भीष्मक राजा को परास्त किया। वहा से कोशल-नरेश वेणा नदी की तटभूमि के राजा और कान्तारक लोगों को जीता। फिर प्राक्कोशल, नाटकेय, हेरम्बक, मारुध आदि राजाओं को युद्ध में पराजय किया। इसके पश्चात् सहदेव ने बलपूर्वक रम्यग्राम पर चढ़ाई की। वहां भी विजय पाकर वह आगे बढ़ा। और नाचीन, अर्बुक आदि जङ्गली राजाओं को युद्ध में हराकर उसने

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ॥ १४ ॥
नाचीनानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ।
तांस्तानाटविकान्सर्वानजयत्पाण्डुनन्दनः ॥ १५ ॥
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ।
पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः ॥ १६ ॥
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ।
तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ॥ १७ ॥
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ।
तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान्सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥
ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥
गच्छ पाण्डवशार्दूल ! रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ।
ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥
पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।

अपने वश में कर लिया; आगे चल कर राजा वाताधिप और पुलिन्द लोगों को वश में किया॥११।१५॥

फिर एक दिन घोर युद्ध करके पाण्ड्य देश के राजा को अधीन बनाकर सहदेव दक्षिण दिशा में और आगे बढ़ा। वहां से वह लोकप्रसिद्ध किष्किन्धा गुफा के समीप पहुँचा, और वहां पर वानरों के मैंद और द्विविद नाम राजाओं से सात दिन तक युद्ध हुआ। सहदेव का शौर्य, वीर्य, साहस आदि देखकर वे वानर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सहदेव से कहा— हे पाण्डुनन्दन ! हम धर्मराज युधिष्ठिर के कार्य में विघ्न डालना नहीं चाहते ॥१६।२०॥

हम तुम्हें 'कर' के रूप में बहुत से श्रेष्ठ रत्न देते हैं: इन्हें लेकर तुम आगे जाओ। उनसे रत्न लेकर सहदेव आगे बढ़कर माहिष्मती पुरी में पहुँचा। उस नगरी के राजा पराक्रमी नील के साथ सहदेव को घमासान युद्ध करना पड़ा। वहां के घोर युद्ध में असंख्य सेना का नाश हो गया। प्राणों के लिये संशयजनक उस युद्ध में भगवान् अग्नि राजा नील के सहायक थे। अग्नि का कोप होने से सहदेव की सेना के रथ, घोड़े, हाथी, पैदल और उनके कवच जलते हुए चारों ओर दिखाई पड़ने लगे। यह देखकर सहदेव ने बहुत आश्चर्य माना। बहुत विचार करने

ततोऽस्य सुमहद्युद्धमासीद्भीरुभयङ्करम् ॥ २२ ॥
सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान्हव्यवाहनः ॥ २३ ॥
ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥
ततः सुसंभ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ! ॥ २५ ॥
जनमेजय उवाच- किमर्थं भगवान्वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद्युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ! ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच- तत्र माहिष्मतीवासी भगवान्हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात्पारदारिकः ॥ २७ ॥
नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवाऽतीव शोभना ।
साऽग्निहोत्रमुपातिष्ठद्बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥
व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत्प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटोष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥
ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥

पर भी उस समय उसे इस आपत्ति से बचने का कोई उपाय न देख पड़ा ॥२१।२५॥

यह सुनकर राजा जनमेजय ने वैशम्पायन जी से पूछा—हे महाराज ! सहदेव तो अग्नि में ही यज्ञ करने के लिये यत्न कर रहा था, फिर किस कारण से अग्नि ने सहदेव की सेना को जलाया ? यह सुनकर वैशम्पायन जी बोले—सुना जाता है कि राजा नील की एक परम रूपवती सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्या थी। राजा उसको अग्निहोत्र के समय अपने पास लेकर इस कारण से बैठा करता था, कि जबतक वह कन्या अपने होठों से फूँक नहीं मारती थी, तबतक पँखे की भी वायु से अग्नि नहीं जलती थी। अग्निदेव उस कन्या के स्वरूप को देखकर ऐसे कामासक्त हो गये कि सुन्दर ब्राह्मण का रूप धारण कर उस कन्या से इच्छापूर्वक रमण करने लगे ॥२६।३०॥

जब अग्निदेव राजा का अनादर करके उनके यहां और अन्य नगरवासियों के यहां भी जाकर मनमाना आचरण करने लगे और राजा को यह सूचना मिली, तब धार्मिक राजा ने कुपित होकर ब्राह्मण का रूप धारण करनेवाले अग्नि को, शास्त्र की विधि के अनुसार, दण्ड देने का उद्योग किया। इससे रुष्ट होकर अग्निदेव प्रलयकाल के समान भयानक रूप लेकर

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया ।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ॥ ३१ ॥
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद्धार्मिकस्तदा ।
प्रजज्वाल ततः कोपाद्भगवान्हव्यवाहनः ॥ ३२ ॥
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसाऽवनिम् ।
ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ॥ ३३ ॥
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ।
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा ॥ ३४ ॥
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ।
वरेण च्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ॥ ३५ ॥
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ।
ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात्तां पुरीं नृपाः ॥ ३६ ॥
जिगीषन्ति बलाद्राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ।
तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ! ॥ ३७ ॥
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ।
एवमग्निर्वरं प्रादात्स्त्रीणामप्रतिवारणे ॥ ३८ ॥
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ।

राजा के राज्य में प्रज्वलित हो उठे। यह आश्चर्य घटना देखकर राजा डर गया। वह अग्नि की शरण में आया और दण्डवत् प्रणाम करके उन्हें शान्त करने की चेष्टा करने लगा। राजा ने ब्राह्मण-रूपधारी अग्नि के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया। उस कन्या को पाकर, अग्निदेव बहुत प्रसन्न और शान्त हुए और राजा नील पर कृपा करके कहने लगे कि जो कुछ इच्छा हो सो वरदान मांगो। यह सुनकर राजा नील ने कहा—हे महाराज ! कोई भी शत्रु मुझपर चढ़ाई करके मेरा कुछ अनिष्ट न कर सके। किसी शत्रु से मुझे और मेरी सेना को कोई भय न हो ॥३१।३६॥

'ऐसा ही होगा' कहकर अग्निदेव अन्तर्द्धान हो गये। हे राजन् ! उस समय से जो कोई राजा बिना जाने उस पुरी को जीतने की इच्छा से जाता था उस को सेना-सहित अग्निदेव भस्म कर देते थे। [इसी कारण जय की आशा से कोई राजा माहिष्मती-पुरी पर चढ़ाई करने की हिम्मत नहीं करता था।] नील राजा की कन्या से अग्नि का विवाह हो चुकने पर स्त्रियाँ, अग्नि के वरदान से स्वेच्छाचारिणी हो गईं। तब से वहां की स्त्रियां स्वैरिणी रहती हैं और राजा लोग अग्नि के भय से उस पुरी को विजय करने

वर्जयन्ति च राजानस्तत्पुरं भरतर्षभ ॥ ३९ ॥
भयादग्नेर्महाराज तदा प्रभृति सर्वदा ।
सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ॥ ४० ॥
परीतमग्निना राजन्नाऽकम्पत यथाऽचलः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत्पावकं ततः ॥ ४१ ॥
सहदेव उवाच—त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन्नमोऽस्तु ते ।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ! ॥ ४२ ॥
पावनात्पावकश्चाऽसि वहनाद्धव्यवाहनः ।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४३ ॥
चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चाऽसि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४४ ॥
वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान्रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४५ ॥
अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चाऽऽपो दिशन्तु मे ॥ ४६ ॥
अपांगर्भ ! महासत्त्व ! जातवेदः ! सुरेश्वर ! ।
देवानां मुखमग्ने ! त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥

को नहीं जाते हैं। सो हे राजा जनमेजय ! अपनी सेना को अग्नि में जलती हुई देखकर सहदेव तनिक भी विचलित नहीं हुआ, किन्तु शुद्ध होकर आचमन करके अग्नि की स्तुति करने लगा॥३७४१॥

हे अग्निदेव ! यह दिग्विजय का उद्योग यज्ञ करके आप की ही आराधना के लिये किया जा रहा है। आप देवताओं के पवित्र मुख हैं। यज्ञ भी आपका ही रूप है। आप का नाम पवित्र होने के कारण से पावक और हव्य को धारण करने से हव्यवाहन है। वेद आप ही (यज्ञ) के लिये उत्पन्न हुए है,इसी से आप का नाम 'जातवेदा' है। आपको चित्रभानु, सुरेश, अनल, विभावसु, आकाश को स्पर्श करनेवाला, हुताशन, ज्वलन, शिखि, वैश्वानर, पिंगेश, प्लवङ्ग, भूरितेजा, कार्तिकेय कुमार का उत्पत्तिस्थान, भगवान् रुद्रगर्भ और हिरण्यरेता आदि नामों से लोग पूजते हैं। मुझे आप अग्निरूप से तेज, वायुरूप से प्राण, पृथ्वीरूप से बल और जलरूप से कल्याण दीजिये। हे भगवन् ! जल की उत्पत्ति आप से ही हुई है। आप महासत्त्व और श्रेष्ठतत्त्व हैं। आप देवताओं में श्रेष्ठ, देवताओं का मुख और पवित्र रूप हैं। आप सत्य के द्वारा मुझे पवित्र कीजिए। ऋषि, ब्राह्मण, देवता और असुर आदि नित्य हवन करके आप की आराधना करते हैं।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत ! यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम्. ॥ ४८ ॥
धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहाऽनिलसंभवः ।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४९ ॥
एवं स्तुतोऽसि भगवन्प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतं चैव प्रीतिं चाऽग्ने ! प्रयच्छ मे ॥ ५० ॥
वैशम्पायन उवाच- इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन्यो जुहुयाद्विभुम् ।
ऋद्धिमान्सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५१ ॥
सहदेव उवाच—यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन ! ।
एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ॥ ५२ ॥
विधिवत्पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ! ॥ ५३ ॥
न चैनमत्यगाद्वह्निर्वेलामिव महोदधिः ।
तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ॥ ५४ ॥
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य ! जिज्ञासेयं कृता मया ॥ ५५ ॥
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ।

धूमकेतु, शिखी, पापनाशक, वायु से उत्पन्न, सब प्राणियों में नित्य स्थित आदि नामों और गुणों से सब लोग आपकी स्तुति करते हैं। आप सत्य के द्वारा मुझे पवित्र कीजिए। हे महाराज! मैं प्रीतिपूर्वक आपकी स्तुति करता हूँ। आप मुझे वृद्धि, प्रीति, ज्ञान और सुख दीजिए ॥४२।५०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! सहदेव ने इस आग्नेय मन्त्राष्टक से अग्नि की स्तुति की। जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर इन मन्त्रों से अग्नि में हवन करता है, उसके सब पाप दूर हो जाते हैं। स्तुति करने के पीछे सहदेव अग्निदेव से बोला—हे अग्निदेव! महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में विघ्न डालना आपको उचित नहीं। पुरुषसिंह सहदेव कुशासन बिछाकर डरी और घबराई हुई अपनी सेना के आगे अग्नि के निकट ही बैठ गया। यह देखकर अग्नि आगे को इस प्रकार से नहीं बढ़ी, जैसे समुद्र अपनी मर्यादा से आगे को नहीं बढ़ता है ॥५१।५४॥

और फिर अग्निदेव ने उसके पास आकर सांत्वपूर्वक धीरे से कहा कि हे सहदेव! उठ खड़ा हो। मैं तेरे और महाराज युधिष्ठिर के अभिप्राय को जानता हूँ। परन्तु इस पुरी की रक्षा करना मुझको उस समय तक अवश्य है, जब तक राजा नील का

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम ! ॥ ५६ ॥
यावद्राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति ।
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ! ॥ ५७ ॥
तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः ।
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ! ॥ ५८ ॥
पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाऽभ्यगात्तदा ।
पावकस्याऽऽज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५९ ॥
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधां पतिम् ।
प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ।
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम् ॥ ६० ॥
त्रैपुरं स्ववशे कृत्वा राजानममितौजसम् ।
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ॥ ६१ ॥
आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ।
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ॥ ६२ ॥
सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ।
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ॥ ६३ ॥
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ।

यहां वंश रहेगा। तू उठ, मैं तेरी मनोकामना को पूरा करूँगा। यह सुनकर सहदेव बड़ा प्रसन्न हुआ और हाथ जोड़कर नम्रता से अग्नि का पूजन किया ॥५५।५९॥

अग्नि के शांत हो जाने पर, उनकी आज्ञा के अनुसार, राजा नील ने सहदेव की अधीनता स्वीकार कर ली। वह उससे आकर मिला और 'कर' के रूप में अनेक रत्न और धन देकर उसने वीर-श्रेष्ठ सहदेव की पूजा की। सहदेव विजय पाकर और आगे बढ़ा। दक्षिण दिशा में स्थित त्रिपुर-राज्य में पहुंचकर वहां के बड़े पराक्रमी राजा को उसने अपने अधीन किया। फिर पौरवेश्वर को जीतकर सुराष्ट्र देश के राजा कौशिकाचार्य आकृति को उसने बड़े युद्ध के उपरान्त अपने अधीन किया। सुराष्ट्र देश में ही ठहरकर सहदेव ने भोजकटपुर के राजा रुक्मी और राजा भीष्मक के पास जो इन्द्र का मित्र था, अपना दूत भेजा। अपने पुत्र रुक्मी-सहित भीष्मक ने प्रसन्नतापूर्वक युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर ली, और 'कर' के रूप में अनेक श्रेष्ठ रत्न अर्पण किये। उनके इस प्रकार अधीनता स्वीकार कर लेने का कारण यह भी था कि उनकी कन्या रुक्मिणी वासुदेव को ब्याही थी ॥६०।६६॥

स चाऽस्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ॥ ६४ ॥
प्रीतिपूर्वं महाराज ! वासुदेवमवेक्ष्य च ।
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद्युधां पतिः ॥ ६५ ॥
ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ।
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ॥ ६६ ॥
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन्म्लेच्छयोनिजान् ।
निषादान्पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ॥ ६७ ॥
ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ।
कृत्स्नं कोल्लगिरिं चैव सुरभीपट्टनं तथा ॥ ६८ ॥
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ।
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ॥ ६९ ॥
एकपादांश्च पुरुषान्केरलान्वनवासिनः ।
नगरीं संजयन्तीं च पाषण्डं करहाटकम् ॥ ७० ॥
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।
पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोण्ड्रकेरलैः ॥ ७१ ॥
अन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ।
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ॥ ७२ ॥

यहां से आगे बढ़कर शूर्पारक, तालाकटक, दण्डक आदि के पास जाकर उन्हें महाबली सहदेव ने अपने अधीन बनाया। फिर समुद्र के टापुओं में और किनारे पर रहनेवाले म्लेच्छ राजाओं को, नर-मांस खानेवाले निषादों को और कर्ण-प्रावरण, कालमुख आदि मनुष्यरूप-धारी राक्षसों को भी जीतकर उन्होंने वश में किया। सम्पूर्ण कोल्लगिरि सुरभीपट्टन, ताम्राह्वय-द्वीप, रामपर्वत आदि अनेक स्थानों पर अपना अधिकार जमाते हुए सहदेव ने तिमिङ्गिल नाम के राजा को जीता, और उस से 'कर' लिया। उपरान्त दूतों को ही भेजकर एक-पाद पुरुषों, वन के रहनेवाले केरल जाति के लोगों, सञ्जयन्ती नगरी के राजा और पाषण्ड देश तथा करहाटक देश के राजा को सहदेव ने अपने अनुगत बना लिया। पाण्ड्य, द्राविड़, उण्ड्र-केरल, अन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग, उष्ट्रकर्णिक, आटवी नाम रम्यपुरी और यवनों की नगरी में दूत भेजकर उनसे भी अनायास कर ले लिया ॥६७।७१॥

समुद्र-तट के कच्छ देश में पहुँचकर सहदेव ने पुलस्त्यवंशी राजा विभीषण के पास अपना दूत भेजा। महात्मा विभीषण ने प्रसन्नतापूर्वक युधिष्ठिर के शासन को स्वीकार कर लिया और 'कर' के रूप में अनेक रत्न, चन्दन और अगुरु की सुगन्धित लकड़ियां तथा

दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।
ततः कच्छगतो धीमान्दूतान्माद्रवतीसुतः ॥ ७३ ॥
प्रेपयामास राजेन्द्र ! पौलस्त्याय महात्मने ।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ॥ ७४ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम् ।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः ॥ ७५ ॥
ततः संप्रेषयामास रत्नानि विविधानि च ।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७६ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान् ।
न्यवर्तत ततो धीमान्सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७७ ॥
एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च ।
करदान्पार्थिवान्कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ७८ ॥
धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभः ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ! ॥ ७९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

दिव्य आभरण एवं बड़े कीमती वस्त्र भेजकर सहदेव का सत्कार किया। हे महाराज ! पराक्रमी सहदेव इस प्रकार वीरता और विनय के द्वारा दक्षिण दिशा के सब राजाओं को जीतकर इन्द्रप्रस्थ को लौट आया। वहां आकर जय के द्वारा प्राप्त हुआ सब अपरिमित धन और श्रेष्ठ सामग्री उसने धर्मराज युधिष्ठिर को अर्पण कर दी। धर्मराज ने प्रसन्न होकर उनका उचित सत्कार किया। इसके उपरान्त सहदेव अपने भवन को गये ॥७२।७९॥

— * —

सभापर्व का इकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच- नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा ।
वासुदेवजितामाशां यथाऽसावजयत्प्रभुः ॥ १ ॥

बत्तीसवां अध्याय ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! अब मैं नकुल के दिग्विजय का वर्णन करता हूँ। एक बार वासुदेव श्रीकृष्ण ने पश्चिम दिशा के राजाओं को जीत लिया था। राजा युधिष्ठिर से विदा होकर

निर्याय खाण्डवप्रस्थात्प्रतीचीमभितो दिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान्प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥
सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च ।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन्वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥
ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् ।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥
तत्र युद्धं महच्चाऽऽसीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः ।
मरुभूमिं च कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥
तान्दशार्णान्स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान्मालवान्पञ्च कर्पटान् ॥ ७ ॥
तथा मध्यमकेयांश्च वाटधानान्द्विजानथ ।
पुनश्च परिवृत्याऽथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसङ्केतान्व्यजयत्पुरुषर्षभः ।
सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥

बहुत सी सेना साथ लिये हुए अब नकुल उसी पश्चिम दिशा की ओर चला। उसकी सेना में योद्धाओं की गरज और रथों की झंझनाहट से बड़ा भयानक शब्द होता था। वह पहले बहुत धन-धान्य से पूर्ण, बड़े रमणीय, गाय आदि पशुओं से सम्पन्न और भगवान् कार्तिकेय को प्रिय रोहीतक पर्वत पर पहुँचा। वहां बड़े ही शूरवीर मत्तमयूर जाति के लोगों से नकुल का बड़ा युद्ध हुआ। अन्त में उसने उन दोनों को और मरुभूमि, शैरीषक और महेत्थ आदि पहाड़ों के राजाओं को अपने अधीन करके उनसे 'कर' लिया। इसके पीछे राजर्षि आक्रोश के साथ उन्हें घोर युद्ध करना पड़ा ॥१।६॥

उनसे भी 'कर' लेकर नकुल ने दशार्ण, शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट, मध्यमक क्षत्रियों और वाटधान ब्राह्मणों को जीतकर उनसे 'कर' लिया। फिर नकुल ने पुष्कर वन में पहुँचकर उत्सव सङ्केत नाम की म्लेच्छ जातियों को परास्त किया। समुद्र के किनारे रहनेवाले महाबली ग्रामणीय लोगों को और सरस्वती नदी के आसपास रहनेवाले शूद्रों और अभीरों को उसने जीता। मछली पकड़कर उनसे निर्वाह करनेवालों को और अन्य पहाड़ी जातियों को भी हराकर नकुल ने उनसे 'कर' लिया। इसके पश्चात् उसने सारे पंचनद अर्थात् पंजाब देश को, अमर पर्वत के निवासियों को, उत्तर ज्योतिष देश

शूद्राभीरगणांश्चैव ये चाऽऽश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥
कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवाऽमरपर्वतम् ।
उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।
रामठान्हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥
तान्सर्वान्स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ! ॥ १३ ॥
स चाऽस्य यादवैः सार्धं प्रतिजग्राह शासनम् ।
ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।
स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्काराहों विशांपते ! ॥ १५ ॥
रत्नानि भूरीण्यादाय संप्रतस्थे युधां पतिः ।
ततः सागरकुक्षिस्थान्म्लेच्छान्परमदारुणान् ॥ १६ ॥
पह्लवान्बर्बरांश्चैव किरातान्यवनाञ्छकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ॥ १७ ॥
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ।
करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

को, दिव्यकट और द्वारपाल नाम के नगरों को भी, जीतकर उनके राजाओं से 'कर' लिया । आगे बढ़कर नकुल ने रामठ, हारहूण आदि पश्चिम देशी राजाओं को केवल आज्ञा देकर ही अपना अनुगत बना लिया ॥७।१३॥

फिर वासुदेव के पास नकुल ने अपना दूत भेजा । उन्होंने भी यादवों के साथ युधिष्ठिर के शासन को सादर स्वीकार कर लिया। वहा से वह मद्र देश में पहुँचा। वहा नकुल के मामा की नगरी थी। मद्र देश की राजधानी शाकलनगर में पहुँचकर मामा शल्य को भी नकुल ने अपने अधीन कर लिया । नकुल को शल्य ने बड़े आदरपूर्वक अनेक श्रेष्ठ रत्न दिये ॥१४।१६॥

वहा से चलकर नकुल ने समुद्र के भीतर टापुओं में रहनेवाले दारुण म्लेच्छों को, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शक आदि जातियों को परास्त किया, और उनसे अनेक प्रकार के रत्न और बहुत सा धन प्राप्त किया । इस प्रकार सम्पूर्ण पश्चिम

ऊहुर्दश महाराज ! कृच्छ्रादिव महाधनम् ।
इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ॥ १९ ॥
ततो माद्रीसुतः श्रीमान्धनं तस्मै न्यवेदयत् ।
एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥
समाप्तं च दिग्विजयपर्व ।

दिशा को जीतकर दस हज़ार ऊँटों पर रत्न आदि पदार्थों को लादकर नकुल इन्द्रप्रस्थ नगर को लौटा। हे महाराज ! सब धन लाकर नकुल ने धर्मराज युधिष्ठिर को अर्पण किया। उन्होंने बहुत-प्रसन्न होकर उसका सत्कार किया ॥१७।२०॥

—*:*—

सभापर्व का बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

अथ राजसूयपर्व ।

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच–रक्षणाद्धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥
बलीनां सम्यगादानाद्धर्मतश्चाऽनुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥ २ ॥
सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥
दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन्प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाऽश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥
अवर्षं चाऽतिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।

तेंतीसवां अध्याय ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! अब महाराज युधिष्ठिर, बड़े यत्न के साथ, शत्रुओं का विनाश करके प्रजा की रक्षा और सत्य का पालन करने लगे। उनकी प्रजा भी तन-मन से अपने कर्म करने लगी। न्यायपूर्वक 'कर' लेने और धर्म के अनुसार शासन करने से समय पर भरपूर वर्षा होती थी, और खूब अन्न उत्पन्न होता था। उसके कारण से उसके राज्य में बड़ी वृद्धि हुई। लोग गौओं की रक्षा, खेती और व्यापार आदि सब काम अच्छी तरह करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिर ने ऐसा राज्य किया कि ठग, डाकू, चोर और राज-कर्मचारी आदि भी असत्य बोलने आदि निकृष्ट कामों से घृणा करने लगे ॥१।४॥

सर्वमेतत्तदा नासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥
प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नाऽन्यैः कार्यैः कथंचन ॥ ६ ॥
धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥
स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥
सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक्च सह चाऽब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो ! क्रियतामत्र सांप्रतम् ॥ ९ ॥
अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्माऽदृश्यश्चैव* विजानताम् ॥ १० ॥
जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाऽप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥
प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।

उनके राज्य में वर्षा न होना अथवा अत्यन्त वर्षा होना, रोग-व्याधि, आग का लगना, अकाल-मृत्यु आदि किसी अशुभ घटना का नाम तक कहीं न सुन पड़ता था। राजा लोग युधिष्ठिर के पास 'कर' देने, अथवा उनका प्रिय कार्य करने, या पास बैठने को आया-जाया करते थे। कभी कोई राजा युद्ध आदि की इच्छा से नहीं आता था, और धर्म से लाये हुए धन से युधिष्ठिर का खज़ाना इतना बढ़ गया कि सैकड़ों वर्षों में भी वह खर्च नहीं हो सकता था। जब महाराज युधिष्ठिर ने अपने कोष को धन-धान्य और वस्त्रों से इतना बढ़ा हुआ देखा, तब उन्होंने यज्ञ करने का विचार किया। तब उनके इष्ट-मित्रों ने अलग-अलग, और मिलकर भी, उनसे कहा—हे महाराज ! अब यह आपके यज्ञ करने के लिये ठीक समय है। इसलिये शीघ्र ही राजसूय यज्ञ आरम्भ कर दीजिए। इस प्रकार सब लोग धर्मराज युधिष्ठिर से कह ही रहे थे कि इसी समय यज्ञेश्वर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पास आये। सब के अन्तर्यामी, सब प्राणियों में आत्मारूप से स्थित, समदर्शी, दयालु, चराचर जगत् में सबसे श्रेष्ठ, पुराण ऋषि, वेदरूप, संसार की सृष्टि और संहार के कारण, भूत-वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों

* 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इस श्रुति के अनुसार परमात्मा को ज्ञान का विषय समझनेवालों को अगम्य।

धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महता वृतः ॥ १३ ॥
तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन्रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ।
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ॥ १५ ॥
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ।
तं मुदाऽभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ॥ १६ ॥
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभः ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण ! वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय ! त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १८ ॥
सोऽहमिच्छामि तत्सर्वं विधिवद्देवकीसुत ! ।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ! ॥ १९ ॥
तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह ! सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो ! तन्माऽऽज्ञातुमिहार्हसि ॥ २० ॥

के नियामक, केशव, केशी दैत्य को मारनेवाले, यादवों की रक्षा करनेवाले आपत्तिकाल में अभय देनेवाले, शत्रुनाशन, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण द्वारका पुरी की रक्षा का भार वसुदेव जी को सौंपकर महाराज युधिष्ठिर को भेंट देने के लिये असङ्ख्य धन-रत्न लेकर इन्द्रप्रस्थ नगर में उपस्थित हुए । उनके साथ बहुत सेना भी आई । अपने रथ के पहियों की घरघराहट से दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र ने जब खाण्डवप्रस्थ में प्रवेश किया, तब सब लोग उन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। जहां सूर्य के दर्शन न होते हों, वहां सूर्योदय होने से, और जहां वायु का नाम तक न हो, वहां वायु चलने से जैसे मनुष्यों को अपार आनन्द प्राप्त होता है वैसे ही शत्रुओं के शोक को बढ़ानेवाले श्रीकृष्ण के आने से पाण्डवों को और पुरवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥५।१६॥

राजा युधिष्ठिर ने बड़े आनन्दपूर्वक श्रीकृष्ण की अगवानी की, उनका सत्कार किया। कुशल-क्षेमप्रश्न के उपरान्त जब श्रीकृष्ण सुखपूर्वक बैठ गये, तब धौम्य, व्यास आदि ऋत्विजों और भीम, अर्जुन आदि भाइयों के बीच विराजमान महाराज युधिष्ठिर ने उनसे कहा—हे श्रीकृष्ण जी ! आपकी कृपा से अब सब पृथ्वी मेरे वश में है; मेरे खज़ाने में बहुत सा धन भी इकट्ठा हो गया है । हे देवकीनन्दन ! अब मैं

तद्दीक्षापय गोविन्द ! त्वमात्मानं महाभुज ! ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह ! विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥
मां वाऽप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो ! ।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण! प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच– तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम् ।
त्वमेव राजशार्दूल ! सम्राडर्हो महाक्रतुम् ॥ २३ ॥
संप्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ।
यजस्वाऽभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते ।
नियुंक्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्ताऽस्मि ते वचः ॥ २४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—सफलः कृष्ण ! संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम ।
यस्य मे त्वं हृषीकेश ! यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच–अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥ २६ ॥
ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २७ ॥

यह सब धन राजसूय यज्ञ करके ब्राह्मणों को और अग्निदेव को सन्तुष्ट करने में लगाना चाहता हूँ। मैं तुम्हारी सहायता के भरोसे पर अपने भाइयों के साथ राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ। उसके लिये तुम मुझे आज्ञा दो। हे महाबाहो! मेरी इच्छा तो यह है कि तुम ही दीक्षा लेकर यह यज्ञ करो। आपके यज्ञ करने से मेरे सब पाप दूर हो जायँगे। अथवा मुझे ही भाइयों के साथ इस यज्ञ की दीक्षा लेने की अनुमति दो। तुम्हारी आज्ञा होने से मुझे विश्वास है कि यह यज्ञ ठीक-ठीक हो सकेगा ॥१७।२२॥

यह सुनकर श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर की प्रशंसा की, और कहा–हे महाराज ! अब आप सब राजाओं में श्रेष्ठ सम्राट् हैं। आप में सब प्रकार से यह महायज्ञ करने की योग्यता है। आप इस महायज्ञ को करेंगे तो उससे हम भी कृतकृत्य हो जायँगे। मैं आपका कल्याण चाहनेवाला हूँ, इसी लिये मैं आप के पास मौजूद हूँ। आप अपनी इच्छा के अनुसार यज्ञ का आरम्भ कीजिए। जो कुछ कार्य करना हो उसे करने की आज्ञा मुझे दीजिए; आपकी आज्ञा का पालन करने को मैं तैयार हूँ। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा–हे श्रीकृष्ण ! तुम मेरे स्मरण करते ही यहां आकर उपस्थित हो गये, इसी से मेरा संकल्प सफल हो गया और मुझे कार्य सिद्ध होने का पूर्ण विश्वास हो गया ॥२३।२५॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! इसके उपरान्त श्रीकृष्ण जी से आज्ञा पाकर राजा युधिष्ठिर यज्ञ की सब वस्तुएँ एकत्र करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिर ने छोटे भाई सहदेव को और मन्त्रियों को

अस्मिन्क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः ।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥
अधियज्ञांश्च सम्भारान्धौम्योक्तान्क्षिप्रमेव हि ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चाऽर्जुनसारथिः ।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३० ॥
सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ! ॥ ३१ ॥
तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥ ३२ ॥
ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान्साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ॥ ३३ ॥
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥
याज्ञवल्क्यो बभूवाऽथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥ ३५ ॥
एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ ! ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३६ ॥

आज्ञा दी कि ब्राह्मणों की आज्ञा के अनुसार और यज्ञ के अङ्गस्वरूप अन्य कर्मों की सब सामग्री सेवकों से मँगवाकर, ऋषि धौम्य की आज्ञा से, यथास्थान और यथाक्रम रखवाओ। और इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुन के पूरु नाम सारथियों को आज्ञा दी कि तुम अन्न, रस और गन्धमय चारों प्रकार के भोजन जो ब्राह्मणों को अच्छे लगते हैं, इकट्ठे करो ॥२६।३१॥

युधिष्ठिर की आज्ञा की देर थी; सहदेव ने उसी समय सब सामग्री एकत्र करा दी और धर्मराज से जाकर कहा कि आपकी आज्ञा का पालन हो गया। हे राजा जनमेजय! शरीरधारी वेदों के समान तेजस्वी ब्राह्मणों को ऋत्विक् बनाकर सत्यवती के पुत्र व्यास जी ने ब्रह्मा का वरण लिया। धनञ्जयगोत्री सुसामा ऋषि सामवेद गानेवाले उद्गाता हुए। ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य ऋषि अध्वर्यु हुए। वसु के पुत्र पैल ऋषि और धौम्य ऋषि ने होता का काम ग्रहण किया। इन सब के पुत्र और शिष्य होत्रगाता हुए। ये भी सब वेद-वेदाङ्गों के पूरे ज्ञाता थे ॥३२।३६॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद्देवयजनं महत् ॥ ३७ ॥
तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥ ३८ ॥
तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥ ३९ ॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाऽऽशुगान्द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान्प्राहिणोत्तदा ॥ ४० ॥
आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्भूमिपानथ ।
विशश्च मान्याञ्शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥
वैशम्पायन उवाच—समाज्ञप्तास्ततो दूताःपाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चाऽपरान्द्रुतम् ।
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४२ ॥
ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ! ॥ ४३ ॥
दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

सब ऋषियों ने स्वस्ति-पुण्याहवाचन-शान्तिपाठ के उपरान्त शास्त्र की विधि के अनुसार देवताओं का और यज्ञभूमि का पूजन किया। शिल्पविद्या जानने-वालों (कारीगरों) ने महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से उस विशाल यज्ञमण्डप के आसपास बड़े बड़े देव-ताओं के स्थानों के सदृश सुगन्धित स्थान बनवाये थे। [उन स्थानों में फल, मिठाई, जल आदि रक्खा हुआ था।] इसके उपरान्त धर्मराज युधिष्ठिर ने सहदेव मन्त्री को बुलाकर आज्ञा दी कि दूत लोग शीघ्रता के साथ चारों ओर भेज दिये जायँ, वे शीघ्र चलनेवाले वाहनों पर चढ़कर लोगों को निमन्त्रण दे आवें। सहदेव ने महाराज की आज्ञा पाकर उसी के अनुसार दूतों को बुलाकर उनसे कहा–तुम लोग शीघ्र जाकर हमारे साम्राज्य के ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और श्रेष्ठ शूद्रों को निमन्त्रण देकर अपने साथ ले आओ ॥३७।४१॥

राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से वे सब दूत [शीघ्र-गामी रथों पर चढ़कर] अनेक देशों और देशान्तरों को गये। और वहा से निमन्त्रित लोगों को अपने साथ लेकर उचित समय पर लौट आये। [फिर राजा युधिष्ठिर ने भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य और दुर्योधन आदि भाइयों को निमन्त्रण देने के लिये नकुल को हस्तिनापुर भेजा।] इसके पीछे समय के आने पर, देश देशान्तरों से आये हुए ब्राह्मणों ने राजा युधिष्ठिर

जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४४ ॥
भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिःसचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४५ ॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।
आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४६ ॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।
तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥
वह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान्सगणानां पृथक्पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नाञ्शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥
तेषु ते न्यवसन्राजन्ब्राह्मणा भृशसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा वह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ॥ ४९ ॥
भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ॥ ५० ॥
दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति ।
एवंप्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्माऽत्र नित्यशः ॥ ५१ ॥
गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ! ।

को यज्ञ करने के लिये दीक्षा दी। दीक्षा लेकर वह यज्ञ-शाला में पधारे। अपने भाइयों, इष्ट-मित्रों, मन्त्रियों, अनुचरों, हज़ारों ब्राह्मणों और देश-देशान्तरों से आये हुए क्षत्रियों और राजाओं के बीच शरीरधारी धर्म के समान राजा युधिष्ठिर की शोभा हुई ॥४२।४६॥

साम्राज्य के चारों ओर से विद्वान्, वेदपाठी अनेक ब्राह्मण यज्ञ-शाला में आने लगे। उनके रहने के लिये कारीगरों ने पृथक् पृथक् असंख्य निवास-स्थान बनाये थे। उन भवनों में तरह-तरह की खाने-पीने की सामग्रियाँ और सब सुखदायक पदार्थ भी पड़े थे। उन भवनों में गर्मी, जाड़ा, बरसात आदि हर एक ऋतु में आराम मिलता था। महाराज युधिष्ठिर से सत्कार, पूजा पाकर ये सब ब्राह्मण लोग उन्हीं भवनों में रहने लगे। कोई तरह-तरह की कथाएँ कहते थे, और कोई नट आदि नाचनेवालों के कृत्य अर्थात् तमाशा देखते हुए रहने लगे ॥४७।४९॥

भोजन कर रहे और शास्त्रार्थ में लगे हुए प्रसन्नचित्त ब्राह्मणों का बड़ा भारी शब्द दिन-रात सुन पड़ता था। "इनको दो, उनको दो, भोजन करो" इत्यादि शब्द वहां हर समय चारों ओर सुन पड़ते थे। राजा युधिष्ठिर ने हरएक निमन्त्रित को अलग-अलग सैकड़ों हज़ारों गायें, सुवर्ण की शय्याएँ, और दास-दासियाँ दीं। देवलोक के स्वामी इन्द्र के समान महाराज

रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग्ददौ ॥ ५२ ॥
प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ॥ ५३ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ॥ ५४ ॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातृणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥ ५५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजादिनिमन्त्रणं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर का यज्ञ इस प्रकार आनन्द और उत्साह के साथ होने लगा। इसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने नकुल को भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र विदुर, कृपाचार्य और सब भाइयों को हस्तिनापुर जाकर लाने की आज्ञा दी ॥५०।५५॥

—:o:—

सभापर्व का तेंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच—स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः ।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥ १ ॥
सत्कृत्याऽऽमन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः ।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥
संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ! ॥ ३ ॥
द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ! ॥ ४ ॥

चौंतीसवां अध्याय ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर नकुल शीघ्र ही हस्तिनापुर को गया। वहां जाकर यथोचित सम्मान, सत्कार और विनय के साथ उसने भीष्म, धृतराष्ट्र, आदि [कुरु-वंशियों] को और कृपाचार्य, द्रोणाचार्य आदि आचार्यों को यज्ञ में चलने के लिये अनुरोध किया। तब सब कौरव, ब्राह्मणों को आगे करके, प्रसन्नता के साथ यज्ञ-शाला को चले। राजा युधिष्ठिर के यज्ञ का निमन्त्रण पाकर अनेक देशों और देशान्तरों से राजा लोग, भेंट में देने के लिये अनेक प्रकार के रत्न लेकर खाण्डवप्रस्थ में पहुँचने लगे। यज्ञ का मण्डप, ऐश्वर्य, सभा और धर्मराज युधिष्ठिर को देखने की उन्हें

समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ।
धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ॥ ५ ॥
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ।
तथा शल्यश्च बलवान्बाह्लिकश्च महाबलः ॥ ७ ॥
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ।
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ।
पार्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १० ॥
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ।
आकर्षः कुन्तलश्चैव मालवाश्चाऽऽन्ध्रकास्तथा ॥ ११ ॥
द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ।
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥
बाह्लिकाश्चाऽपरे शूरा राजानः सर्व एव ते ।
विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ॥ १३ ॥
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ।

बड़ी इच्छा थी ॥१।४॥

राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के सौ पुत्र, गान्धार-राज सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक, महारथी कर्ण, शल्य, बाह्लीक, सोमदत्त, भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, राजा जयद्रथ, अपने पुत्रों-सहित राजा द्रुपद, शाल्व, समुद्र के किनारे के रहनेवाले म्लेच्छों और पहाड़ी जातियों को साथ लिये हुए प्राग्ज्योतिषनगर के राजा भगदत्त महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में निमन्त्रित होकर आये। राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, वङ्ग और कलिङ्ग देश के राजा आकर्ष और कुन्तल देशों के राजा, मालव, और अन्ध्र देशों के राजा, द्राविड़ और सिंहल देशों के राजा, काश्मीर का राजा, राजा कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन, बाह्लीक देश के अनेक शूरवीर राजा, दोनों पुत्रों-सहित राजा विराट, राजा मावेल्ल, राजकुमार-सहित महापराक्रमी

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ! ॥ १४ ॥
आगच्छत्पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ।
रामश्चैवाऽनिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ॥ १५ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाऽङ्गावहस्तथा ॥ १६ ॥
वृष्णयो निखिलाश्चाऽन्ये समाजग्मुर्महारथाः ।
एते चाऽन्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ।
ददुस्तेषामावसथान्धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥
बहुभक्ष्यान्वितान्राजन्दीर्घिकावृक्षशोभितान् ।
तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाञ्जग्मुरावसथान्नृपाः ।
कैलासशिखरप्रख्यान्मनोज्ञान्द्रव्यभूषितान् ॥ २० ॥
सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ।
सुवर्णजालसंवीतान्मणिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥
सुखारोहणसोपानान्महासनपरिच्छदान् ।
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ॥ २२ ॥

राजा शिशुपाल और अन्य अनेक राजा तथा राजपुत्र महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में निमन्त्रित होकर आये ॥५।१४॥

बलभद्र, अनिरुद्ध, सारण, कङ्क, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, पराक्रमी चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, अङ्गावह और अन्य अनेक वृष्णिवंशी महारथी यादव भी यज्ञस्थान में आये। इनके अतिरिक्त अनेक मध्यदेश के राजा-महाराजा महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आये। महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से इन अभ्यागत निमन्त्रित राजाओं के सत्कार और रहने के लिये निवास भवनों का पहले से ही प्रबन्ध कर रक्खा था। उन भवनों में बड़े-बड़े स्वादिष्ठ खाने-पीने के पदार्थ भरे पड़े थे। उनमें कुएँ खुदे हुए और नाना प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे। महाराज युधिष्ठिर ने स्वयं उन आये हुए राजाओं का यथोचित सत्कार किया। इसके पश्चात् सब लोग अपने अपने लिये निर्दिष्ट डेरों में जाकर ठहरे ॥१५।१०॥

उन राजाओं के ठहरने के लिये जो भवन बने थे, वे एक से एक मिले हुए थे। ये भवन कैलाश के शिखर के समान, इतने ऊँचे थे कि चार कोस से अच्छी प्रकार दिखाई देते थे। उन भवनों में अनेक प्रकार के खाने-पीने के सामान भरे पड़े थे। ये भवन

हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ।
असंबाधान्समद्वारान्युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥ २३ ॥
बहुधातुनिबद्धाङ्गान्हिमवच्छिखराणि च ।
विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन्भूमिपा भूरिदक्षिणम् ॥ २४ ॥
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
भ्राजते स्म तदा राजन्नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

श्वेत रङ्ग की ऊँची दीवारों से घिरे हुए और सुवर्ण के जालों से अलङ्कृत थे; उनमें मनोहर मणिमय स्थान थे और सुख के साथ चढ़ने योग्य सीढ़ियाँ थीं। वे खिले हुए फूलों की मालाओं से विभूषित थे। अनेक प्रकार के चन्दन, अगुरु आदि पदार्थों से सुगन्धित वे भवन कैलास पर्वत के शिखरों को भी मात कर रहे थे। उन भवनों के भीतर बढ़िया आसन पड़े थे। उनका रङ्ग हंस और चन्द्रमा के समान श्वेत था। वे भवन तङ्ग न थे। उन सब के द्वार एक से थे। और भी अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी कारीगरियां उनके बनाने में दिखाई गई थीं। उनके बनाने में जगह-जगह अनेक धातुओं का उपयोग किये जाने से वे हिमवान् पर्वत के चित्र-विचित्र शिखरों की तरह जँचते थे। उन भवनों में विश्राम कर रहे राजा लोग वहीं से पीताम्बर पहने हुए, दीक्षा में स्थित, सदस्य ब्राह्मणों की मण्डली से घिरे राजा युधिष्ठिर के दर्शन पाते थे। अपार दान दक्षिणा के कारण सुप्रसिद्ध उस राजसूय यज्ञ में आए हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियों से वह सभा-मण्डप इस प्रकार शोभित हो रहा था जिस प्रकार देवताओं से स्वर्ग की शोभा होती है ॥२०।२५॥

सभापर्व का चौंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

अथ पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच-पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन्यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥

पैंतीसवां अध्याय ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर ने आगे से जाकर भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य को लिया और उन्हें प्रणाम किया। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन, विविंशति आदि का स्वागत-सत्कार करके महाराज युधिष्ठिर ने कहा—आप लोगों के शुभागमन से मैं कृतार्थ हो गया।

इदं वसु महच्चैव यदिहाऽस्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥ ३ ॥
एवमुक्त्वा स तान्सर्वान्दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ४ ॥
भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥
राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं सञ्जयं संन्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥
हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चाऽन्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥
तथाऽन्यान्पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन्न्ययोजयत् ।
बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ॥ ८ ॥
नकुलेन समानीतः स्वामिवत्तत्र रेमिरे ।
क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद्विदुरः सर्वधर्मवित् ॥ ९ ॥
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ।
चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ॥ १० ॥
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ।

इस यज्ञ में आप लोग सब तरह मुझ पर कृपा करें। यह सब मेरा धन आप ही लोगों का है। आप लोग कृपा करके मेरे कार्य में सहायता दें, यही मेरी प्रार्थना है। यज्ञ की दीक्षा लिये हुए महाराज युधिष्ठिर ने अब उन लोगों में से प्रत्येक को उसके योग्य कार्य सौंप दिया ॥१।४॥

भक्ष्य-भोज्य आदि खाने-पीने की सामग्री बाटने का काम दुःशासन को दिया गया। ब्राह्मणों की सेवा और सरकार का काम अश्वत्थामा को सौंपा गया। राजाओं के सरकार का काम सञ्जय को मिला। सब कामों का प्रबन्ध ठीक समय पर ठीक-ठीक होता है या नहीं, यह देखने-भालने का काम बुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्य को मिला। सुवर्ण, रत्न आदि के रखने और दक्षिणा देने का काम कृपाचार्य को सौंपा गया। इन कामों में इन लोगों की सहायता करने के लिये भी बहुत मनुष्य नियुक्त हुए। बाह्लीक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ आदि बड़े बूढ़े लोगों की सेवा और सरकार का प्रबन्ध नकुल ने ऐसा किया कि वे लोग स्वामी की तरह रहकर सब प्रकार के सुख भोगने लगे ॥५।१०॥

सब धर्मों के जानकार, नीति के अद्वितीय पण्डित विदुर के हाथ से सब तरह का खर्च होता था। करद

द्रष्टुकामः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥
न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्रावरमर्हणम् ।
रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत् ॥ १२ ॥
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ॥ १३ ॥
भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ।
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ॥ १४ ॥
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ।
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ॥ १५ ॥
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन्कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १६ ॥
ऋद्ध्या च वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः ।
षडग्निनाऽथ यज्ञेन सोऽयजद्दक्षिणावता ॥ १७ ॥
सर्वाञ्जनान्सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ।
अन्नवान्बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ॥ १८ ॥
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ।

राजा लोग जो-जो भेंटें लेकर आते थे, उन्हें लेकर, ठिकाने से रखने का काम राजा दुर्योधन को मिला। भगवान् वासुदेव, सब से श्रेष्ठ फल प्राप्त करने की इच्छा से, आये हुए ब्राह्मणों के पाँव धोने का काम करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभा देखने को जो लोग आये उन में ऐसा कोई न था, जो एक हज़ार स्वर्णमुद्रा (मोहरों) से कम भेंट लाया हो। प्रत्येक राजा मानों इस तरह का विचार करके कि मेरे ही दिये रत्न-धन से महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ का खर्च पूरा हो जाय, असङ्ख्य धन और रत्न ला-लाकर उन्हें अर्पण करने लगा। [धर्मराज युधिष्ठिर का खज़ाना एक ओर दान-दक्षिणा मे खाली होता जाता था, और दूसरी ओर भेंट में आये हुए धन और रत्नों से भरता जाता था] सब सामान से भरे भवनों से, आकाश में यज्ञ देखने के लिये उपस्थित देवताओं और इन्द्र आदि लोकपालों के विमानों से, यज्ञशाला के आसपास बने हुए ब्राह्मणों के निवास-भवनों और राजाओं के विमान-तुल्य रत्नखचित डेरों से महाराज युधिष्ठिर की सभा की बड़ी अपूर्व शोभा हुई ॥१०।१६॥

[असङ्ख्य रत्नों की प्रभा से प्रकाशमान] ऐश्वर्य-सम्पन्न सभा-मण्डप के बीच बैठे हुए महाराज युधिष्ठिर अपने वैभव से राजराज कुबेर और महाराज वरुण के समान जान पड़ते थे। छः अग्नियों की स्थापना

इडाज्यसोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ॥ १९ ॥
तस्मिन्हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ।
यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन्यज्ञे मुदान्विताः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्याय ॥ ३५ ॥
समाप्तं च राजसूयपर्व ।

हो जाने पर राजसूय यज्ञ किया गया। युधिष्ठिर ने यज्ञ की पूर्णाहुति होने के समय ब्राह्मणों को खूब दक्षिणा दी। जो कोई जिस इच्छा से गया, उसकी वह इच्छा युधिष्ठिर ने पूरी कर दी। अन्न के ढेर के ढेर लगे हुए थे। लाखों लोग तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन कर रहे थे। रत्न लुटाये जा रहे थे। उस यज्ञ में वैदिक, कर्मकाण्ड म निपुण, मन्त्रशिक्षा के पूरे पण्डित महर्षियों ने मन्त्र पढ़कर—आज्य और सोम की आहुतिया छोड़कर देवताओं को अच्छी तरह तृप्त कर दिया। सब देवता, ब्राह्मण और अन्य वर्णों के असङ्ख्य लोग आहुति, दक्षिणा, अन्न धन-रत्न आदि के द्वारा परम प्रसन्न और तृप्त हुए ॥१७।२०॥

सभापर्व का पैंतीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

अथार्घाहरणपर्व ।

अथ षट्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह ।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥ १ ॥
नारदप्रमुखास्तस्य मन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥ २ ॥
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा ।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितोजसः ॥ ३ ॥
इदमेवं न चाऽप्येवमेवमेवं न चाऽन्यथा ।
प्रत्युचुर्बहवस्तत्र वितण्डावादिनो द्विजाः ॥ ४ ॥

छत्तीसवा अध्याय ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अभिषेच अर्थात् यज्ञस्नान के दिन सत्कार के योग्य ब्राह्मण और राजा लोग जो महाऋषि थे, अन्तर्वेदी नाम के सभा-मण्डप में गये। उस समय नारद आदि ऋषि लोग इन राजऋषियों के समीप अन्तर्वेदी में बैठे हुए ऐसे मालूम होते थे, मानों ब्रह्मा जी के भवन में देवता और देवऋषि बैठे हुए हैं। जब यज्ञस्नान हो चुका, तब ब्राह्मण लोग आपस में शास्त्र पर विचार करने लगे। "यह बात ऐसे ही है", "यह बात कभी ऐसी नहीं है", "यह बात ऐसे ही है, अन्यथा कभी नहीं

कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चकुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥
अर्थं मेधाविनः केचिदनुमानैः प्रपूरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवाऽमिषम् ॥ ६ ॥
केचिद्धर्मार्थकुशलाः केचित्तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥ ७ ॥
सा वेदिर्वेदसंपन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवाऽऽयता ॥ ८ ॥
न तस्यां सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीन्नचाऽव्रती ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन्! युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥
तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानताम् ।
तुतोष नारदः पश्यन्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥
अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप! ।
नारदस्तु तदा पश्यन्सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥
सस्मार च पुरावृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ! ।
अंशावतरणे याऽसौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥
देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन! ।

है" इत्यादि तर्क-वितर्क करते हुए विद्वान् लोग वितण्डावाद करने लगे। बहुत से ब्राह्मणों ने अनेक हेतु दिखाकर और शास्त्र का प्रमाण देकर साधारण अर्थ को असाधारण और असाधारण अर्थ को साधारण कर दिखाया ॥१।५॥

बहुत से विद्वान् पुरुष दूसरे के कहे हुए विषय को उस तरह बीच से ही ले भागते थे, अर्थात् उसका खण्डन करने लगते थे, जिस तरह आकाश में उड़ रहे बाज़ पक्षियों में एक के मुँह से छूटे हुए लोथड़े को दूसरा पृथ्वी तक पहुँचने नहीं देता, बीच से ही ले भागता है। इस प्रकार से वे ब्राह्मण लोग जिनमें कोई-कोई धर्मार्थ और कोई भाष्य आदि के जाननेवाले थे, शास्त्र विनोद करते रहे और वह वेदी उन सब से और महाऋषियों से ऐसी प्रकाशमान् हो गई जैसे आकाश तारागणों के निकलने से हो जाता है। महाराज युधिष्ठिर की उस समावेदी के पास न कोई शूद्र बैठा था और न कोई व्रत-विहीन अपवित्र पुरुष उपस्थित था ॥६।९॥

यज्ञ के अन्त में श्रीमान् युधिष्ठिर का यह अपूर्व ऐश्वर्य और यज्ञ करने से प्राप्त प्रताप देखकर नारद जी बहुत प्रसन्न हुए। हे महाराज! उस सभा में सब क्षत्रियों का समागम देखकर, नारद जी को उस

नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥
साक्षात्स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः ।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः ॥ १४ ॥
संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान्भूतकृत्स्वयम् ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥ १५ ॥
इति नारायणः शम्भुर्भगवाञ्जगतः प्रभुः ।
आदिश्य विबुधान्सर्वानजायत यदुक्षये ॥ १६ ॥
क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः ।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥ १७ ॥
यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते ।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ॥ १८ ॥
अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम् ।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ॥ १९ ॥
इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास धर्मवित् ।
हरिं नारायणं ज्ञात्वा यज्ञैरिज्यं तमीश्वरम् ॥ २० ॥
तस्मिन्धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।

सभा का स्मरण हो आया, जो पहले ब्रह्मलोक में भगवान् के अंशावतार के सम्बन्ध में विचार करने के लिये हुई थी। उन्हें ये क्षत्रिय और ब्राह्मण लोग, ब्रह्मलोक में आकर जमा हुए देवताओं के समान ही जान पड़ते थे। उस समय देवर्षि नारद मन में कमलनयन विष्णु भगवान् का स्मरण करने लगे। नारद जी मन में कहने लगे कि देव-शत्रु असुरों का नाश करनेवाले भगवान् नारायण ही पृथ्वी का भार उतारने को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये क्षत्रियवंश में श्रीकृष्ण रूप से प्रकट हुए हैं। सब प्राणियों की सृष्टि करनेवाले इन्हीं नारायण ने पहले ब्रह्मलोक की उस सभा में सब देवताओं को आज्ञा दी थी कि "तुम लोग, जाकर पृथ्वी पर जन्म लो। तुम लोग फिर परस्पर लड़-झगड़कर कट-मरकर अपने लोकों को चले आओगे"। इस प्रकार सब देवताओं को आज्ञा देकर वही भगवान् नारायण पृथ्वी पर यदुवंश के वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए हैं ॥१०।१५॥

और नक्षत्रमण्डली के बीच चन्द्रमा के समान यादवों में विराजमान हैं। इन्द्र आदि देवता जिनके बाहुबल का आश्रय ढूँढते हैं, वही हरि इस समय मनुष्यलोक में मनुष्यलीला कर रहे हैं। इन महाबली असंख्य क्षत्रियकुलों का संहार भी इन्हीं के द्वारा होगा। इस प्रकार कृष्ण को नारायण जानकर, मन ही मन उनकी महिमा का वर्णन करते हुए

महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥
ततो भीष्मोऽब्रवीद्राजन्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ! ॥ २२ ॥
आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान्नृपं तथा ॥ २३ ॥
एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥
एषामेकैकशो राजन्नर्घ आनीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥
युधिष्ठिर उवाच–कस्मै भवान्मन्यतेऽर्घमेकस्मै कुरुनन्दन ! ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्धया निश्चित्य वीर्यवान् ।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णं पूजनीयतमं भुवि ॥ २७ ॥
एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाऽऽभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

नारद जी उस सभा में विराजमान थे ॥१६।२०॥

सब लोग जब उस सभा में बैठ गये, तब भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज ! अब तुम इन आये हुए राजाओं का यथायोग्य पूजन और सत्कार करो। आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक, सम्बन्धी, मित्र, और राजा ये छ अर्घ्य पाने के अधिकारी कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त जो अभ्यागत लोग एक साथ वर्षभर रहते हैं, वे भी अर्घ्य पाने के योग्य माने गये हैं। न्योते में आये हुए ये राजा लोग यहां हमारे साथ बहुत दिनों से निवास कर रहे हैं। इस कारण इनके लिये भी एक एक अर्घ्य मँगाना चाहिये, किन्तु इस अभ्यागत मण्डली में जो सब से श्रेष्ठ और समर्थ पुरुष हों उन्हें सबसे पहले अर्घ्य दिया जाय। युधिष्ठिर ने पूछा–हे पितामह ! आप इन योग्य पुरुषों में किन महात्मा को सब से पहले अर्घ्य देना ठीक समझते हैं? यह प्रश्न सुनकर भीष्म ने कुछ देर तक सोचकर यदुकुलावतंस श्रीकृष्ण को ही सब में श्रेष्ठ और पहले अर्घ्य पाने के योग्य ठहराया ॥२१।२६॥

उन्होंने कहा–इन सब महापुरुषों की मण्डली में तेज, बल, पराक्रम आदि बातों में श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं। इस लिये पहले इनका पूजन होना उचित है।

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवद्वार्ष्णेयायार्घमुत्तमम् ॥ ३० ॥
प्रतिजग्राह तत्कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥
स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।
अथाऽऽक्षिपद्वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अर्घाहरणपर्वणि श्रीकृष्णार्घदाने षड्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इन सब के बीच में श्रीकृष्ण जी अपने तेज और पराक्रम से इस प्रकार से प्रकाश कर रहे हैं, जैसे ज्योतियों में सूर्य प्रकाश करता है। और यह हमारी सभा उनके यहां होने से ऐसी प्रकाशित और प्रसन्न है, जैसे सूर्य और वायुरहित स्थान में रहनेवाला मनुष्य अकस्मात् सूर्य के प्रकाश और वायु के स्पर्श हो जाने से प्रसन्न होता है। इसके पीछे भीष्म जी की आज्ञा से सहदेव ने उठकर श्रीकृष्ण जी को विधिपूर्वक अर्घ्य दिया और श्रीकृष्ण जी ने उसको अङ्गीकार किया। परन्तु इस बात को चेदिराज शिशुपाल न सह सका। और वह महाराज युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के पास आकर श्रीकृष्ण जी की निन्दा करने लगा ॥२७।३२॥

सभापर्व का छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

शिशुपाल उवाच—नाऽयमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपतिषु कौरव्य ! राजवत्पार्थिवार्हणाम् ॥ १ ॥
नाऽयं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत्कामात्पुण्डरीकाक्षं पाण्डवाऽर्चितवानसि ॥ २ ॥
बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ! ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥
त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।

सैंतीसवां अध्याय ॥ ३७ ॥

शिशुपाल बोला—हे युधिष्ठिर ! इन महात्मा राजाओं के आगे कृष्ण किसी प्रकार राजाओं की तरह पूजा पाने के योग्य नहीं है। हे पाण्डव ! जो अपनी इच्छा से तुमने सबसे पहले कृष्ण की पूजा की, सो यह किसी तरह महात्मा पाण्डवों के योग्य काम नहीं हुआ। हे पाण्डवो ! तुम धर्म की सूक्ष्म गति को नहीं जानते। इस बारे में अभी तुम बालक ही हो। इस गंगा के पुत्र भीष्म को वृद्धावस्था के कारण शास्त्र का सिद्धान्त स्मरण नहीं रहा है। हे भीष्म ! तुमको अब तक लोग धर्मज्ञ और धर्मात्मा समझते थे। तुमने कृष्ण

भवत्यभ्यधिकं भीष्मो लोकेष्ववमतःसताम् ॥ ४ ॥
कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥
अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ! ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥
अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ! ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥
ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ! ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥
भीष्मे शान्तनवे राजन् ! स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन्कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ १० ॥
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे ! ।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ! ॥ ११ ॥
दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे ।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥ १२ ॥

का प्रिय करने के लिये यह जो अनुचित काम कराया है, इससे सज्जन अवश्य ही तुम्हें अनादर की दृष्टि से देखेंगे; साधु पुरुष तुम्हारी निन्दा करेंगे। कृष्ण राजा नहीं है; फिर सब राजा-महाराजाओं के बीच इस तरह सबसे पहले वह कैसे पूजा पाने का अधिकारी हो सकता है? अथवा तुमने वृद्ध समझकर सब से पहले कृष्ण को अर्घ्य दिया है, तो उसके वृद्ध पिता वसुदेव के आगे उसकी पूजा को तुम कैसे ठीक समझते हो? जो कृष्ण को तुमने अपना प्रिय करनेवाला समझकर पूजा है, तो भी उसकी पूजा होनी नहीं चाहिये, क्योंकि राजा द्रुपद तुम्हारे सम्बन्धी मौजूद है। हे युधिष्ठिर! यदि तुमने आचार्य मानकर कृष्ण की पूजा की है, तो द्रोणाचार्य के आगे वह पूजनीय नहीं हो सकता। यदि तुमने ऋत्विक् जानकर श्रीकृष्ण की पूजा की है, तो भी वृद्ध द्वैपायन व्यास के आगे कृष्ण की पूजा कैसे ठीक कही जा सकती है। हे युधिष्ठिर! मृत्यु जिसके अधीन है, उस पुरुषश्रेष्ठ भीष्म को छोड़कर तुमने पहले कृष्ण की पूजा कैसे की? ॥१।१०॥

हे कुरुनन्दन! वीर अश्वत्थामा जो सब शास्त्रों में पण्डित और श्रेष्ठ है, उसको छोड़कर तुमने पहले कृष्ण को अर्घ्य देना क्यों ठीक समझा? पुरुषश्रेष्ठ

द्रुमं किंपुरुषाचार्यमतिक्रम्य तथाऽर्चितः ।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाडुवत्कृतलक्षणे ॥ १३ ॥
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च ।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥ १४ ॥
अयं च सर्वराज्ञां वै वलश्लाघी महावलः ।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत! ॥ १५ ॥
येनाऽऽत्मवलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः ।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयाऽर्चितः ॥ १६ ॥
नैवर्त्विङ्नैव चाऽऽचार्यो न राजा मधुसूदनः ।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ! किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥
अथ वाऽभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः ।
किं राजभिरिहाऽऽनीतैरवमानाय भारत! ॥ १८ ॥
वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान्सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥ १९ ॥
अस्य धर्मे प्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥ २० ॥

राजराज दुर्योधन और भरतवंश के आचार्य कृपाचार्य को छोड़कर, तुमने पहले कृष्ण की पूजा क्यों की? किंपुरुष कुल के मुखिया महाराज द्रुम और महाराज पाण्डु के तुल्य गौरवशाली राजा भीष्मक को छोड़कर तुमने पहले कृष्ण की पूजा करना क्यों उचित समझा? नरपतियों में श्रेष्ठ रुक्मी, एकलव्य, मद्र नरेश शल्य आदि के रहते, तुमने क्या समझकर पहले कृष्ण को अर्घ्य दिया! हे युधिष्ठिर! सब राजाओं से बढ़कर बलवान्, युद्ध में अपने बल से राजाओं को जीतने-वाले इस परशुराम के प्रिय शिष्य कर्ण को छोड़कर तुमने पहले कृष्ण की पूजा क्यों की? ॥११।१६॥

हे पाण्डव! कृष्ण न तो ऋत्विक है, और न आचार्य, न वृद्ध है और न राजा ही, फिर तुमने क्यों इसे सब मे श्रेष्ठ माना और सब से पहले इसकी पूजा की? इस से प्रतीत होता है, कि तुमने नातेदारी के कारण सुहृद् समझकर, इसे प्रसन्न करने के लिये यह अनुचित कार्य किया है। हे पाण्डव! जो तुम इस तरह कृष्ण की पूजा करना ही चाहते थे, तो देश-देशान्तरों से इन राजाओं को, अपमानित करने के लिये, क्यों बुलाया था? हमने तुमको 'कर' कुछ तुम्हारे भय या लोभ या तुम्हें साम अर्थात् सुन्दर समझाने के लिये नहीं दिया था, केवल तुम्हारी प्रीति से और तुम्हारे धर्म-मार्ग में प्रवृत्त जानकर दिया था। सो तुमने इन सब में से एक को भी न मान-

किमन्यदवमानाद्धि येदेनं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घेणाऽर्चितवानसि ॥ २१ ॥
अकस्माद्धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥
योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान्पुरा ।
जरासन्धं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥
अद्य धर्मात्मतां चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥
यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयाऽपि बोद्धव्यं यां पूजां माधवाऽर्हसि ॥ २५ ॥
अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ! ।
पूजामनर्हः कस्मात्त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ? ॥ २६ ॥
अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निःस्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥ २७ ॥
न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ! ॥ २८ ॥
क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।

फर कृष्ण की पूजा की है। भला इस अपमान से बढ़कर और क्या अपमानजनक होगा, कि सब तिलक-धारी राजाओं का तिरस्कार करके एक ऐसे मनुष्य की पूजा उन्हीं राजाओं में की, जो राजचिह्नों से अत्यन्त हीन था ॥१७।२१॥

हे युधिष्ठिर ! संसार में तुम्हारा यश तो यह हो रहा है, कि युधिष्ठिर बड़ा धर्मात्मा है, परन्तु अब वह धर्म कहाँ गया। भला ऐसा कौन धर्मी होगा, जो कृष्ण की पूजा करेगा। वृष्णिवंश में उत्पन्न दुरात्मा कृष्ण ने अन्याय से महात्मा जरासन्ध की हत्या करवाई है। ऐसे पुरुष को सब में उत्तम मानकर अर्घ्य देने से युधिष्ठिर को लाभ यही हुआ, कि संसार में धर्मात्मा कहकर लोग जो इनकी प्रशंसा करते थे, वह नष्ट हो गई। हे युधिष्ठिर ! तुम्हारी दीनता और मूर्खता जगत् में विख्यात हो गई। हे माधव ! यदि तपस्वी पाण्डवों ने भय और कृपणता के कारण से ऐसा किया ही था, तो हे कृष्ण ! तुमको यह समझना उचित था, कि मैं इस पूजा के योग्य हूँ या नहीं ॥२२।२५॥

तुमने पूजा के अयोग्य होने पर भी इन कृपण पाण्डवों से अपनी पूजा क्यों कराई है ! तुम्हारा ऐसा अयोग्य करना ऐसा है, जैसे निर्जनस्थान में हविष को कुत्ते

अराज्ञो राजवत्पूजा तथा ते मधुसूदन ! ॥ २९ ॥
दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद्यथातथम् ॥ ३० ॥
इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।
निर्ययौ सदसस्तस्मात्सहितो राजभिस्तदा ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अर्घाहरणपर्वणि अर्घाहरणे शिशुपालक्रोधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

का निडर होकर खाना। इस से तुम यह न समझना कि राजाओं का अपमान हुआ है, पाण्डवों ने पूजा के बहाने से यह तुम्हारी हंसी की है। यह तुम्हारी पूजा होना इस प्रकार से है, जैसे नपुंसक का विवाह करना, अन्धे को कुछ दिखाना। और जो राजा नहीं है, उसको राजा के समान पूजना। युधिष्ठिर, भीष्म और तुम तीनों को देख चुके। 'ये तीनों जैसे के तैसे हैं'। यह कहकर शिशुपाल सभा में से उठकर अपनी पक्ष के राजाओं-सहित बाहर चला गया। ॥२९।३१॥

सभापर्व का सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ३७ ॥

अथ अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥
नेदं युक्तं महीपाल ! यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन्पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥
न हि धर्मं परं जातु नाऽवबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं माऽवमंस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥
पश्य चैतान्महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान्बहून् ।
मृष्यन्ते चाऽर्हणं कृष्णे तद्वत्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अड़तीसवां अध्याय ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! शिशुपाल के उठकर चले जाने पर राजा युधिष्ठिर उसके पास गये और नम्रतापूर्वक कहने लगे—हे शिशुपाल! सोचकर देखो [इस तरह बिगड़कर सभा से चल देना क्या तुम्हारे योग्य काम है !] जो कठोर वचन तुमने भीष्म आदि महात्माओं को सुनाये हैं, वे ठीक नहीं कहे जा सकते। उनमें तुम घोर अधर्म के भागी हो सकते हो। ऐसे कठोर वचन कहना, बड़ा अधर्म और निरर्थक है। तात्पर्य यह है, कि उन वचनों से भीष्म आदि का कुछ नहीं बिगड़ सकता, केवल तुम्हारी ही जबान खराब होनी है। महात्मा शान्तनु के पुत्र भीष्म के लिये यह कहना कि उन्हें धर्म का

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते ! भृशम् ।
नह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच - नाऽस्मै देयो ह्यनुनयो नाऽयमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाऽभिमन्यते ॥ ६ ॥
क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥
अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्र ! तेजसा ॥ ८ ॥
न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥
कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत्सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥
तस्मात्सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चामि नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चाऽर्हस्त्वं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥
ज्ञानवृद्धा मया राजन्बहवः पर्युपासिताः ।

ज्ञान नहीं है, कभी तुम्हारे लिये उचित नहीं। उनका अनादर करना बिल्कुल अनुचित है। देखो, तुमसे भी बड़े बड़े वृद्ध राजा लोग यहां बैठे हुए हैं। इन में से कोई भी सब से पहले कृष्ण की पूजा होते देखकर असन्तुष्ट नहीं हुआ। तुमको भी, इन्हीं की तरह, कृष्ण के सम्मान से सन्तुष्ट होना चाहिये। हे चेदि नरेश ! अच्छी तरह समझ-बूझकर ही पितामह ने श्रीकृष्ण को सब से श्रेष्ठ ठहराया है। श्रीकृष्ण को और उनकी महिमा को पितामह बहुत अच्छी तरह जानते हैं। वे श्रीकृष्ण को जितना जानते हैं, उतना तुम नहीं जानते। अब भीष्म ने कहा-हे युधिष्ठिर! यह सान्त्व वचन कहने के योग्य नहीं है, क्योंकि यह श्रीकृष्ण की पूजा को, जो लोक में वृद्धतम हैं, नहीं देख सकता है। जो क्षत्रिय युद्ध में क्षत्रिय को जीतकर छोड़ देता है, वह हारे हुए का गुरु अर्थात् बड़ा होता है। सो मैं इन सब बैठे हुए राजाओं में से एक को भी ऐसा नहीं देखता हूं, जिसको श्रीकृष्ण न जीत सकें। ये श्रीकृष्ण अच्युत हैं। इनका पूजन करना केवल हमको ही उचित नहीं है, किन्तु ये तीनों लोकों को भी पूज्य हैं। श्रीकृष्ण जी ने बहुत से श्रेष्ठ क्षत्रियों को रण में जीता है और सम्पूर्ण जगत् इन्हीं के शरीर में व्याप्त है ॥१।१०॥

इसी कारण से हमने इनको सब से श्रेष्ठ जानकर, इनकी पूजा की है। तुमको ऐसा कहना तुम्हारी बुद्धि के योग्य नहीं है। हे राजन् ! हमने बहुत से

तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून्बहुमतान्सताम् ।
कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।
न केवलं वयं कामाच्चेदिराज ! जनार्दनम् ॥ १४ ॥
न संबन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥ १५ ॥
यशः शौर्यं जयं चाऽस्य विज्ञायाऽर्चां प्रयुञ्ज्महे ।
न च कश्चिदिहाऽस्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥ १६ ॥
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥ १७ ॥
वैश्यानां धान्यधनवाञ्शूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाऽप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥ १९ ॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।

ज्ञानी पुरुषों का सङ्ग किया है। उन लोगों के मुँह से वासुदेव के अनेक गुणों का वर्णन सुना है। जन्म से लेकर अब तक उन्होंने जो उत्तम और अलौकिक कर्म किये है, उन्हें भी हमने अनेक बार बहुत लोगों के मुँह से सुना है। हे शिशुपाल! श्रीकृष्ण हमारे नातेदार हैं या इन्होंने हमपर अनेक उपकार किये हैं इस कारण, अथवा अपनी इच्छा से ही हम इनकी पूजा नहीं करते, इस पृथ्वीमण्डल पर सब सज्जन इन्हें सब प्राणियों को सुख देनेवाले श्रेष्ठ पुरुष जानकर, इनकी पूजा करते हैं। हम लोगों ने इनके यश, शूरता, पराक्रम और विजय आदि गुणों को जानकर, इन्हीं के कारण इनकी पूजा की है। इस सभा में एक बालक भी ऐसा नहीं, जिसको हम अच्छी तरह न जानते हों, या जिसकी परीक्षा हम न कर चुके हों। अच्छी तरह सोच-विचारकर गुणों में सब से श्रेष्ठ जानकर ही बड़े बूढ़ों को छोड़कर कृष्ण की पूजा की गई है। ब्राह्मणों में अधिक ज्ञानी, क्षत्रियों में अधिक बलवान्, वैश्यों में अधिक धनी और शूद्रों में अधिक आयु रखनेवाला पूजने योग्य होता है। सो श्रीकृष्ण जी को हमने दो गुणों के कारण से पूज्य माना है, एक तो श्रीकृष्ण जी सब से बलवान् है। दूसरे सब वेद और वेद के अङ्गों को जानते हैं। इनसे बड़ा मनुष्य संसार में है ही कौन? इनमें धन, चतुराई, शास्त्र, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि,

संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते ॥ २० ॥
तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥
ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥
कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाऽप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात्पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥
बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥
आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥ २७ ॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥ २८ ॥
उर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान्केशवो मुखम् ॥ २९ ॥

नम्रता, लक्ष्मी, धृति, पुष्टि और तुष्टि आदि सब गुण विद्यमान् हैं ॥११।२०॥

इससे इनको चाहे तुम गुरु समझो चाहे आचार्य और पिता ये सब प्रकार से पूजने के योग्य है। तुमको इनके पूजने में शंका करना उचित नहीं है। ऋत्विज, गुरु, स्नातक, ब्रह्मचारी, राजा और मित्र सबकी सम्भावना इनमें हो सकती है, इसी से इनकी पूजा प्रथम की गई है। ये श्रीकृष्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण, अविनाशी, चराचरमय, अव्यय, सनातन और सब से परे है। बुद्धि, मन, वायु, तेज, जल, आकाश और पृथ्वी और चारों प्रकार के जीव और सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा सब इन्हीं की शक्ति से स्थित हैं। वेदों में अग्निहोत्र, वेद के छन्दों में गायत्री, मनुष्यों में राजा, नदियों में समुद्र, नक्षत्रों में चन्द्रमा, तेजों में सूर्य, पर्वतों में मेरु, पक्षियों में गरुड और जगत् की ऊची-नीची

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥ ३० ॥
यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान्नरः ।
स वै पश्येद्यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥
सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नाऽर्हं मन्यते कृष्णं को वाऽप्येनं न पूजयेत् ॥ ३२ ॥
अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।
दुष्कृतायां यथा न्याय्यं तथाऽयं कर्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अर्घाहरणपर्वणि भीष्मवाक्य नाम अष्टात्रिंशोऽध्याय ॥ ३८ ॥

और तिरछी गति और देवताओं और लोकों में श्रीकृष्ण जी प्रधान है । सो यह शिशुपाल अपने अज्ञान के कारण से ऐसा कहता है, यह नहीं जानता है, कि श्रीकृष्ण सर्वव्यापी हैं ॥२९।३०॥

इसकी बुद्धि की गति धर्म के देखने में उतनी नहीं है जितनी बुद्धिमान् और धर्म के जाननेवाले की होती है । बालक, बूढ़े, जवान लोगों में, या महात्मा राजाओं में ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्ण को पूजा के योग्य नहीं समझता, या श्रीकृष्ण की पूजा नहीं करेगा ? शिशुपाल यदि श्रीकृष्ण की पूजा को अनुचित समझता है, तो जो कुछ इसके किये हो सकता हो, सो करे ॥३१।३३॥

सभापर्व का अड़तीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद्वचः ॥ १ ॥
केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।

उनतालीसवा अध्याय ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! महाबली भीष्म इतना कहकर चुप हो रहे । अब सहदेव ने क्रोध से कहा—हे राजा लोगो ! केशी दैत्य को मारने वाले केशव श्रीकृष्ण का बल अपार है। श्रीकृष्ण जी हमारे परम पूजनीय है । इन परम पूज्य केशव जी की पूजा जिनको असह्य हुई हो, उन बलवानों के माथे पर मैं यह अपना पाँव रखता हूं। यदि किसी में शक्ति हो, तो वह आगे बढ़कर मेरी इस बात का उचित उत्तर दे । जो बुद्धिमान् और भले-बुरे का विचार करने में समर्थ है, वे महानुभाव कभी श्रीकृष्ण

एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।
मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घ्यार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।
ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ॥ ५ ॥
मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।
ततोऽपतत्पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाऽप्यब्रुवन्साधु साध्विति ।
आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाऽखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥
कृष्णं कमलपत्राक्षं नाऽर्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच—पूजयित्वा च पूजार्हान्ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ १० ॥
तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ ११ ॥

जी की पूजा का विरोध नहीं कर सकते। वे अवश्य मेरे इस काम का अनुमोदन करेंगे। इतना कहकर, सहदेव ने गर्व के साथ पांव उठाकर पृथ्वी पर रख दिया। यह देखकर अभिमानी, बली और बुद्धिमान् राजाओं में से किसी ने सहदेव के इस कथन का उत्तर नहीं दिया। तब सहदेव के ऊपर आकाश से फूलों की वर्षा हुई। देवगण आकाश से "साधु--साधु" कहकर उनको धन्यवाद देने लगे। उस समय नारद जी ने, जो संशयों को दूर करनेवाले और सर्व लोकों को जाननेवाले थे, कहा—जो मनुष्य कमलनयन श्रीकृष्ण जी की पूजा नहीं करता, वह जीते ही मरे के समान है। उनसे कभी बात तक न करनी चाहिए। वैशम्पायन जी बोले--हे राजा जनमेजय! इसके उपरान्त सहदेव ने सब पूजा योग्य ब्राह्मण और क्षत्रियों की पूजा करके उस कर्म को समाप्त किया ॥१।१०॥

उस समय श्रीकृष्ण जी की पूजा होना देखकर राजा शिशुपाल क्रोध के मारे कांपने लगा और लाल-लाल आंखें करके राजाओं से कहने लगा--हे महाबली राजाओ! कहो तुम सब लोगों की अब क्या इच्छा है! मेरी समझ में तो यह आता है, कि हम सब मिलकर पाण्डवों और यादवों से युद्ध करें और इन के यज्ञ को विध्वंस करें। महाबली राजाओं को उत्साहित

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किंतु सांप्रतम् ।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान्वृष्णिपाण्डवान् ॥ १२ ॥
इति सर्वान्समुत्साह्य राजस्तांश्चेदिपुङ्गवः ।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १३ ॥
तत्राऽऽहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ १४ ॥
युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चाऽर्हणम् ।
न स्याद्यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाऽब्रुवन् ॥ १५ ॥
निष्कर्षान्निश्चयात्सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥ १६ ॥
सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ १७ ॥
तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अर्घाहरणपर्वणि अर्घाहरणसमाप्तिर्नाम ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥
समाप्तं च अर्घाहरणपर्व ।

करके, राजसूय यज्ञ में विघ्न डालने के लिये, राजा शिशुपाल उन सब राजाओं के साथ अलग जाकर सम्मति करने लगा। उसके अनुगामी राजा लोग क्रोध के मारे युद्ध करने को तैयार हो गये। उन की बात किसी ने नहीं सुनी, यह देखकर क्षोभ के मारे उनके चेहरे फीके पड़ गये। वे लोग आपस में सम्मति करके कहने लगे, कि इस समय हम लोगों को यही काम करना चाहिये, जिस में युधिष्ठिर का यज्ञ और कृष्ण की पूजा न होने पावे। मन ही मन अत्यन्त बिगड़े हुए वे राजा लोग मिलियाकर युद्ध करने को कटिबद्ध (तैयार) हो गये। सिंहों के मुँह से उनका शिकार छिन जाने पर जैसे वे गरजते हुए भयानक हो जाते हैं, वही दशा क्रोध से विह्वल हो रहे उन राजाओं की हुई। उन के इष्ट-मित्र उन्हें वैसा न करने के लिये समझा रहे थे, पर उन्होंने उनका कहा न माना। श्रीकृष्ण ने उन राजाओं का रङ्ग-ढङ्ग देखकर समझ लिया कि ये युद्ध के लिये तैयार हैं। उन राजाओं की सेना समुद्र के समान अपार थी ॥१२।१८॥

—x•x—

सभापर्व का उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

———

अथ शिशुपालवधपर्व ।

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच–ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवाऽर्णवम् ।
रोषात्प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम् ।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवाऽरिहा । २ ॥
असौ रोषात्प्रचलितो महान्नृपतिसागरः ।
अत्र यत्प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥ ३ ॥
यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात्प्रजानां च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ! ॥ ४ ॥
इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥ ५ ॥
मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल ! श्वा सिंहं हन्तुमर्हति ? ।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥
प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन्समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथाऽमी प्रमुखे स्थिताः ।
भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य सन्निधौ ॥ ८ ॥

चालीसवां अध्याय ॥ ४० ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर उस क्रोध से भरे हुए सागररूपी राजमण्डल को युद्ध के लिये प्रतिज्ञा करते हुए देखकर, अपने कुल के वृद्ध पितामह भीष्म जी से इस प्रकार पूछने लगे, मानों इन्द्र बृहस्पति से पूछते हैं, कि हम को अब इस समय क्या करना उचित है, जिससे हमारा यज्ञ विध्वंस न हो और सब प्रजा का भला हो। यह सुनकर भीष्म जी बोले–हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम डरो नहीं । कुत्ते भी कहीं सिंह को मार सकते है ! मैने तुम्हारे कल्याण की राह पहले ही से विचार रक्खी है । हे भाई ! पराक्रमी सिंह को सोया हुआ देखकर जैसे आये हुए कुत्ते भौंकते हैं, वैसे ही ये राजा लोग शान्तभाव से स्थित यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के सामने क्रोध प्रकट करते हुए चिल्ला रहे हैं । जब तक सोये हुए सिंह के समान श्रीकृष्ण शान्त है, तभी तक इन राजाओं का यह भाव देख

नहि संबुध्यते यावत्सुप्तः सिंह इवाऽच्युतः ।
तेन सिंहीकरोत्येतान्नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
पार्थिवान्पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः ।
सर्वान्सर्वात्मना तात ! नेतुकामो यमक्षयम् ॥ १० ॥
नूनमेतत्समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः ।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ! ॥ ११ ॥
विप्लुता चाऽस्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ! ।
चेदिराजस्य कौन्तेय ! सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥
आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा ।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥
चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः ।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर ! ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच-इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ! ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासनं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

पड़ता है। जब तक श्रीकृष्ण जी को क्रोध नहीं आता, तभी तक यह दुष्ट शिशुपाल इन राजाओं को उत्तेजित कर रहा है ॥९॥

हे युधिष्ठिर ! तुम निश्चय जानो, शिशुपाल के कहने पर यदि ये राजा लोग चलेंगे तो अवश्यमेव इन की मृत्यु हो जायगी। जिस तेज के बल पर यह शिशुपाल तड़प रहा है, उसे कृष्ण भगवान् अवश्य हर लेना चाहते हैं । हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । इस में सन्देह नहीं कि इस शिशुपाल की और इन राजाओं की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है । ये कृष्ण भगवान् जिसका नाश करना चाहते हैं, उसी की बुद्धि, इस शिशुपाल के समान, भ्रष्ट हो जाती है । हे युधिष्ठिर ! तीनों लोकों में जो चारों प्रकार के जीव हैं, उन की उत्पत्ति और संहार का कारण यही नारायण कृष्ण हैं । वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! परम पराक्रमी भीष्म के ये वचन सुनकर राजा शिशुपाल क्रोध के मारे और भी आपे से बाहर होकर उन्हें कठोर वचन सुनाने लगा ॥१०।१५॥

सभापर्व का चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

शिशुपाल उवाच-विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन्सर्वपार्थिवान् ।
न व्यपत्रपसे चस्मादृद्धः सन्कुलपांसनः ॥ १ ॥

युक्तमेतत्तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया ।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ २ ॥
नावि नौरिव संबद्धा यथाऽन्धो वाऽन्धमन्वियात् ।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म ! त्वमग्रणीः॥ ३ ॥
पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ।
त्वया कीर्तयताऽस्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥
अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः ।
कथं भीष्म ! न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥ ५ ॥
यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म ! बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन्गोपं संस्तोतुमिच्छसि ? ॥ ६ ॥
यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् ? ।
तौ वाऽश्ववृषभौ भीष्म! यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥
चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शकटं भीष्म ! तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥
वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः ।
तदा गोवर्धनो भीष्म ! न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

इकतालीसवा अध्याय ॥ ४१ ॥

शिशुपाल ने कहा हे भीष्म ! तुम कुल के नाश करनेवाले हो । तुमको वृद्ध होकर राजा लोगों को बहुत से डर दिखानेवाली बातें कहते हुए लज्जा नहीं आती है ? तुम तो कौरवों में सब से उत्तम हो, इस तीसरे पन में तुमको ऐसी अधर्म की बात कहना उचित नहीं है । तुमने जन्म भर नपुसक का सा जीवन बिताया है, इस कारण तुम यदि नामर्दों की तरह ऐसी धर्मविरुद्ध बातें कहो, तो आश्चर्य ही क्या है । जैसे नाव में बधी हुइ दूसरी नाव बिना मल्लाह के हो, या जैसे अन्धों को ले चलने वाला अन्धा हो, वही हाल कौरवों का है, क्योंकि तुम उनके अगुआ हो ! कृष्ण के पूतना राक्षसी की हत्या आदि कर्मों की बड़ाई करके तुमने सचमुच मेरे अन्त करण को बड़ी व्यथा पहुचाई है। हे भीष्म ! तुम बड़े घमण्डी और मूर्ख हो, और इसी से [ईश्वर कहकर] कृष्ण की स्तुति कर रहे हो । कृष्ण की स्तुति करनेवाली तुम्हारी इस जीभ के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ॥१।५॥

जिस कृष्ण की निन्दा बालको को भी करना उचित है,उसकी प्रशसा तुम वृद्ध और ज्ञानी होकर करते हो ? इसने जो बालकपन में बकासुर, केशी और वृषासुर दैत्यों को, जो युद्ध करना नहीं जानते

भुक्तमेतेन वह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि ।
इति ते भीष्म ! शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥ १० ॥
यस्य चाऽनेन धर्मज्ञ ! भुक्तमन्नं वलीयसः ।
स चाऽनेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥
न ते श्रुतमिदं भीष्म ! नूनं कथयतां सताम् ।
यद्वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ! ॥ १२ ॥
स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद्ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चाऽन्नानि भुंजीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः ॥ १३ ॥
इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा ।
भीष्म ! लोके हि तत्सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ॥ १४ ॥
ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम ।
अजानत इवाऽऽख्यासि संस्तुवन्कौरवाधम ! ॥ १५ ॥
गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन्भीष्म ! त्वद्वाक्याद्यदि पूज्यते ।
एवंभूतश्च यो भीष्म ! कथं संस्तवमर्हति ।
असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः ॥ १६ ॥
संभावयति चाऽप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः ।

थे, मारा है, उसमें क्या आश्चर्य की बात है। और जो इसने अपने पाँव मे छकड़े को, जो जड़पदार्थ है, गिरा दिया, उसमें क्या अद्भुत बात इसने की। इसने जो वल्मीक के समान पहाड़ को उठाकर सात दिन तक अपने हाथ पर धारण किया है, उसमें तुमको क्या विचित्र बात जान पड़ती है। और जो इसने बालकपन में गोवर्द्धन पर्वत पर बहुत सा अन्न खाया है, उसमें कौनसी बात आश्चर्य की है ? हे धर्मज्ञ भीष्म ! जिस बलवान् कंस का अन्न खाकर यह पला, उसी अपने मामा को इस कृतघ्न ने मार डाला। भला यह कौनसी वीरता है ? ॥६।११॥

हे भीष्म ! तुम धर्म का मर्म कुछ भी नहीं जानते, इसी से मैं तुम को यह धर्मशास्त्र का उपदेश करता हूँ, सुनो। सज्जन और धर्मात्मा पुरुषों का उपदेश है कि स्त्री, गाय, ब्राह्मण, अन्नदाता और शरण में आये हुए पर शस्त्र नहीं चलाना चाहिये; पर तुम तो इसके विरुद्ध इन्हीं कुकर्मों के करनेवाले कृष्ण की चढ़ाई कर रहे हो। तुम कौरवों में नीच हो, बार-बार कृष्ण को वृद्ध और ज्ञान-वृद्ध कहते हो, मानों मैं कृष्ण को जानता ही नहीं हूँ ॥१२।१५॥

हे भीष्म ! यह कृष्ण गौ अर्थात् वृषासुर और स्त्री अर्थात् पूतना का मारनेवाला है। इसकी तुमने पूजा की है, ऐसे खोटे काम करने पर यह पूजा के योग्य क्योंकर हो सकता है। तुम इस कृष्ण को

एवमेतत्सर्वमिति तत्सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १७ ॥
न गाथा गाथिनं शास्ति वहु चेदपि गायति ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिंगशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥
नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नाऽत्र संशयः ।
अतः पापीयसी चैषां पाण्डवानामपीष्यते ॥ १९ ॥
येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः ।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥
को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः ।
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म ! कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २१ ॥
चेत्त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव ।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना ।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं साऽपहृता त्वया ॥ २२ ॥
तां त्वयाऽपहृतां भीष्म ! कन्यां नैषितवान्यतः ।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २३ ॥
दारयोर्यस्य चाऽन्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः ।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २४ ॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ और जगदीश्वर कहते हो और यह भी तुम्हारे कहने से अपने को वैसा ही समझता है। किन्तु तुम्हारे ये स्तुति-वाक्य सर्वथा मिथ्या है। स्तुति करनेवाला कितनी ही वढ़-चढ़ कर स्तुति क्यों न किया करे, किन्तु वह स्तुति स्तुतिकर्त्ता का कुछ भी नहीं कर सकती; जिस तरह से भूलिङ्ग पक्षी यद्यपि अपने मुँह से कहा करता है कि "साहस मत करो" किन्तु वह स्वयं इतना साहस करता है, कि सिंह की दाढ़ों में लगे मास को निकाल कर खा लेता है, इसी तरह मनुष्य अहिंसा का ढोंग करके हिंसा करता रहता है। हे भीष्म ! तुम्हारी प्रकृति बड़ी ही नीच और बुद्धि अशुद्ध है। तुम्हारे ही सत्संग से पाण्डवों की भी बुद्धि पाप करनेवाली हो गई है ॥१६।२०॥

तुम अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध किये हुए हो, पर धर्म का तुम्हें कुछ भी ज्ञान नहीं; तुम तो सज्जनों के मार्ग से भी भ्रष्ट हो। ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो अपने को धर्म का अधिकारी जानकर ऐसा काम करे, जैसा तुमने धर्मदर्शी होने पर किया है। यदि तुम्हें धर्म का ज्ञान है और तुम बुद्धिमान् हो, तो काशिराज की पुत्री अम्बा को, यह जानकर भी कि वह दूसरे को चाहती है, क्यों स्वयम्वर से हर लाये थे ? धर्मज्ञ और ज्ञानी पुरुष कहीं ऐसा निन्दित कर्म कर सकता है ? तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य बड़े धर्मात्मा

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ! ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद्धारयसि मोहाद्वा क्लीवत्वाद्वा न संशयः ॥ २५ ॥
न त्वहं तव धर्मज्ञ ! पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २६ ॥
इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ २७ ॥
व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म ! यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २८ ॥
सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत्त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ २९ ॥
एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म ! यत्तदहं सम्यग्वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३० ॥
वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत्पुरा ।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥
धर्मं चरत, माऽधर्ममिति तस्य वचः किल ।

और सज्जनों के मार्ग पर चलनेवाले थे, इसीसे उन्होंने तुम्हारी हर लाई हुई काशीराज की कन्या अम्बा की ओर आंख उठाकर देखा तक नहीं। तुम्हारे धर्म ज्ञान का क्या कहना है। तुम्हारे सामने ही तुम्हारे भाई की स्त्रियों में नियोगविधि से, दूसरे ने पुत्र उत्पन्न किये। हे भीष्म ! इसी से मैं कहता हूं, कि तुम्हारा यह धर्म का ढोंग और यह ब्रह्मचर्य व्रत सब वृथा है। क्योंकि इस ब्रह्मचर्य व्रत को तुमने क्लीब और मोह होने के कारण धारण कर रक्खा है ॥२१।२५॥

मुझ को तुम में धर्म का लेशमात्र भी होना नहीं दिखाई देता है, और तुम्हारे इस प्रकार से धर्म के कहने से जान पड़ता है, कि तुमने वृद्धों की सेवा नहीं की है। यज्ञ करना, दान देना, वेद पढ़ना, बहुत दक्षिणावाले यज्ञ करना आदि सब पुण्य-कर्म पुत्र उत्पन्न किये बिना निष्फल ही हैं। वे सब पुण्य पुत्र उत्पन्न करने की सोलहवीं कला के भी समान नहीं हैं। हे भीष्म ! जिस के पुत्र नहीं है, उसका बहुत से व्रत-उपवास आदि करना व्यर्थ है। मिथ्या धर्म के फेर में पड़कर तुम इस वृद्धावस्था को पहुँचने पर भी अब तक पुत्र-हीन हो। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि तुम भी हंस की तरह अपनी ही जातिवालों के हाथ से मारे जाओगे ॥२६।२९॥

ज्ञानी लोगों ने पहले जो एक हंस का वृत्तान्त कहा है, उसे मैं तुम्हारे आगे कहता हूं—सुनो। पहले समय में समुद्र के किनारे पर एक धर्म का उपदेश करनेवाला हंस रहता था। वह पक्षियों को तो उपदेश किया करता था, परन्तु आप उसके विपरीत

पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म ! सततं सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥
अथाऽस्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म! तस्याऽन्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥
ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याऽण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म ! पक्षिणः ॥ ३४ ॥
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ।
स हंसः संप्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ॥ ३५ ॥
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद्ददर्श ह ॥ ३६ ॥
ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् ।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३७ ॥
ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः ।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ! ॥ ३८ ॥
ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म ! संक्रुद्धा पक्षिणस्तमिवाऽण्डजम् ॥ ३९ ॥
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
भीष्म ! यां तां च ते सम्यक्कथयिष्यामि भारत ! ॥ ४० ॥
अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाऽशुचि ।
अण्डभक्षणकर्मैतत्तव वाचमतीयते ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

चलता था, उसके मुख से पक्षी सदैव यह सुना करते थे, कि धर्म करो, अधर्म मत करो। वे पक्षी उसको धर्मोपदेश के कारण भक्ष्य और भोजन लाकर दिया करते थे। एक समय ऐसा हुआ, कि वे सब पक्षी अपने अण्डों को उस हंस के पास छोड़कर चले गये, और चलते-फिरते समुद्र में डूब गये। तब वह पापी हंस उन पक्षियों के अण्डों को खा गया। इसी प्रकार से यह हंस जब पक्षी चले जाते, या नष्ट हो जाते थे, उनके अण्डों को खा लिया करता था ॥३०।३५॥

जब बहुत अण्डे क्षय होने लगे, तब उन पक्षियों में से एक चतुर पक्षी को संदेह हुआ, और उसने एक दिन छिपकर उस हंस के खोटे कर्म को देख लिया। उसने तब वह हाल दूसरे पक्षियों से कहा। जब उन्होंने भी उसके मिथ्या चलन को देख लिया, तब सब ने मिलकर उस पापी हंस को मार डाला। यह कथा समाप्त करके राजा शिशुपाल ने कहा-हे

भीष्म ! जिस प्रकार उस ढोंगी हंस को पक्षियों ने मार डाला था, इसी प्रकार से तुम भी सब जातिवालों के हाथ से मारे जाओगे। पुराणों के जानकार पण्डित लोग इस विषय में एक गाथा कहते हैं कि "हे पापी पक्षी ! तू अपनी हत्या होते देखकर रो रहा है। किन्तु तेरा वह अण्डे खा जाने का नीच कर्म ऐसा है, कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता"॥३६।४१॥

—(*)—

सभापर्व का इकतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

अथ द्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

शिशुपाल उवाच—स मे बहुमतो राजा जरासन्धो महाबलः ।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥
केशवेन कृतं कर्म जरासन्धवधे तदा ।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत्साध्विति मन्यते ॥ २ ॥
अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना ।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासन्धस्य भूपतेः ॥ ३ ॥
येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता ।
नेषितं पाद्यमस्मै तद्दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥
भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः ।
जरासन्धेन कौरव्य! कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥
यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख ! मन्यसे ।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥
इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया ।

बयालीसवां अध्याय ॥ ४२ ॥

शिशुपाल ने कहा—हे भीष्म ! तुम लोग ईश्वर समझकर जिस की पूजा करते हो, उसी कृष्ण को दास समझकर महाबली जरासन्ध ने उससे युद्ध नहीं किया था। राजा जरासन्ध मेरे प्रिय मित्र थे। कृष्ण, भीम और अर्जुन ने जिस उपाय से राजा जरासन्ध की हत्या की है, उसे स्मरण करके किस धर्मात्मा पुरुष को दुःख न होगा? इस छली कृष्ण ने दरवाजे से न जाकर दूसरी ओर से नगरी में प्रवेश किया, और जरासन्ध के पास जाकर अपने को ब्राह्मण बतलाया। राजा जरासन्ध ने जब पाद्य अर्घ्य आदि देना चाहा, तब इस दुरात्मा ने अपना ब्राह्मण होना अस्वीकार कर लिया। जरासन्ध के पराक्रम को यह अच्छी तरह जानता था ॥१।४॥

महामति जरासन्ध ने जब इस से और भीमसेन तथा अर्जुन से भोजन करने के लिये कहा, तब इसी ने उस में रुकावट डालकर अपने साथ भीम और

अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥
अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत ! ।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच- तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥
तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते ।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥
त्रिशिखां भ्रुकुटीं चाऽस्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥
दन्तान्संदशतस्तस्य कोपाद्ददृशुराननम् ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥
उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥
तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ! ।

अर्जुन को भी भोजन नहीं करने दिया। शिशुपाल ने भीष्म से फिर कहा—हे मूर्ख ! सुनो, यदि कृष्ण को तुम जगत् का रचयिता समझते हो, तो यह फिर अपने को ब्राह्मण मानने में क्यों डरता है ? तुम इन पाण्डवों को उस राह पर चलने की सलाह देते हो, जिसकी साधु लोग निन्दा करते हैं, और वे भी उसी उपदेश को धर्म समझते है, यही मुझे अत्यन्त आश्चर्य जान पड़ता है। अथवा जब तुम ऐसा वृद्ध और नपुँसक इनका अगुआ और सब कामों में सलाहकार है, तब इनका ऐसा होना विचित्र नहीं ॥५।८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! शिशुपाल के ऐसे कठोर कड़वे तिरस्कार के वचन सुनकर महाबली भीमसेन क्रोध के मारे काँपने लगा। कमल के समान उसकी दोनों आँखें लाल हो गईं, और भ्रुकुटी के टेढ़े होने से उसके ललाट (मस्तक) पर तीन रेखा ऐसी पड़ गईं, जैसे त्रिकुट पहाड़ पर गंगा जी तीन धारा होकर बहती है। उस समय भीमसेन क्रोध से अपने दांतों को पीसने लगा। और उसका मुख ऐसा सब को दिखाई दिया, मानो प्रलयकारक काल है। इस प्रकार से भीमसेन क्रोधित होकर शिशुपाल को मारने को दौड़ा, परन्तु उसको भीष्म ने जल्दी से इस प्रकार से पकड़ लिया, जैसे देवताओं का ईश्वर (महादेव) महासेन (कार्तिकेय) को पकड़े, और अनेक प्रकार के मधुर और श्रेष्ठ वचन कहकर उसके क्रोध को शांत किया ॥९।१२॥

प्रचण्ड और उठी हुई लहरों से पूर्ण अथाह समुद्र जैसे, वर्षाकाल न रहने पर भी, अपने किनारे की भूमि को लांघ नहीं सकता, वैसे ही भीमसेन भी

गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥
नाऽतिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः ।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥
शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप ! ।
नाऽकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिन्दम ! ।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७ ॥
प्रहसंश्चाऽब्रवीद्वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥
मुञ्चैनं भीष्म ! पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः ।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥
ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत्कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

पितामह के वचनों का उल्लङ्घन नहीं कर सका। भीमसेन के क्रोध को देखकर शिशुपाल तनिक भी नहीं डरा, और उसको अति क्रोध से बार बार उछलते हुए देखकर हंसकर कहने लगा, कि हे भीष्म ! तुम इस को छोड़ दो, आने दो, अभी सब राजाओं के देखते-देखते यह मेरे प्रभाव से इस प्रकार भस्म हो जायगा, जैसे अग्नि में पतङ्ग जल मरता है। शिशुपाल के ये गर्व-भरे वचन सुनकर भीष्म जी भीमसेन से कहने लगे ॥१३।२०॥

सभापर्व का बयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

अथ त्रयश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच——चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं रराास च ननाद च ॥ १ ॥

तैंतालीसवां अध्याय ॥ ४३ ॥

भीष्म ने कहा—हे भीमसेन ! यह शिशुपाल राजा चेदिराज के वंश में जब उत्पन्न हुआ था, तब इसके चार भुजा और तीन आँखें थीं। उत्पन्न होते ही यह गधे की तरह चिल्लाने और रोने लगा। इसकी विचित्र सूरत देखकर और भयानक शब्द सुनकर सपरिवार माता-पिता ने डर के मारे इसे त्याग देने का विचार किया। स्त्री, मन्त्री और पुरोहित के साथ चेदि-राज चिन्ता में डूब रहे थे, इसी समय आकाशवाणी हुई, कि

तेनाऽस्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सवान्धवौ ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुरुतां मतिम् ॥ २ ॥
ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासंमूढहृदयं वागुवाचाऽशरीरिणी ॥ ३ ॥
एष ते नृपते ! पुत्रः श्रीमाञ्जातो वलाधिकः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥
न चैव तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः ।
मृत्युर्हन्ताऽस्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ! ॥ ५ ॥
संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः ।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति ।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥
याथातथ्येन भगवान्देवो वा यदि वेतरः ।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥
अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः ।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तृतीयमेतद्बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥

राजन्, तुम पुत्र-जन्म होने से प्रसन्न न होकर अकारण क्यों इतना डर रहे हो ? इस बालक से तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं । तुम्हारा यह पुत्र बड़ा वली और श्रीमान् होगा । इसलिए हे महाराज ! तुम चिन्ता छोड़कर यत्न के साथ इसका पालन करो । इसकी मृत्यु और काल नहीं है। इसका मारनेवाला केवल महाकाल है, और वह संसार में प्रकट हो चुका है । आकाशवाणी सुनने पर इसकी माता ने स्नेह के वश होकर, इसे गोद में उठा लिया । इसकी मृत्यु का हाल सुनने से घबराकर उसने,उसी आकाशवाणी को लक्ष्य करके कहा--जिसने मेरे पुत्र के बारे में ये वचन कहे हैं, उसे प्रणाम करके मैं इतना और पूछती हूं, कि इस बालक की मृत्यु किसके हाथ से होगी ? यह मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहती हूं । तब फिर आकाशवाणी हुई--जिसकी गोद में जाने से इस बालक के दो हाथ और एक आँख गायब हो जायगी, वही इसे मारेगा ॥१।१०॥

निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ।
त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन्दिदृक्षवः ।
तान्पूजयित्वा संप्राप्तान्यथार्हं स महीपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत्तदा ।
एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्के समारूढो न तत्प्राप निदर्शनम् ।
एतदेवं तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरीं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥
अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम् ।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥
साऽभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाऽभ्यधिकं ततः ।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात्स्वयम् ॥ १७ ॥
न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥

इसके पीछे यह सूचना देश-देश में पहुंची कि राजा चंदेरी के एक ऐसा पुत्र हुआ है, जिसके चार भुजा और तीन नेत्र हैं और उसने उत्पन्न होते ही गधे के समान शब्द किया था। यह सुन-सुनकर सब देशों के हजारों राजा लोग इसे देखने को आये। और इसके पिता ने उन सब का आदर-सत्कार करके इसे प्रत्येक की गोद में बैठाया, परन्तु किसी की गोद में बैठने से इसकी न भुजा गिरी, न नेत्र बैठा। इसके पीछे इस वृत्तान्त को सुनकर बलदेव जी और श्रीकृष्ण जी अपनी फूफी अर्थात् इसकी मां को देखने को आये, और विधिपूर्वक अपने फूफा अर्थात् इसके पिता को दण्डवत् प्रणाम करके बैठ गये ॥११।१६॥

उस समय इसकी माता ने उन दोनों अपने भतीजों का विशेष आदर-सत्कार करके श्रीकृष्ण जी की गोद में इसको बैठा दिया। बैठाते ही शिशुपाल के दो हाथ गिर पड़े, और एक आंख गायब हो गई। यह देखकर शिशुपाल की माता ने भयभीत होकर श्रीकृष्ण जी से कहा—हे श्रीकृष्ण! तुम भय से डरे हुए मनुष्यों को अभय और आसरा देनेवाले हो। मैं भी भय से दुखी हूं, इससे मुझको जो मैं वर मांगूं सो दो। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा-हे फूफी! तुम डरो मत। मुझसे तुमको किसी प्रकार का भय नहीं पहुंच सकता है। मैं क्या वर

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत ।
दद्स्व मे वरं कृष्ण ! भयार्ताया महाभुज ! ॥ १९ ॥
त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः ।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद्यदुनन्दनः ॥ २० ॥
मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव ।
ददामि कं वरं, किं च करवाणि पितृष्वसः ! ॥ २१ ॥
शक्यं वा यदि वाऽशक्यं करिष्यामि वचस्तव ।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद्यदुनन्दनम् ॥ २२ ॥
शिशुपालस्याऽपराधान्क्षमेथास्त्वं महाबल ! ।
मत्कृते यदुशार्दूल ! विध्येनं मे वरं प्रभो ! ॥ २३ ॥
श्रीकृष्ण उवाच—अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ! ।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ २४ ॥
भीष्म उवाच—एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।
त्वां समाह्वयते वीर ! गोविन्दवरदर्पितः ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

दूँ ! क्या करूँ ? चाहे हो सकता हो, और चाहे न हो सकता हो, परन्तु मैं तुम्हारा कहा अवश्य करूंगा । यह सुनकर शिशुपाल की माता ने कहा–हे पुत्र ! तुम यदुकुल के सहस्रों वीरों में श्रेष्ठ और उनके मुखिया हो । तुम से मेरी यही प्रार्थना है, कि यदि शिशुपाल कभी तुम्हारा कुछ अपराध करे, तो तुम बुरा न मानना, क्षमा कर देना । तब श्रीकृष्ण जी ने कहा–हे बुआ जी ! तुम्हारा पुत्र यदि मार डालने के योग्य अपराध भी करेगा तो मैं वैसे सौ अपराधों तक कुछ नहीं कहूंगा, बराबर क्षमा करता जाऊंगा। तुम वृथा शोक न करो । सो हे भीमसेन ! यही कारण है, कि यह मन्दबुद्धि शिशुपाल श्रीकृष्ण जी के वरदान से गर्वित होकर तुमको युद्ध करने के लिये ललकार रहा है ॥१७।२५॥

सभापर्व का तेतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

भीष्म उवाच—नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥

को हि मां भीमसेनाऽद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २ ॥
एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम् ।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः ॥ ३ ॥
येनैष कुरुशार्दूल ! शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततो न ममृषे चैद्यस्तद्भीष्मवचनं तदा ।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥

शिशुपाल उवाच- द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत्सततोत्थितः ॥ ६ ॥
संस्तवे च मनो भीष्म ! परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥
दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद्दारिता मही ॥ ८ ॥
वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले ।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म ! महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥
यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते ।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥

चवालीसवां अध्याय ॥ ४४ ॥

भीष्म ने कहा--हे वृकोदर ! शिशुपाल यह अच्छा नहीं करता है, जो जगन्नाथ श्रीकृष्ण जी की निन्दा करता है, और ऐसा कौनसा राजा पृथ्वी पर होगा, जो काल के वश में होकर मेरी निन्दा इस प्रकार से करे, जैसे कुल-कलङ्क शिशुपाल करता है। परन्तु कारण इसका यह है, कि यह श्रीकृष्ण जी का अंश है, और श्रीकृष्ण जी इसको अपने में लय करना चाहते है। और इसी कारण से यह दुर्बुद्धि हम सब की निन्दा निर्भय होकर कर रहा है ॥१।४॥

वैशम्पायन जी बोले—हे राजा जनमेजय ! शिशुपाल भीष्म जी की उक्त बात को सुनकर सह न सका, और अत्यन्त क्रोध करके कहने लगा, कि हे भीष्म ! जिस श्रीकृष्ण की स्तुति तुम बंदीजनों की तरह करते हो, उसका जो कुछ प्रभाव हो, सो मुझ द्वेष करनेवाले पर प्रकट होवे, मेरा क्या कर सकता है। यदि तुमको दूसरे की स्तुति ही करना अच्छा लगता है,तो तुम इस कृष्ण को छोड़कर अन्य राजाओं की स्तुति करो। राजा दरद, राजा बाह्लीक, जिसके

वासवप्रतिमो येन जरासन्धोऽतिदुर्जयः ।
विजितो वाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥
द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म ! सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥
ययोरन्यतरो भीष्म ! संक्रुद्धः सचराचराम् ।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥
द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् ।
नाऽश्वत्थाम्नः समं भीष्म ! न च तौ स्तोतुमिच्छसि १४ ॥
पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै–प्रतिसमो भवेत् ।
दुर्योधनं तं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम् ।
द्रुमं किंपुरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम् ॥ १६ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ।
वृद्धं च भरताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम् ॥ १७ ॥
धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम् ।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥
भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्त्रं च भूमिपम् ।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥

उत्पन्न होने पर पृथ्वी फट गई थी, और राजा कर्ण जो इन्द्र के समान बलवान् और कुण्डल कवच सहित उत्पन्न हुआ था, और जिसने मल्लयुद्ध करके जरासन्ध को प्रसन्न किया था, स्तुति करने योग्य है ॥५।११॥

इनके सिवाय ये दोनों द्विजोत्तम और महारथी द्रोणाचार्य तथा अश्वत्थामा जो सब संसार को चर और अचर जीवों-सहित नष्ट कर सकते है, और जिनके समान कोई राजा पृथ्वी तल पर बलवान् नहीं है, स्तुति क्यों नहीं करते हो ! ॥१२।१४॥

जगत् में जिनका सामना करनेवाला कोई नहीं है, वे प्रबल प्रतापी राजा दुर्योधन, परम पराक्रमी अस्त्रविद्या में निपुण राजा जयद्रथ, लोकप्रसिद्ध द्रुम और भरतकुल के आचार्य, शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य आदि बड़े-बड़े वीर क्या तुम्हारी दृष्टि में कृष्ण से कुछ हीन हैं ! फिर क्यों कृष्ण की ही प्रशंसा करते हो ! धनुर्द्धर पुरुषों में श्रेष्ठ रुक्मी को छोड़कर कृष्ण की क्यों बड़ाई कर रहे हो ! राजा भीष्मक, राजा दन्तवक्त्र, राजा भगदत्त, राजा यूपकेतु, राजा जयत्सेन, राजा विराट, राजा द्रुपद,

विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम् ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तमम् ॥ २० ॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम् ।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ २१ ॥
शल्यादीनपि कस्मात्त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान् ।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म ! सर्वदा ॥ २२ ॥
किं हि शक्यं मया कर्तुं यद् वृद्धानां त्वया नृप ! ।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ? ॥ २३ ॥
आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः ।
अनाचरितमार्याणामिति ते भीष्म ! नः श्रुतम् ॥ २४ ॥
यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात्संस्तौषि भक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म ! न कश्चिदनुमन्यते ॥ २५ ॥
कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत्केवलकाम्यया ॥ २६ ॥
अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत ! ।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ २७ ॥

शकुनी, राजा बृहद्बल, अवंति देश के राजा विन्द और अनुविन्द, राजा पाण्ड्य, राजा श्वेत, राजा उत्तम, महाभाग शङ्ख, राजा वृषसेन, राजा विक्रान्त, राजा एकलव्य, कलिङ्गदेश के राजा, राजा शल्य और और बहुत से महाबली और महारथी राजा लोग जो यहां बैठे हुए हैं, इन सब को छोड़कर तुम केवल कृष्ण की प्रशंसा कर रहे हो ! ॥१९।२२॥

मेरे पास इसका तो कुछ उपाय नहीं है, कि तुमने धर्मवादी और वृद्धों की शिक्षा नहीं सुनी। हमने बूढ़ों से सुना है, कि अपनी अथवा पराई निन्दा और स्तुति करना श्रेष्ठ मनुष्यों का काम नहीं है। फिर यह कृष्ण तो किसी प्रकार से स्तुति करने के योग्य नहीं है। यदि तुम इसकी प्रशंसा अपने मोह या भक्ति से करते हो, उसको कोई अच्छा नहीं कह सकता है। राजा कंस के नौकर, गौओं के पालनेवाले, दुरात्मा कृष्ण को जगद्गुरु और जगत् की उत्पत्ति का कारण कहने में तुमको तनिक भी संकोच नहीं होता ?॥२३।२६॥

किन्तु मेरा यह सब कहना व्यर्थ है; तुम्हारी यह बुद्धि ठिकाने नहीं आ सकती। मैं समझता हूँ, तुम इसी भूलिङ्ग पक्षी के समान हो, जो सदा दिखावट दर्शन के काम करता है। यह सदा उपदेश की बातें में कहा करता है कि "साहस मत करना" किन्तु

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे ।
भीष्म ! तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः॥ २८ ॥
मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।
साहसं चाऽऽत्मनाऽतीव चरन्ती नाऽवबुध्यते ॥ २९ ॥
सा हि मांसार्गलं भीष्म ! मुखात्सिंहस्य खादतः ।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ ३० ॥
इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म ! जीवत्यसंशयम् ।
तद्वत्त्वमप्यधर्मिष्ठ ! सदा वाचः प्रभाषसे ॥ ३१ ॥
इच्छतां भूमिपालानां भीष्म ! जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नाऽन्योऽस्ति भवता समः ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥ ३३ ॥
इच्छतां किल नामाऽहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥ ३४ ॥
एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे ॥ ३५ ॥
केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वचः ।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नाऽयं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥ ३६ ॥

स्वयं सिंह के मुँह के भीतर से, चोंच से, मांस की बोटी खींच लाता है ॥२७।३०॥

सिंह की कृपा से वह पक्षी जीता है। उसे नासमझ, साधारण प्राणी समझकर सिंह कुछ नहीं बोलता। हे भीष्म ! जैसे वह पक्षी दूसरों को तो साहस न करने का उपदेश करता रहता है, और आप सिंह की डाढ में से भी मांस निकालने का साहस करता है; तैसे ही तुम्हारे भी वचन है। तुम अब केवल इन राजाओं की ही इच्छा से जीते हुए बैठे हो। तुम्हारे बराबर दुष्ट कर्म का करनेवाला इस संसार में कोई नहीं है। वैशम्पायन जी बोले–हे राजा जनमेजय ! भीष्म जी शिशुपाल के उक्त कड़वे वचनों को सुनकर कहने लगे कि जिन राजाओं की इच्छा से तुम हम को जीता हुआ बताते हो, उन सब को हम तिनके के बराबर भी नहीं समझते हैं ॥३१।३४॥

यह सुनकर सब राजा क्रोध से आग-बबूला हो उठे। उनमें से कोई-कोई तो हंसने लगे, कोई भीष्म जी की निन्दा करने लगे, और कोई-कोई यह कहने लगे कि यह वृद्ध भीष्म विषयों में लिप्त हो रहा है, क्षमा करने के योग्य नहीं है। इसको हम सब मिलकर

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत्साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥ ३७ ॥
इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः ।
उवाच मतिमान्भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥ ३८ ॥
उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥ ३९ ॥
पशुवद्धातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥ ४० ॥
एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः ।
यस्य वा त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥ ४१ ॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ।
यावदस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्यं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

पशु की तरह मार डालें, और अग्नि में जला दें ॥३५।३७॥

कुपित राजाओं के ये वचन सुनकर महामति भीष्म ने कहा—हे राजाओ ! तुम वृथा क्यों कोलाहल और बकवाद कर रहे हो ? मुँह से मुँह नहीं मानना, बातें बढ़ती ही जाती हैं । मैं जो तुम से कहता हूं, सो सुनो । तुम लोग चाहे मुझे पशु की तरह मारो, चाहे अग्नि में जला दो; मैं तुम सब के सिर पर यह पाँव रखता हूं, जिसके किये जो हो सके, सो करे । यह श्रीकृष्णचन्द्र हमारे और सब जगत् के पूज्य बैठे हुए हैं । जिसका अन्तकाल निकट आ गया हो, वह इन चक्र और गदाधारी को युद्ध के लिये बुलावे। हम जानते हैं, कि जबतक ये श्रीकृष्ण इस शिशुपाल को मारकर इसके तेज को अपने में लय नहीं करेंगे, तबतक ये राजा लोग नहीं मानेंगे ॥३८।४२॥

सभापर्व का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच- ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः ।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥
आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन ! ।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण ! पाण्डवाः ।
नृपतीन्समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥
ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ।
अनर्हमर्हवत्कृष्ण ! वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥
इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ।
एवमुक्ते ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः ।
उवाच पार्थिवान्सर्वान्स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ५ ॥
श्रीभगवानुवाच—एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः ! सात्वतीसुतः ।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥
प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत् ।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः ! ॥ ७ ॥
क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ ।
हत्वा बध्वा च तान्सर्वानुपायात्स्वपुरं पुरा ॥ ८ ॥

पैंतालीसवा अध्याय ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भीष्म के ये वाक्य सुनकर महाबली शिशुपाल ने, कृष्ण से युद्ध करने के लिए उद्योग करते हुए, कहा—हे कृष्ण ! आगे बढ़ो। मैं तुमको युद्ध के लिए ललकारता हूं। आज अवश्य ही पाण्डवों समेत तुमको मारकर सब क्लेश मिटा दूंगा। तुम्हारी गिनती राजाओं में नहीं है, तो भी पाण्डवों ने सब राजाओं का अनादर करके तुम्हारी पूजा की है। इसी कारण तुम्हारे साथ पाण्डवों को भी मैं यमलोक को पहुंचा दूंगा। हे दुर्मति वासुदेव ! तुम दास होकर किसी तरह पूजा के योग्य नहीं हो। तुम्हारे निन्दित आचार-व्यवहार, रीति नीति और अवस्था का हाल जानकर भी पाण्डवों ने तुम्हारी पूजा की है, इस कारण वे मारे जाने के योग्य हैं। चेदि देश का राजा महाबाहु शिशुपाल इस तरह अनेक प्रकार के कड़ुवे वचन कहकर क्रोध के मारे गरजने लगा॥१।४॥

उस शिशुपाल के ऐसे कड़ुवे वचन सुनकर पाण्डवों के समीप, सब राजाओं के आगे, श्रीकृष्ण अत्यन्त कोमल स्वर से उनसे कहने लगे—हे नरपतियो ! यह शिशुपाल यद्यपि यादवकुल की माता से उत्पन्न है, परन्तु यादवों से द्वेष रखता है, और हिंसक है। हम लोगों ने कभी इसके साथ यद्यपि कुछ बुराई नहीं की, तो भी यह दुराचारी सदा हमारा बुरा करने की धुन में लगा रहता है। हमारे प्राग्ज्योतिषपुर में जाने की सूचना पाते ही यह दुष्ट जाकर द्वारका पुरी को जला आया। पहले राजा भोज रैवतक पर्वत पर विहार कर रहे थे, तब इस दुष्ट ने वहां जाकर उनके कुछ अनुचरों को मारा। फिर यह उनको और उनके कुछ अनुचरों को बांधकर अपने नगर में ले गया ॥५।८॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम् ।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः ॥ ९ ॥
सौवीरान्प्रतियाता च बभ्रोरेष तपस्विनः ।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥
एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ११ ।
पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां सन्निधावद्य वर्तते ॥ १२ ॥
पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥
इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद्वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥
रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान्मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १६ ॥

इसके पीछे हमारे पिता का अश्वमेध यज्ञ विध्वंस करने को, राक्षसों को मारकर घोड़ा हरकर ले गया। तपस्वी बभ्रु की स्त्री जब सौवीर देश को जा रही थी, तब इस नीच ने, रास्ते में आक्रमण करके,बलपूर्वक उसका सतीत्व नष्ट किया। यह निष्ठुर पापी नि सङ्कोच होकर कारूष-राज की पोशाक पहनकर, कारूष-राज से जिसका विवाह होनेवाला था, उस विशालापुरी के राजा (मामा) की कन्या भद्रा को धोखा देकर उड़ा लाया। इस पापी ने बहुत से घोर पाप किये हैं। फूफी की बात मान लेने से ही मैंने इसके इन अत्याचारों को क्षमा किया, और इसे नहीं मारा। इस समय जो यह मेरी बुराई कर रहा है, सो आप लोग प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। यह दुष्ट समय-समय पर हम लोगों के साथ जैसा बुरा बर्ताव करता रहता है, सो मैंने सब राजाओं को सुना दिया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मैं इसके सौ अपराध क्षमा कर चुका। आज यह नराधम किसी तरह जीता नहीं बच सकता; आज मेरा यह क्रोध व्यर्थ नहीं जा सकता। यह मूर्ख ऐसा अज्ञानी और मोह से अन्धा हुआ हुआ है, कि बिना किसी सङ्कोच के रुक्मिणी को विवाहने के लिये तैयार हो गया था; किन्तु शूद्र के वेद पढ़ने के यत्न की तरह इसका यह उद्योग निष्फल ही हुआ ॥९।१५॥

वैशम्पायन ने कहा—कि जब श्रीकृष्ण ने उक्त रीति से बहुत सी बातें कहीं, तब सब राजा शिशुपाल

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥
मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण ! संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥
मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ! ॥ १९ ॥
क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण ! मम क्षम।
क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥ २० ॥
तथा ब्रुवत एवाऽस्य भगवान्मधुसूदनः ।
मनसाऽचिन्तयच्चक्रं दैत्यवर्गनिषूदनम् ॥ २१ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥
शृण्वन्तु मे महीपाला ! येनैतत्क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २३ ॥
दत्तं मया याचितं च तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः ! ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥
एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात् ।

की निन्दा करने लगे, और शिशुपाल उसको सुनकर खिलखिलाकर हँस उठा और कहने लगा, कि हे कृष्ण ! तुम मुझको रुक्मिणी का पहला पति बतलाते हो, तुमको ऐसी बात कहते लज्जा नहीं आती है। ऐसी सभा में तुम्हारे सिवाय कौन ऐसा निर्लज्ज होगा, जो दूसरे मनुष्य को अपनी स्त्री का पहला पति बतावे। तुम जो फूफी अर्थात् हमारी माता का हाल कहते हो, सो हमको उसकी कुछ परवाह नहीं है। तुम चाहे क्षमा करो, चाहे क्रोध, तुम्हारे क्षमा और क्रोध करने से मेरा कुछ भला या बुरा नहीं हो सकता है॥१६।२०॥

गड़े हुए. शिशुपाल की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने शत्रु-सेना का नाश करनेवाले सुदर्शन चक्र को याद किया। याद करते ही वह तीक्ष्ण चक्र कृष्ण के हाथ में आ गया। तब उन्होंने बड़े गम्भीर स्वर से कहा—हे राजाओ ! मैंने इसकी माता को यह वरदान दिया था, कि मैं तेरे पुत्र के सौ अपराध तक क्षमा करूँगा। सो अब ये सब अपराध पूरे हो गये। अब मैं इसको मारता हूँ ॥२१।२४॥

यह कहकर श्रीकृष्ण जी ने क्रोध करके चक्र को छोड़ दिया और उससे शिशुपाल का शिर कट-कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब उस राजा का शरीर इस प्रकार से पृथ्वी पर गिर पड़ा जैसे बिजली के

व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणाऽमित्रकर्षणः ॥ २५ ॥
स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाऽचलः ।
ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥
उत्पतन्तं महाराज ! गगनादिव भास्करम् ।
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
ववन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिप ! ॥ २७ ॥
तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः ।
यद्विवेश महाबाहुं तत्तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥
अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताऽशनिः ।
कृष्णेन निहिते चैद्ये चचाल च वसुन्धरा ॥ २९ ॥
ततः केचिन्महीपाला नाऽब्रुवंस्तत्र किंचन ।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥
हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन्क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३१ ॥
रहश्च केचिद्वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥
प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः ।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥ ३३ ॥

गिरने से पहाड़ गिरता है। उसके शरीर में से सूर्य के समान चमकता हुआ तेज निकलकर श्रीकृष्ण को वन्दना करके उन्हीं के शरीर में लय हो गया। यह तमाशा देखकर सब राजा लोग आश्चर्य करने लगे। उस समय आकाश में से बिना बादल के वर्षा होने लगी, बिजली भी पृथ्वी पर गिरी, और पृथ्वी काँपने लगी। यह देखकर अनिष्ट की आशङ्का से सब राजा डर गये ॥२५।२९॥

ऐसे अचरज को देखकर कोई-कोई राजा तो चित्र में लिखे से चुपचाप कृष्ण की ओर ताकने लगे। उनकी बुद्धि ही इस मामले में कुछ काम न करती थी। कोई-कोई शिशुपाल के नातेदार राजा, उसके मारे जाने से, क्रोधान्ध होकर हाथ से हाथ मलने और दांत पीसने लगे। कुछ राजा मन ही मन श्रीकृष्ण की बड़ाई करने लगे। कोई कुपित हुए, कोई प्रसन्न हुए और कोई मध्यस्थ भाव से तमाशा देखते रहे। सभा के स्थान में बड़ा कोलाहल मच गया। प्रसन्न-चित्त ऋषि लोग मन ही मन केशव की प्रशंसा करके, स्तुति करने के उपरान्त, अपने-अपने स्थान को चल दिये। महात्मा ब्राह्मण और सब राजा लोग श्रीकृष्ण

शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम् ।
पाण्डवस्त्वब्रवीद्भ्रातॄन्सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् ।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३५ ॥
चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत्तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥
ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।
यूनां प्रीतिकरो राजन्स बभौ विपुलौजसः ॥ ३७ ॥
शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान् ।
अन्नवान्बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥
समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥
ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपागम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥
दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ ! साम्राज्यं प्राप्तवानसि ! ।
आजमीढाऽऽजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥ ४१ ॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र ! धर्मश्च सुमहान्कृतः ।

जी के पराक्रम को देखकर आनन्द के साथ धन्य-धन्य कहने लगे ॥३०।३४॥

इधर पाण्डवों ने, धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से, शीघ्र ही दमघोष के बेटे शिशुपाल के शरीर को ले जाकर, उसका अन्त्येष्टि संस्कार किया। आये हुए सब राजाओं के साथ धर्मराज युधिष्ठिर ने चेदि राज्य के सिंहासन पर शिशुपाल के पुत्र को बिठा दिया। फिर पाण्डुवंश के मुखिया युधिष्ठिर ने उस महासमृद्धि-शाली, धन और धान्य से पूर्ण राजसूय महायज्ञ का बचा हुआ काम समाप्त किया। इस प्रकार निर्विघ्न रूप से यज्ञ को समाप्त होते देखकर, युधिष्ठिर को बड़ा आनन्द हुआ ॥३५।३८॥

शार्ङ्ग धनुष, गदा और चक्र धारण किये हुए भगवान् श्रीकृष्ण समाप्ति तक यज्ञ की रक्षा करते रहे। फिर अवभृथ स्नान हो चुकने पर राजाओं ने धर्मात्मा युधिष्ठिर के पास जाकर कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! आप अजमीढवंश के रत्न हैं। आप ने इस धर्मकार्य का अनुष्ठान करके सारे अजमीढ-वंश को यशस्वी बना दिया। आपकी जय हो। प्रारब्ध के कारण आपने साम्राज्य-पद पाया है। हे महाराज!

आपृच्छामो नरव्याघ्रं सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४२ ॥
स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन्भ्रातॄन्सर्वानुवाच ह ।
राजानः सर्व एवैते प्रीत्याऽस्मान्समुपागताः ॥ ४४ ॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः ।
तेऽनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन्सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६ ॥
विराटमन्वयात्तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥
भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधांपतिः ॥ ४८ ॥
नकुलः सुबलं राजन्सहपुत्रं समन्वयात् ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान्महारथान् ॥ ४९ ॥
अन्वगच्छंस्तथैवाऽन्यान्क्षत्रियान्क्षत्रियर्षभाः ।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥ ५० ॥

हम लोग जैसे सम्मान के साथ निमन्त्रण पाकर आये थे, वैसे ही आप के यहां आदर सत्कार पाकर और यज्ञ देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। अब हम लोग अपने अपने देशों को जाना चाहते हैं। कृपा करके हमको जाने की आज्ञा दीजिए ॥३९।४४॥

राजाओं के ऐसे विनीत और न्यायसङ्गत वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर ने उन सब का यथोचित सत्कार किया। फिर अपने भाइयों से कहा—ये सब राजा लोग निमन्त्रण पाकर बड़ी प्रसन्नता से राजसूय यज्ञ देखने आये थे। अब ये लोग बिदा होकर अपने अपने नगरों को जाना चाहते हैं। इसलिये तुम इनके साथ जाकर अपने नगर की सीमा तक इनको पहुँचा आओ। आज्ञा का पालन करनेवाले पाण्डव, बड़े भाई की आज्ञा को शिरोधार्य करके, राजाओं को पहुचाने के लिए उनके साथ गये। धृष्टद्युम्न राजा विराट के साथ, अर्जुन राजा द्रुपद के साथ, भीष्म और धृतराष्ट्र के साथ भीमसेन, सहदेव, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के साथ नकुल, राजा सुबल और उसके पुत्र के साथ द्रौपदी, और सुभद्रा के पुत्र पहाड़ी राजाओं के साथ और क्षत्रिय लोग दूसरे क्षत्रियों के साथ जा-जाकर सब को राज्य की सीमा तक पहुँचा आये। इसी प्रकार से सहस्रों ब्राह्मण लोग जो

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन ! ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥
तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम् ।
तव प्रसादाद्गोविन्द ! प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ५३ ॥
क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद्वशे स्थितम् ।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥
कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ ! ।
न ह्यहं त्वामृते वीर ! रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥ ५५ ॥
अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी ।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥
अभिगम्याऽब्रवीत्प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः ।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५७ ॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि ।
अनुज्ञातस्त्वया चाऽहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥

अनेक-अनेक देशों से आये थे, चले गये ॥४५।५०॥

सब राजाओं और ब्राह्मणों के चले जाने पर श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर से कहा–हे कुरुकुल-तिलक! बड़े सौभाग्य की बात है, कि राजसूय यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त करके आपने साम्राज्य पद को प्राप्त कर लिया है। अब मैं भी द्वारका को जाना चाहता हूं। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा–हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी कृपा से मेरा यह यज्ञ निर्विघ्न रूप से समाप्त हुआ है। तुम्हीं सब यज्ञों के ईश्वर हो। तुम्हीं की कृपा से सब क्षत्रियों ने मेरे वश में होकर मुझको कर के रूप में अनेक प्रकार के रत्न, धन आदि भेंट में दिये हैं। हे निष्पाप! जब तुम मेरे पास नहीं होते, तब घड़ी भर के लिये भी, मैं सुखी नहीं रह सकता। तुमको क्या कहकर मैं विदा करूँ? मेरे मुख से तो इस बारे में कोई बात ही नहीं निकलती। क्या करूँ? द्वारकावासियों को ही तुम्हारे पास रहने के सुख से कैसे वञ्चित रक्खूँ? ॥५१।५६॥

धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रकार कह चुकने पर श्रीकृष्ण, उनको साथ लिये हुए, कुन्ती के पास गये और प्रसन्नतापूर्वक कहने लगे—हे फूफी! तुम्हारे पुत्र महायज्ञ करके अब साम्राज्य पद प्राप्त कर चुके हैं। इस समय तुम्हारी कृपा से बहुत धन और असीम ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। तुम प्रसन्न रहो। अब मुझे द्वारका पुरी को जाने की आज्ञा दीजिए। इस

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः ।
निष्क्रम्याऽन्तःपुरात्तस्माद्युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५९ ॥
स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम् ॥ ६० ॥
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ।
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम् ॥ ६१ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६२ ॥
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्वासुदेवं महाबलम् ॥ ६३ ॥
ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः ।
अब्रवीत्पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥
अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशांपते ! ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ ६५ ॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवाऽमराः ।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥ ६६ ॥
अन्योऽन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान्प्रति ।
गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ! ॥ ६७ ॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

॥ समाप्तं च शिशुपालवधपर्व ॥

प्रकार कुन्ती से विदा होकर श्रीकृष्ण द्रौपदी और सुभद्रा के पास गये। उनसे भी यथोचित बात चीत करके और विदा होकर श्रीकृष्ण महल से बाहर आये ॥५७।५९॥

फिर स्नान करके और ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन सुनकर दारुक सारथी के लाये हुए रथ पर जिसमें गरुड़ के चिह्न की ध्वजा लगी हुई थी, प्रदक्षिणा करके चढ़ और द्वारका पुरी की ओर चल दिये। युधिष्ठिर आदिक सब भाई उनके साथ साथ पैदल हो लिये। यह देखकर श्रीकृष्ण ने अपने रथ को रोक लिया और युधिष्ठिर से कहने लगे—हे महाराज! तुम सावधानी से प्रजा की रक्षा करते रहना। पर्जन्य जैसे

सब प्राणियों की जीविका के आधार है, वृक्ष जैसे पक्षियों के आश्रयस्थल है, देवराज इन्द्र जैसे देवताओं की रक्षा करते है, वैसे ही तुम बन्धु बान्धवों तथा प्रजा की रक्षा करना, उन्हें आश्रय देना। राह में श्रीकृष्ण और महाराज युधिष्ठिर की इसप्रकार से बात चीत हुई। फिर दोनों एक दूसरे से विदा होकर अपने अपने नगर को चल दिये। उनके चले जाने पर, उस युधिष्ठिर की सभा में केवल दुर्योधन और राजा सुबल के पुत्र शकुनी, ये दोनों पाण्डवों के साथ कुछ दिन के लिये और ठहर गये ॥६०।६८॥

सभापर्व का पैंतालीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

अथ द्यूतपर्व।

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात्समपद्यत ॥ १ ॥
सोऽभ्ययादासनात्तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनाऽऽसनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥
अथोपविश्य भगवान्काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान्व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥
दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय! साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह! ॥ ५ ॥
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशांपते! ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

छियालीसवां अध्याय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! उस दुर्लभ राजसूय यज्ञ के समाप्त होने पर पाण्डवों के पास व्यासदेव जी अपने शिष्यों सहित आये। उन्हें देखकर धर्मराज युधिष्ठिर भाइयों सहित जल्दी से आसन से उठ खड़े हुए। फिर अपने भाइयों के साथ प्रणाम करके उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि सामग्री से अपने पितामह का पूजन किया। व्यास जी जब धर्मराज युधिष्ठिर के दिये हुए सुवर्ण के आसन पर बैठ गये, तब आज्ञा पाकर धर्मराज युधिष्ठिर भी और आसन पर बैठे। भाइयों-सहित उनके बैठ जाने पर व्यास जी ने कहा—हे कुरुकुल-तिलक! सौभाग्यवश तुम्हारे दुर्लभ असीम साम्राज्य पद पा जाने से कुरु-देश की बड़ी उन्नति और श्रीवृद्धि हो रही है ॥१।५॥

तुमने अपने वंश का मुख उज्ज्वल कर दिया। हे क्षत्रियों में श्रेष्ठ! मै निमन्त्रण पाकर तुम्हारे यज्ञ में आया था, अब तुम से पूछ कर अपने आश्रम

अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाऽब्रवीत् ।

युधिष्ठिर उवाच—संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ! ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नाऽन्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ! ।
उत्पातांस्त्रिविधान्प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवाऽऽन्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ! ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच–राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥
त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशांपते ! ॥ ११ ॥
त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ! ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ! ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १२ ॥
स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र ! क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥ १३ ॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।

को जाना चाहता हूँ। यह सुनकर युधिष्ठिर ने व्यास जी को उठकर दण्डवत् की, और फिर पास बैठकर कहा–हे महाराज ! मुझे बड़ा भारी सन्देह हो गया है । आपके सिवाय मेरे इस सन्देह को और कोई दूर नहीं कर सकता है । मैंने नारद जी से सुना है कि तीन उत्पात बड़े भारी होते हैं । एक दिव्य अर्थात् वज्रपात आदि, दूसरा आन्तरिक्ष अर्थात् धूमकेतु आदि, और तीसरा पार्थिव अर्थात् भूकम्प आदि, सो ये तीनों उत्पात शिशुपाल के मारे जाने पर हुए थे, उनके होने का क्या फल है ? ॥६।९॥

यह सुनकर व्यास जी बोले–हे राजन् ! इन उत्पातों का फल यह है, कि आज से तेरह वर्ष के बीतने पर, सब क्षत्रियों के कुल का नाश होगा । और तुम को कारण बनाकर दुर्योधन के अपराध से सब राजा लोग इकट्ठे होकर भीमसेन और अर्जुन के बल से मारे जायेंगे। और आज रात्रि के अन्त में तुम को स्वप्न में वृषध्वज नीलकण्ठ शिवजी के दर्शन जो भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरांतक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूली, पिनाकी, और कृत्तिवासा, आदि नामों से विख्यात हैं, नन्दी पर सवार, दक्षिण की ओर देखते हुए होंगे । सो तुम इस बात का कुछ संदेह मत करो, क्योंकि इस संसार में काल का उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता है। अब तुम सावधान रहकर प्रजा का पालन करो, और

हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥ १४ ॥
कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥ १५ ॥
एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशांपते ! ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा स भगवान्कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥ १८ ॥
गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत्तमेवाऽर्थं विचिन्तयन् ॥ १९ ॥
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥ २० ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान्भ्रातॄन्युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा ! यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥ २२ ॥
कालेन निर्मितस्तात ! को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥
मा राजन्कश्मलं घोरं प्राविशो बुद्धिनाशनम् ।

मुझको जाने की आज्ञा दो । मैं कैलास पर्वत पर जाना चाहता हूं । वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! व्यासदेव जी इस प्रकार से कहकर शिष्यों-सहित कैलास पर्वत को चले गये । उनके चले जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर शोक और चिन्ता में मग्न होकर बार-बार गरम-गरम श्वास लेकर विचारने लगे, कि यह भावी अर्थात् होनहार किसी प्रकार से मनुष्य के उपाय से नहीं रुक सकती है । व्यास जी जो कह गये हैं, वह अवश्य होगा ॥१०।२०॥

इसके पश्चात् उन्होंने अपने भाइयों से कहा–हे भाइयो ! व्यास जी जो कह गये हैं, सो सब तुम लोगों ने भी सुना है । उनके कथन को सुनकर मैंने अपने प्राण दे देने का विचार कर लिया है । क्योंकि काल ने मुझको क्षत्रिय कुल के नाश होने का हेतु

संप्रधार्य महाराज ! यत्क्षमं तत्समाचर ॥ २४ ॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिर्भ्रातॄन्सर्वान्युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनस्य वचनं तत्रैव समचिन्तयन् ॥ २५ ॥
अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत ।
त्रयोदश समास्तात को ममाऽर्थोऽस्ति जीवतः ॥ २६ ॥
न प्रवक्ष्यामि पुरुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत्समुदाहरन् ॥ २७ ॥
एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च ।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥ २८ ॥
विग्रहं दूरतो रक्षन्प्रियाण्येव समाचरन् ।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ! ॥ २९ ॥
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः सन्निशम्य तत् ।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥ ३० ॥
संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराड् भ्रातृभिः सह ।
पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशांपते ! ॥ ३१ ॥
कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः ।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ! ॥ ३२ ॥

निर्माण किया है, मेरा अब जीना व्यर्थ है । यह सुनकर अर्जुन ने कहा—आप शोक को छोड़कर जो करना उचित है, वह कीजिए । क्योंकि सोच करने से बुद्धि जाती रहती है । यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर व्यास जी की बात को स्मरण करके कहने लगे, कि मेरे जीने से अब कोई अर्थ नहीं है॥२१।२५॥

इससे आज से मैं यह प्रतिज्ञा धारण करता हूं, कि तेरह वर्ष तक कभी अपने भाई या दूसरे राजाओं से कठोर वचन नहीं कहूंगा । और अपने स्वजातियों की आज्ञा मानकर उनकी सेवा करूंगा। पुत्र, प्रजा, बड़े और छोटे, सभी लोगों के साथ समान व्यवहार करूंगा। तब मेरे द्वारा भेदभाव, जो सब लड़ाई झगड़ों की जड़ है, उसके उत्पन्न होने का खटका न रह जायगा । मित्रों में भेदभाव पड़ने से ही युद्ध की आग जल उठती है । मैं इस को एकदम मिटाकर ऐसे ही काम करूंगा, जो सब को प्रिय होंगे । ऐसा करने से मुझे लोक-निन्दा का पात्र न बनना पड़ेगा। मङ्गल की इच्छा रखनेवाले भीमसेन आदि भाइयों ने धर्मराज युधिष्ठिर के इस कथन का अनुमोदन किया ॥२६।३०॥

सब अभ्यागतों के चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार श्रेष्ठ सभा में बैठकर देवता, पितृ-

युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
दुर्योधनो महाराजः शकुनिश्चाऽपि सौवलः ।
सभायां रमणीयायां तत्रैवाऽऽस्ते नराधिप ! ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

गण और ब्राह्मण आदि की पूजा तथा प्रजा का पालन करने लगे। यज्ञ के उपरान्त सब कामों से छुटकारा पाकर, कल्याण-कर्म करके, भाइयों के साथ धर्मराज अपनी नगरी में आये। दुर्योधन और शकुनि दोनों, धर्मराज के साथ, सुखपूर्वक उनकी सभा में बैठकर आनन्द मनाने लगे ॥३१।३३॥

सभापर्व का छियालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच-वसन्दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ! ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥
तस्यां दिव्यानभिप्रायान्ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥
स कदाचित्सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान्बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥
ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः ।
निःश्वसन्विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ॥ ५ ॥

सैंतालीसवां अध्याय ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन जी बोले हे राजा जनमेजय! युधिष्ठिर की सभा में रहने पर दुर्योधन और शकुनि धीरे-धीरे सभा को घूमकर देखने लगे, और उन्होंने उसमें, ऐसी-ऐसी दिव्य वस्तुएँ देखीं, जिनको उन्होंने पहले कभी हस्तिनापुर में नहीं देखा था। धृतराष्ट्र का बेटा दुर्योधन इसी तरह एक दिन सभा-मण्डप में घूम रहा था। घूमते-घूमते वह बिल्लौर पत्थर के फर्श पर पहुँचा, तो उसे वहां निर्मल जल भरा मालूम पड़ा। तब उसने अपने वस्त्र समेटकर ऊपर कर लिये। उसका चित्त उदास हो गया। आगे चलते-चलते वह एक जगह जल भरा हुआ समझकर, बचने लगा, तो स्थल पर गिर पड़ा। [क्योंकि वहां तो जल था ही नहीं] इससे वह बहुत ही लज्जित हुआ। फिर वह उठकर दुखी मन से गरम सांस लेता हुआ सभा में घूमने लगा। आगे बावड़ी मिली, उसमें बहुत ही स्वच्छ जल भरा हुआ था। दुर्योधन ने उसे भी पहले का सा फर्श समझा। ज्योंही उसने आगे पाव रक्खा, त्योंही वह धम से उसमें जा पड़ा।

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकांबुजशोभिताम् ।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥
जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ॥ ७ ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ॥ ८ ॥
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ।
नाऽमर्षयत्ततस्तेषामवहासममर्षणः ॥ ९ ॥
आकारं रक्षमाणस्तु न स तान्समुदैक्षत ।
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ॥ १० ॥
आरुरोह, ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ।
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः ।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥ ११ ॥
तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम् ।
विघट्टयन्कराभ्यां तु निष्क्रम्याऽग्रे पपात ह ॥ १२ ॥
द्वारं तु विततकारं समापेदे पुनश्च सः ।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥ १३ ॥

उसके कपड़े भीग गये । दुर्योधन को जल में गिरते देखकर, साथ में जो नौकर-चाकर थे, उनसे भी हँसी रोकी न जा सकी । यह तमाशा देखकर भीमसेन ज़ोर से हँस उठे; किन्तु युधिष्ठिर ने उसी समय अनुचरों को सूखे कपड़े लाने की आज्ञा दी । उन कपड़ों को दुर्योधन ने पहन लिया । उसके गिरने के समय केवल भीमसेन ही नहीं, बल्कि अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि सभी हँस पड़े थे। इससे दुर्योधन को बड़ा क्रोध चढ़ आया, पर उसने अवसर न देखकर उस अपने भाव को छिपा लिया । आगे बढ़ने पर दूसरी जगह फिर फर्श को जल-भरा कुण्ड समझकर, दुर्योधन ने मानों कूदने के लिये कपड़े समेट लिये। यह देखकर फिर सब लोग हँस पड़े ॥१।१०॥

एक स्थान पर बिल्लौर का एक ऐसा द्वार लगा था, कि वह खुला जान पड़ता था । उस बन्द द्वार को खुला समझकर, ज्योंही आगे बढ़ा, त्योंही माथे में ऐसे ज़ोर से टक्कर लगी, कि वह चक्कर खाकर गिर पड़ा। आगे चलने पर फिर उसे एक खुला हुआ द्वार मिला । उसे बन्द जानकर धक्का देने के लिये, ज्योंही दुर्योधन आगे बढ़ा, त्योंही ज़ोर से गिर पड़ा। उसको बड़ी भारी चोट आई। सभा में घूमते समय इस तरह बार-बार धोखा खाकर दुर्योधन बहुत ही

एवं प्रलम्भान्विविधान्प्राप्य तत्र विशांपते ! ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १५ ॥
पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६ ॥
पार्थान्सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ! ॥ १७ ॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८ ॥
स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १९ ॥
प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाऽभ्यभाषत्सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥
अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन ! कुतो मूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ? ॥ २१ ॥

लज्जित और व्यथित हुआ। इस कारण उस अद्भुत सभा की शोभा देखना उस के लिये प्रसन्नता का कारण न होकर, दुःख का ही कारण हुआ। इसके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर वह शकुनि के साथ हस्तिनापुर को चल दिया ॥११।१५॥

राह में जाते-जाते पाण्डवों के अपार ऐश्वर्य, सौभाग्य और अभ्युदय का विचार करके, दुर्योधन अत्यन्त व्याकुल और खिन्न हो उठा। किस तरह पाण्डवों का सर्वनाश हो, उनका यह ऐश्वर्य न रहे, यही सोचते-सोचते उसकी बुद्धि नीच वासनाओं के कारण अत्यन्त मलिन हो उठी। वह विचार करने लगा, कि पाण्डव बहुत ही प्रसन्न रहते हैं; सभी राजा लोग गुणों के कारण पाण्डवों के अधीन होकर प्रसन्नता से सदा उनकी भलाई में लगे रहते हैं– उनके शुभचिन्तक हैं। बालक, बूढ़, जवान, सभी उनकी कृपा की चाह रखते हैं। इसी चिन्ता के मारे वह गहरे विषाद के समुद्र में गोते खाने लगा। राह में जाते समय दुर्योधन उस अनुपम सभा की शोभा और युधिष्ठिर के वैभव के विषय में चिन्ता करता हुआ, यहां तक बेसुध था, कि मामा शकुनि के बार-बार बातचीत करने पर भी कुछ उत्तर न देता था ॥१६।२०॥

उसके चित्त को ठिकाने पर न देख उसके मामा शकुनि ने कहा–हे भाई दुर्योधन ! तुम किस

दुर्योधन उवाच—दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ २२ ॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ! ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥
अमर्षेण तु संपूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत्तोयमिवाऽल्पकम् ॥ २४ ॥
पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत्कश्चित्तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥
दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत्क्षन्तुमर्हति ॥ २६ ॥
वासुदेवेन तत्कर्म यथाऽयुक्तं महत्कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥
तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २८ ॥
श्रियं तथागतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥
एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् ।

कारण लम्बी साँसें लेते हुए घर को चल रहे हो ?
यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—मैं सब पृथ्वी को अर्जुन के शस्त्र के प्रताप से युधिष्ठिर के वश में, और देवताओं के बीच में जैसे इन्द्र यज्ञ करें, उसी प्रकार से युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करते, देखकर, अप्रसन्न हुआ हूँ । क्रोध और ईर्षा दिन-रात मुझ को जलाते हैं, और उनके कारण से मैं इस प्रकार से सूखता जाता हूँ, जैसे गरमी के दिनों में जल दिन दिन सूखता चला जाता है । देखो, श्रीकृष्ण ने शिशुपाल को मार डाला, हम लोग उसको देखते रहे, परन्तु किसी ने पाण्डवों के भय से उसका प्रतिकार नहीं किया ॥२१।२५॥

भला ऐसा कौन होगा जिससे ऐसी बातें सही जायँगी, श्रीकृष्ण का यह सर्वथा अनुचित काम पाण्डवों के ही प्रताप से सिद्ध हुआ । देखो, यज्ञ के अवसर पर आये हुए सब राजाओं ने असंख्य बहुमूल्य रत्न आदि, भेंट के रूप में, देकर पाण्डवों का खज़ाना भर दिया है । दिनों दिन बढ़ रही पाण्डवों की सौभाग्य-लक्ष्मी देखकर मेरी ईर्षा धीरे धीरे प्रबल और प्रचण्ड होती जा रही है । हे मामा ! यही सन्ताप मेरे शरीर को दिन दिन सुखाना और हृदय को जलाता जा रहा है ॥२६।२९॥

पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाऽग्निना ॥ ३० ॥
वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ३१ ॥
को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्ववान् ।
सपत्नानृध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥ ३२ ॥
सोऽहं न स्त्री न चाऽप्यस्त्री न पुमान्नाऽपुमानपि ।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥
ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥
अशक्तश्चैक एवाऽहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् ।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुभ्रां श्रियं तामहृतां तथा ॥ ३६ ॥
कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ! ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३७ ॥
तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥

अब मैं इस दुःख को सह नहीं सकता हूं, या तो जल में डूब मरूंगा, या अग्नि में जल मरूंगा, नहीं तो विष खाकर सो रहूंगा। क्योंकि न मैं स्त्री हूं, जो मैं पराधीन होकर रहूं। न अस्त्रज्ञ हूं, जो शत्रु को जीतूं। न पुरुष हूं, जो शत्रु के अस्त्रों को सह सकूं। और न नपुंसक हूं, जो शत्रु की लक्ष्मी को देखकर ईर्षा न करूं। भला ऐसा कौन होगा, जो पाण्डवों के ईश्वरत्व धन और यज्ञ को देखकर दुःखी न होवे। इसलिए मैं ऐसी लक्ष्मी को इकट्ठा करने की अपनी सामर्थ्य न देखकर मरना चाहता हूं ॥३०।३५॥

युधिष्ठिर की लक्ष्मी को देखकर मैंने यह भी निश्चय कर लिया है, कि पौरुष अर्थात् उपाय निष्फल है, और दैव अर्थात् प्रारब्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि मैंने पाण्डवों के नाश करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय किये, परन्तु कोई भी कारगर न हुआ। और उसके बदले में वे लोग ऐसे बढ़ गये हैं, जैसे जल में कमल बढ़ता है। हम लोग दिन पर दिन कम होते जाते हैं, और पाण्डवों की दिन प्रति दिन बढ़ौतरी होती जा रही है। इससे और क्या समझा जावे, सिवाय इसके कि प्रारब्ध पौरुष से प्रबल है। इसके सिवाय पाण्डवों की सभा में नौकरों-चाकरों तक ने मेरी हंसी की। वह हंसी मुझको दिन-रात

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम् ।
रक्षिभिश्चाऽवहासं तं परितप्ये यथाऽग्निना ॥ ३९ ॥
स मामभ्यनुजानीहि मातुलाऽद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

अग्नि के समान जलाती रहती है। इसलिए हे मामा! अब तुम हमारे पिता धृतराष्ट्र से जाकर कह दो, कि मैं क्रोध के कारण से अपने प्राण छोड़ना चाहता हूं। और तुम मुझको मरने की आज्ञा दो ॥३९।४०॥

—*—

सभापर्व का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

अथ अष्टाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

शकुनिरुवाच—दुर्योधन! न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः ।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥
आरब्धापि महाराज! पुनः पुनररिन्दम! ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥
तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥
लब्धश्चाऽनभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते! ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥

अड़तालीसवां अध्याय ॥ ४८ ॥

दुर्योधन की इस बात को सुनकर शकुनि ने कहा-हे भाई दुर्योधन! युधिष्ठिर से ऐसा द्वेष रखना तुम्हें उचित नहीं। सोचकर देखो, पाण्डव लोग सदा अपने भाग्य से ही सुख भोग रहे हैं। तुमने उनके मारने के लिए अनेक प्रकार के उपाय किये, परन्तु कोई उपाय नहीं चला। वे अपनी प्रारब्ध से जीते रहे। बार-बार तुम्हारे अनेक यत्न करने पर भी, वे भाग्य से बचते ही रहे हैं। भाग्य से ही उन्हें द्रौपदी सी परम सुन्दरी स्त्री मिली है। पुत्रों-सहित द्रुपद राजा और श्रीकृष्ण की सहायता से उन्होंने पृथ्वीमण्डल का एकच्छत्र राज्य पाया है। अपने पैतृक धन का कुछ ही हिस्सा पाकर, उन्होंने अपने बाहुबल से उसे इतना बड़ा लिया है। इस कारण उनसे वैर करना किसी तरह तुम्हारे योग्य काम

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेपुधी ।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ॥ ६ ॥
तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चाऽऽत्मनः ।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ? ॥ ७ ॥
अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ८ ॥
तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः ।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ? ॥ ९ ॥
यच्चाऽसहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ १० ॥
द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ११ ॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥
दुर्योधन उवाच—त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चाऽन्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १३ ॥

नहीं ॥१।५॥

अर्जुन ने अग्निदेव को प्रसन्न किया, और उनसे गाण्डीव धनुप और दो ऐसे तर्कस, जिनके बाण कभी कम नहीं होते हैं, पाये हैं। उसने उनके और अपने बाहुबल के प्रताप से राजाओं को जीत-कर अपने वश में किया है। तुमको उसे देखकर खेद करना क्योंकर उचित है? प्रतापी अर्जुन ने मय दानव को अग्नि में जलने से बचाया था, और उस उपकार के बदले में उसने युधिष्ठिर को ऐसी अद्भुत् सभा बना दी है, कि असंख्य किंकर नाम के राक्षस उसकी आज्ञा से उस सभा की रक्षा और देख-भाल किया करते है। उस सभा को जहाँ चाहें तहां ले जा सकते है। यह देखकर तुम क्यों अकारण कुढ़ रहे हो? ॥६।९॥

और तुमने जो अपने असहाय होने की बात कही, उस पर भी मै विश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि तुम्हारे सब छोटे भाई तुम्हारे वश में हैं। इनके सिवाय महावीर द्रोणाचार्य, उनके पुत्र महारथी अश्वत्थामा, सूत-पुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, अपने भाइयों सहित मैं, राजा सोमदत्त के पुत्र आदि सब सदा तुम्हारे भले की इच्छा और यत्न किया करते हैं। [फिर तुम अपने को सहाय-हीन कहकर क्यों सन्ताप करते हो?] इन सब की सहायता से तुम भी सारी पृथ्वी को जीतकर अपने वश में कर

एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥ १४ ॥

शकुनिरुवाच—धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १५ ॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि ।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १६ ॥
अहं तु तद्विजानामि विजेतुं येन शक्यते ।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच—अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाऽऽचक्ष्व मातुल ! ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच—द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम् ।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥ १९ ॥
देवने कुशलश्चाऽहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि ।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य ! तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ २० ॥
तस्याऽक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् ।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ! ॥ २१ ॥

सकते हो। शकुनि के इन वचनों से उत्साहित होकर दुर्योधन ने कहा–हे मामा ! यदि आप उचित समझें और आज्ञा दें, तो मैं आपकी और अन्य महारथियों की सहायता से, पहले प्रधान शत्रु पाण्डवों को ही जीतने का उद्योग करूं। उनको जीत लेने पर सारी पृथ्वी, सब राजा और वह सब समृद्धियों से पूर्ण विचित्र सभा, सब पर मेरा अधिकार हो जायगा ॥१०।१४॥

यह सुनकर शकुनि ने उत्तर दिया, कि जिस समय श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, राजा द्रुपद और द्रुपद के धृष्टद्युम्न आदि पुत्र युद्ध करने को आवेंगे, उस समय उनको तुम्हारी तो क्या सामर्थ्य है, देवता भी नहीं जीत सकेंगे। क्योंकि ये सब बड़े धनुषधारी और अस्त्रज्ञ हैं। परन्तु युधिष्ठिर को सहज में जीतने का उपाय मैं जानता हूं। उसे सुनो और जो यह तुमको रुचे, तो उसी को करने की धुन में लग जाओ। यह सुनकर दुर्योधन ने कहा–हे मामा ! जो ऐसा कोई उपाय निकल आवे, कि हमारी सेना और सुहृदों में से कोई न मरे और पाण्डव हमारे अधीन हो जायँ, तो क्या ही बात है। आप ऐसे उपाय को मुख से अवश्य कहिये ॥१५।१८॥

शकुनि ने कहा–युधिष्ठिर को जुआ खेलने का बड़ा व्यसन अर्थात् शौक है, उसको जुआ खेलना

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन! निवेदय ।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान्न संशयः ॥ २२ ॥
दुर्योधन उवाच—त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल! ।
निवेदय यथान्यायं नाऽहं शक्ष्ये निवेदितुम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

तो आता नहीं है, परन्तु जो कोई उसको जुआ खेलने को बुलाता है, उससे यह अवश्य खेलता है और खेल से निवृत्त नहीं होता है। और मैं जुआ खेलना बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ। इस खेल का जाननेवाला मेरे बराबर तीनों लोक में नहीं है। इस कारण तुम जुआ खेलने के लिये धर्मराज को शीघ्र बुलाओ। हे भाई! मैं बाज़ी लगाकर कह सकता हूँ, कि जो तुम युधिष्ठिर को मेरे साथ चौसर खेलने को प्रसन्न कर लो, तो मैं तुमको उनका साम्राज्य, वैभव और सभा आदि सब कुछ जीत दूँ। किन्तु पहले तुम अपने पिता के पास जाकर उनसे सब हाल कहो। उनसे अनुमति प्राप्त कर लो, तो फिर मैं युधिष्ठिर का सर्वस्व जीतकर तुमको दे सकता हूँ। यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—हे मामा! आप ही पिता जी के पास जाइए और यह सब हाल कहकर उनकी अनुमति ले आइए। मैं उनके आगे यह बात नहीं कह सकूँगा ॥१९।२३॥

—:*:—

सभापर्व का अड़तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

अथ एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच—अनुभूय च राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः ॥ १ ॥
प्रियकृन्मतमादाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥
शकुनिरुवाच—दुर्योधनो महाराज! विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप! ॥ ४ ॥

उनचासवां अध्याय ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! शकुनि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से लौटकर, दुर्योधन की प्रीति के कारण से, उक्त अध्याय में कही हुई रीति से दुर्योधन से सलाह करके, राजा धृतराष्ट्र के समीप, जो अन्धा और ज्ञानी था, गया और कहने लगा—हे महाराज! दुर्योधन अत्यन्त दुर्बल और पीला पड़ गया है। न जाने उसको क्या चिन्ता है। और किस शत्रु के प्रकट होने के कारण से वह ऐसा दुःखी

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसंभवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नाऽवबुध्यसे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—दुर्योधन ! कुतोमूलं* भृशमार्तोऽसि पुत्रक ! ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ! ॥ ६ ॥
अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव संभवम् ॥ ७ ॥
ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र ! त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाऽऽचरन्ति तवाऽप्रियम् ॥ ८ ॥
आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनाऽसि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥
शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्षः कस्माच्छोचसि पुत्रक ! ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच—अश्नाम्याच्छादये चाऽहं यथा कुपुरुषस्तथा ।

है। आपका यह ज्येष्ठ पुत्र है, आप भी उसके मन की चिन्ता को नहीं पूछते हैं ॥१।५॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बुलाकर कहा—हे पुत्र ! तुम अत्यन्त दुखी हो, इसका कारण क्या है। यदि मेरे आगे यह हाल कहने में कुछ रुकावट न हो, तो विशेष रूप से सब कहो। आज शकुनि के मुंह से मैंने सुना है, कि तुम दिन पर दिन दुर्बल और पीले पड़ते जा रहे हो। मैं बहुत सोच कर भी तुम्हारे इस दुःख और चिन्ता का कुछ कारण निश्चित नहीं कर पाता। देखो, यह विशाल राज्य और ऐश्वर्य तुम्हारे हाथ में है। भाइयों में कोई ऐसा नहीं, जो तुम्हारा कहना न मानता हो। सब बन्धु-बान्धव भी तुम्हारा प्रिय कार्य करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसके सिवाय पहनने को उत्तम वस्त्र, खाने-पीने को स्वादिष्ट वस्तुएँ, चढ़ने को सुन्दर सुन्दर घोड़े, सोने को उत्तम शयन, विहार करने को सुन्दरी स्त्रियाँ, रहने को दिव्य महल और क्रीड़ा करने को अनेक क्रीड़ा के स्थान मौजूद हैं। आज्ञा देते ही सब वस्तुएँ तुम पा जाते हो। फिर तुम्हारे इस मानसिक दुःख और चिन्ता का कारण क्या है? तुम्हारा ऐश्वर्य और प्रभुता असीम है। कहो, तुम्हारे इस संताप का क्या कारण है? ॥६।११॥

यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—हाँ, मैं कुपुरुष की भांति भोजन तो कर लेता हूँ और वस्त्र भी पहन

* कुत इति प्रथमार्थे तसिः । किंमूलमित्यर्थः ।

अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥
अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परजान्स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥
संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ! ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाऽश्नुते महत् ॥ १४ ॥
न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अतिज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥
सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेय ! श्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ।
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ।
दशाऽन्यानि सहस्राणि नित्यं तत्राऽन्नमुत्तमम् ॥ १८ ॥
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ।
कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ॥ १९ ॥
काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान् ।

लेता हूँ, परन्तु मुझको ऐसा भयानक क्रोध हो रहा है, कि उसके कारण से अब केवल अपने समय को ही पूरा कर रहा हूँ। संसार में वही मनुष्य पुरुष कहा जाता है, जो शत्रु के वश में होने पर भी शत्रु से निडर होकर, अपनी प्रजा को उस भय से छुड़ाने का प्रयत्न करे। जो मनुष्य संतोष, दया, गर्व और भय करता है, उसको लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है। मैं नित्य सुन्दर पदार्थों को भोगता हूँ, परन्तु युधिष्ठिर के वैभव के टाट से वह भोग मुझ को गुण नहीं करते हैं और शत्रुओं की वृद्धि और अपने को हीन देख देख कर, दिन प्रति दिन दुबला हो होकर पीला पड़ता जाता हूँ ॥१२।१७॥

देखो, युधिष्ठिर अट्ठासी हज़ार गृहस्थाश्रमी स्नातक ब्राह्मणों का पालन करता है। उसने प्रत्येक ब्राह्मण की सेवा के लिये तीस-तीस दासियां नियुक्त कर रक्खी हैं। इनके अतिरिक्त और भी दस हज़ार ब्राह्मण बड़े सुख से सुवर्ण के पात्रों में नित्य भोजन किया करते हैं। काम्बोज देश के राजा ने भेंट के तौर पर युधिष्ठिर के पास कदली जाति के मृगों के चित्र विचित्र सावर, बड़े कीमती कम्बल, तीन सौ ऊँट और सैकड़ों दासी, हाथी, खच्चर आदि भेजे हैं और सब राजाओं ने उसके स्थान पर आ-आकर अनेक रत्न भेंट किये हैं। तात्पर्य यह है, कि राजसूय यज्ञ में बड़ा भारी ऐश्वर्य पाण्डवों के हाथ लगा है। यज्ञ में आये हुए राजाओं

गजयोपिद्धवाऽश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २० ॥
त्रिशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २१ ॥
पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ! ।
आहरन्क्रतुमुख्येऽस्मिन्कुन्तीपुत्राय भूरिशः ॥ २२ ॥
न क्वचिद्धि मया तादृग्दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
यादृग्धनाऽऽगमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २३ ॥
अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ! ।
शर्म नैवाऽभिगच्छामि चिन्तयानो विशांपते ! ॥ २४ ॥
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २५ ॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एतद्धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २६ ॥
यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ॥ २७ ॥
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ।
शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा च मम तत्सर्वं ज्वररूपमिवाऽभवत् ।

ने जिन मूल्यवान् रत्नों के ढेर लाकर युधिष्ठिर को अर्पण किये हैं, वैसे रत्नों को मैंने कभी देखा सुना तक नहीं ॥१८।२३॥

हे महाराज ! पाण्डवों को इस प्रकार अपार ऐश्वर्य का अधिकारी होते देखकर ही मेरे हृदय में ऐसा कोलाहल मच गया है और मेरी बुरी दशा हो गयी है । देखो, खेती करनेवाले ब्राह्मण, गो पालक वैश्य और सैकड़ों और मनुष्य उस यज्ञ में तीन खर्व धन भेंट के लिये देने को हाथों में सुवर्ण के कलश लिये हुए द्वार पर खड़े रहे, परन्तु इतनी भेंट लाने पर भी भीतर न आने पाये । और वरुण देवता ने कांवड़ में अमृत रूपी जल से भरा हुआ काँस का पात्र, जो बहुत से रत्नों से भूषित था, रखवाकर युधिष्ठिर को भेंट करने के लिये भेज दिया । उसमें वह अमृतरूपी जल युधिष्ठिर के लिये इस प्रकार से भरा हुआ था, जैसे इन्द्र के लिये सम्पूर्ण औषधी अमृतरूपी रस धारण किये रहती हैं । उन रत्नों में से श्रीकृष्ण ने शङ्ख ले लिया और उससे वह जल भर-भर कर युधिष्ठिर का अभिषेक किया ॥२४।२८॥

इसी समय कांवड़ में पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के

गृहीत्वा तत्तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २९ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ! ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात ! पतत्रिणः ॥ ३० ॥
तत्र गत्वाऽर्जुनो दण्डमाजहाराऽमितं धनम् ।
इदं चाऽद्भुतमत्राऽऽसीत्तन्मे निगदतः श्रृणु ।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ॥ ३१ ॥
स्थापिता तत्र संज्ञाऽभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ।
मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ! ॥ ३२ ॥
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।
पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ॥ ३३ ॥
अशोभत महाराज ! नक्षत्रैर्द्यौरिवाऽमला ।
सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ! ॥ ३४ ॥
यज्ञे तस्य महाराज ! पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ।
वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः ॥ ३५ ॥
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
गुह्यकाधिपतेर्वाऽपि या श्री राजन्युधिष्ठिरे ॥ ३६ ॥

समुद्रों का जल मंगवाया गया। और उत्तर के समुद्र का जल भी जिसको देवताओं के सिवाय और कोई नहीं ला सकता है, उसी कांवड़ में युधिष्ठिर के लिये लाया गया। इन सब बातों को देखकर मेरे शरीर में शोक रूपी ज्वर हो आया। इसके सिवाय अर्जुन उत्तर दिशा को विजय करके बहुत सा धन और रत्न ले आया। और यह एक बड़ी अद्भुत बात थी, कि उस यज्ञ में एक लाख ब्राह्मण परोसने वाले थे और उनकी संख्या शंखध्वनि से मालूम हो जाती थी। उस शंख के शब्दों को सुन-सुनकर मेरे रोयें खड़े हो जाते थे ॥२९।३३॥

और जैसे निर्मल आकाश तारागणों के निकलने से सुशोभित हो जाता है, उसी प्रकार से यज्ञशाला के निकट के स्थान देश-देश के राजाओं से शोभित हो गये थे। वे राजा लोग युधिष्ठिर की सेवा में वैश्यों की तरह असंख्य धन-रत्न ले आये थे और नौकरों की तरह सब काम कर रहे थे। ब्राह्मणों को भोजन परोसना आदि सभी काम वे कर रहे थे। हे महाराज ! वर्णन करके सौभाग्य तथा लक्ष्मी का और अधिक परिचय आपको क्या दूँ। मुझे जान पड़ता है कि वैसा वैभव इन्द्र के यहां, यमराज के यहां, वरुण के यहां और कुबेर के यहां भी न होगा। हे पिता जी ! पाण्डवों का ऐसा सौभाग्य देखकर मेरी छाती फटी जाती है, कलेजा जला जाता है। इस कारण

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३७ ॥

शकुनिरुवाच—यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ! ॥ ३८ ॥
अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ! ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ३९ ॥
द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ४० ॥
नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ! ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४२ ॥
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्याऽस्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्याऽस्य विनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

मैं किसी तरह शान्ति नहीं पाता ॥३४।३७॥

दुर्योधन के ऐसे वचन सुनकर शकुनी ने फिर कहा—हे भाई ! इस लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये एक उपाय तो मैं जानता हूँ, कि मुझको जुआ खेलना बहुत अच्छी तरह आता है। मेरे बराबर इस काम में तीनों लोक में कोई नहीं है। मुझे पांसों को बनाकर फेंकना, उनके अनुसार दाँव लगाना और देश काल के अनुसार चाल को चलना बहुत अच्छी तरह से आता है। मैं जानता हूँ कि युधिष्ठिर को जुए का व्यसन अर्थात् शौक है, परन्तु उसे खेलना नहीं आता है। द्यूत या युद्ध के लिये बुलाने से उसे आना ही पड़ेगा। इसलिये तुम उसे द्यूतक्रीड़ा के लिये बुलाओ। मैं कपट से उसे जुए में हरा दूँगा और उसका सर्वस्व छीन लूँगा। उसका सब राज्य और धन तुमको मिल जायगा। तुम जुआ खेलने के लिये युधिष्ठिर को शीघ्र बुलाओ ॥३८।४१॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! शकुनि के इन वचनों से उत्साहित होकर दुर्योधन ने उसी समय धृतराष्ट्र से आज्ञा मांगते हुए कहा—हे पिता जी ! मामा ने जो कहा वही उपाय करने से मैं पाण्डवों की सौभाग्य-लक्ष्मी पा सकता हूँ। आप मुझे पाण्डवों को जुआ खेलने के लिये बुलाने की आज्ञा दीजिए। धृतराष्ट्र ने कहा—हे पुत्र ! विदुर मेरे मन्त्री हैं; उन से सम्मति लिये बिना मैं किसी तरह इस बारे में

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधन उवाच—निवर्तयिष्यति त्वाऽसौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र ! मरिष्येऽहमसंशयम् ॥ ४६ ॥
स त्वं मयि मृते राजन्विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच-आर्तवाक्यं तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत्प्रेष्यान्दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४८ ॥
स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥ ४९ ॥
ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ५० ॥
दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज ! प्राहिणोद्विदुराय वै ॥ ५१ ॥
अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत्कश्चिद्विनिश्चयः ।
द्यूते दोषांश्च जानन्स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ५२ ॥

आज्ञा नहीं दे सकता । विदुर से सम्मति करके मैं पहले निश्चय कर लूँ, कि इस बारे में करना क्या है, क्योंकि विदुर वही सम्मति देंगे, जिससे दोनों पक्षों का भला हो और मेरा अभीष्ट भी यही है। यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी ! पाण्डवों को जुआ खेलने के लिये बुलाने की सम्मति विदुर आपको कभी न देंगे। उनसे सम्मति करके यदि आप इस बारे में कुछ निश्चय करेंगे, तो मेरा मनोरथ पूरा न होगा । वे आप को इस काम से रोक सकते हैं । इस बारे में यदि आप मुझे आज्ञा न देंगे,तो मैं अपने प्राण दे दूँगा । मेरे मरने पर आप विदुर जी के साथ अच्छी तरह आनन्दपूर्वक पृथ्वी का राज्य भोग सकेंगे ॥४२।४७॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की इस पीड़ायुक्त और नम्र बात को सुनकर उसके दुःख को दूर करने के लिये दूतों और कारीगरों को बुलाकर आज्ञा दी, कि तुम लोग बहुत जल्दी एक रमणीक सभा,जिसमें हज़ार खम्भे और सौ द्वार हों, बनाओ । सब लोगों के मन को हरनेवाला वह सभामण्डप स्थान स्थान पर अमूल्य रत्नों से सुशोभित किया जाय । भवन तैयार हो जाने पर मुझे सूचना दो ॥४८।५०॥

दुर्योधन के सन्तोष के लिए नौकरों को यह आज्ञा देकर धृतराष्ट्र ने विदुर को बुला लाने के

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान्कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५३ ॥
सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

विदुर उवाच—नाभिनन्दामि ते राजन् ! व्यवसायमिमं प्रभो ! ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच — क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति ।
यदि देवा प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥ ५६ ॥
अशुभं वा शुभं वाऽपि हितं वा यदि वाऽहितम् ।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५७ ॥
मयि सन्निहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत ! ।
अनयोर्दैवविहितो न कथंचिद्भविष्यति ॥ ५८ ॥
गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे ।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ५९ ॥
न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद्ब्रवीमि ते ।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥ ६० ॥

लिये मनुष्य भेजे। क्योंकि उन्होंने विदुर की सम्मति लिये बिना अभी तक कोई भी काम नहीं किया था। धृतराष्ट्र जानते थे, कि द्यूत-क्रीड़ा सब दोषों की खान है। उस समय केवल पुत्र स्नेह के मारे उन्होंने वैसी आज्ञा दे दी थी। तात्पर्य यह है, कि वे विदुर से सम्मति लिये बिना कोई काम करना नहीं चाहते थे। इसी कारण उन्होंने विदुर को बुलाने के लिये दूत भेजा। उससे सब वृत्तान्त सुनकर विदुर ने सोचा, कि क्लेश और फूट का मैदान खुल गया, सर्वनाश की जड़ निकल आई। वे शीघ्र से धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। उनके पांव छूकर विदुर ने कहा—हे महाराज ! आपने जिस काम की आज्ञा दे दी है, उसका मैं अनुमोदन नहीं कर सकता। जिस काम के करने से पुत्रों में परस्पर विरोध पैदा हो, उसे करने की आज्ञा देना बड़े लोगों को उचित नहीं ॥५१।५५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! भाग्य यदि हमारे प्रतिकूल न हो, तो भाइयों में क्यों विरोध उत्पन्न होगा ? द्यूत अशुभ हो या शुभ, हितकारक हो या अहितकारक, तुम इसकी चिन्ता न करो। तुम्हारे और भीष्म तथा द्रोणाचार्य के बैठने पर, कोई अनीति दैव की रची हुई भी न होने पावेगी। तुम जल्दी चलनेवाले घोड़ों को रथ में जोतकर आज ही इन्द्रप्रस्थ को जाओ और युधिष्ठिर को अपने साथ ले

इत्युक्तो विदुरो धीमान्नेदमस्तीति चिन्तयन् ।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत्सुदुःखितः ॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

आओ। हे विदुर! इसे तुम मेरा विचार या इच्छा मत समझो। यह घटना दैव की प्रेरणा से हुई है। यह सुनकर विदुर ने मन ही मन में कहा, कि अब कौरवों और पाण्डवों का सर्वनाश होगा। यह विचार कर महात्मा विदुर दुःखित होते हुए बुद्धिमान् वृद्ध भीष्मपितामह के पास गये ॥५६।६१॥

सभापर्व का उनचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

जनमेजय उवाच—कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम् ।
यत्र तद् व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥
के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम ! ।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ॥ २ ॥
विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ! ।
मूलं ह्येतद्विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ! ॥ ३ ॥
सौतिरुवाच—एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
आचचक्षेऽथ यद् वृत्तं तत्सर्वं वेद तत्त्ववित् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम ! ।
भूय एव महाराज ! यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥
विदुरस्य मतं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।

पचासवां अध्याय ॥ ५० ॥

यह सुनकर अब जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ! जिस जुए के प्रभाव से पितामह पाण्डवों की ऐसी शोचनीय दशा हुई, भाइयों में फूट पड़ गई और उससे बड़ा भारी अनर्थ उठ खड़ा हुआ, वह जुआ किस तरह हुआ था? उस द्यूत-सभा में किस-किस ने उस खेल का अनुमोदन किया था, और किन-किन महात्माओं ने द्यूत-क्रीड़ा का विरोध किया था? कृपा करके यह सब वृत्तान्त कहकर मेरे चित्त को शांत कीजिए। पृथ्वी भर के क्षत्रियों के नाश का कारण यही द्यूत था। सूत-पुत्र सब ऋषियों से कहते हैं, कि राजा जनमेजय का आग्रह देखकर सब वेदों और वेदाङ्गों के ज्ञाता, व्यास के शिष्य वैशम्पायन विस्तारपूर्वक सब वृत्तांत कहने लगे ॥१।४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! उस द्यूत क्रीड़ा का वृत्तान्त सुनने की इच्छा यदि बहुत ही प्रबल

दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥
अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति ।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७ ॥
हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत्प्रभाषते ।
क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥
देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते ।
यत्प्राह शास्त्रं भगवान्बृहस्पतिरुदारधीः ।
तद्वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ॥ ९ ॥
स्थितस्तु वचने तस्य सदाऽहमपि पुत्रक ! ।
विदुरो वाऽपि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ॥ १० ॥
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामार्चितो नृप ! ।
तदलं पुत्र ! द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ॥ ११ ॥
भेदे विनाशो राज्यस्य तत्पुत्र ! परिवर्जय ।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद्वै कार्यं परं स्मृतम् ॥ १२ ॥
प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम् ।
अधीतवान्कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ॥ १३ ॥

हो, तो सुनो। विदुर के अभिप्राय को अच्छी तरह जानकर महाराज धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को फिर एकांत में बुलाकर कहा—हे पुत्र ! विदुर को यह द्यूत-क्रीड़ा बिलकुल नापसन्द है। इसलिए इसकी आवश्यकता नहीं। बुद्धिमान् विदुर हमारे अहित की बात कभी न कहेंगे। इसलिए हे पुत्र ! मैं अनुरोध करता हूं कि तुम विदुर की सम्मति मान लो॥५।८॥

हे पुत्र ! असाधारण बुद्धिमान् और नीतिज्ञ बृहस्पति जैसे इन्द्र को कभी कोई खोटी सलाह नहीं देते, वैसे ही नीतिज्ञ विदुर कभी मुझे खोटी सलाह न देंगे। जिस प्रकार विदुर जी सब शास्त्रों के मन को जानने के कारण से बड़े बुद्धिमान् और कौरवों में श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार से उद्धव भी अपनी बुद्धि के कारण से वृष्णिवंशियों में पूजित रहते हैं और सब उनकी सम्मति के अनुसार काम करते हैं। वे इस जुए के खेल को अनिष्ट का कारण बतलाकर मना करते हैं, इसलिये जुआ खेलने की आवश्यकता नहीं। जुए का खेल मित्रों में-आत्मीयों में-फूट पैदा कर देता है। फूट पैदा होने से असमय में ही सब राज्य और ऐश्वर्य मिट जाता है। इसलिए तुम जुआ खेलने का विचार छोड़ दो ॥९।१२॥

पुत्र के प्रति माता-पिता का जो कर्तव्य है, उसे मैं बराबर करता आया हूं। बालकपन में बड़े यत्न और स्नेह के साथ तुम्हारा पालन किया, तुम्हें

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम् ।
पृथग्जनैरलभ्यं यद्भोजनाऽऽच्छादनं परम् ॥ १४ ॥
तत्प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक ! ।
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो ! पितृपैतामहं महत् ॥ १५ ॥
नित्यमाज्ञापयन्भासि दिवि देवेश्वरो यथा ।
तस्य ते विदितप्रज्ञ ! शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १६ ॥
दुर्योधन उवाच-अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन्पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १७ ॥
न मां प्रीणाति राजेन्द्र ! लक्ष्मीः साधारणी विभो ! ।
ज्वलितामिव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥
सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद् ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥
आवर्जिता इवाऽऽभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥

पढ़ाया-लिखाया। मैंने तुमको बुद्धिमान् और विद्वान् जानकर सब पुत्रों में बड़े होने के कारण, युवराज की गद्दी भी दे दी। और पहनने को उत्तम वस्त्र, और खाने को उत्तम भोजन, और संसार में ऐसे अलभ्य पदार्थ, जिनका मिलना दूसरे को दुर्लभ है, तुम्हारे लिये भोगने को भी मौजूद है,फिर तुम वृथा मौन क्यों कर रहे हो ? अब तो तुम्हें चाहिये, कि बाप-दादे के विशाल राज्य के स्वामी होकर और अपने बाहु-बल से उसे बढ़ाकर इन्द्र की तरह प्रजा का पालन करते रहो ॥१३।१६॥

पिता के यह कहने पर, दुर्योधन ने कहा- 'पिता जी ! मैं अत्यन्त नराधम हूं। इसी कारण शत्रुओं का अभ्युदय देखकर भी अत्यन्त निस्तेज-भाव से अपना पेट पालता रहता हूं। विद्वानों ने कहा है, कि शत्रु की बढ़ोतरी देखकर भी उसके प्रतिकार का उपाय न कर, केवल विषय भोग में डूबे रहना, बड़े ही कायर का लक्षण है। मैं यदि तेज से हीन कायर न होता, तो फिर युधिष्ठिर की राज-लक्ष्मी को जगमगाते देखकर भी कुछ उपाय क्यों न करता ? दिन पर दिन सारी पृथ्वी पर युधिष्ठिर का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है, यह देखकर मुझे जीने की बिलकुल चाह नहीं है। हृदय अत्यन्त कठोर होने के कारण ही मैं अभी तक जीवित हूं ॥१७।१९॥

देखिए, युधिष्ठिर के भवन में कदम्ब, चित्रक, कौकुर, कारस्कर, और लोहजङ्घ आदि बहुमूल्य

हिमवत्सागराऽनूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥
ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशांपते ! ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २२ ॥
उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।
नाऽदृश्यत परः पारो नाऽपरस्तत्र भारत ! ॥ २३ ॥
न मे हस्तः समभवद्वसु तत्प्रतिगृह्णतः ।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २४ ॥
कृतां विन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यन्नलिनीं पूर्णामुदकस्येव ‌ारत ! ॥ २५ ॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत्स ‌कोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं र ‌विवर्जितम् ॥ २६ ॥
तत्र स्म यदि शक्तः स्यां ‌तयेऽहं वृकोदरम् ।
यदि कुर्यां समारम्भं भीए ‌हन्तुं नराधिप ! ॥ २७ ॥
शिशुपाल इवाऽस्माकं ‌तः स्यान्नाऽत्र संशयः ।
सपत्नेनाऽवहासो मे ‌मां दहति भारत ! ॥ २८ ॥

विचित्र वृक्ष, आज्ञाकारी की तरह, खड़े हुकर, पाण्डव युधिष्ठिर ने मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ सकरने बड़े सत्कार के साथ, आये हुए रत्नों को आये का काम सौंपा था। वहां इतने अधिक थी। थे, कि उनकी गिणती नहीं की जा सभेंट लाये अनेक देशों से आये हुए राजा लोग इक गया। थे, कि उसे खज़ाने में रखते-रखते मैंाट देखनी बहुत लोगों को द्वार पर खड़े रहकर२४॥ पड़ी, कि मैं आकर उनसे रत्न लूं ॥२५ जो बड़े हे पिता जी ! मयदानव, विन्दु सरोवभा-भवन अद्भुत रत्न लाया था, उन्हीं को उसनेया है। बनाते समय, उसमें स्थान स्थान पर लग

सभा के बीच मयदानव ने, स्वच्छ जल से भरे हुए सरोवर का धोखा देनेवाला, एक ऐसा फर्श बनाया है, कि वहा पर सचमुच मुझे तालाब का भ्रम हो गया। मैने वहा यह समझकर, कि जल भरा हुआ है, अपने कपड़े समेट लिये। यह देखकर भीमसेन बड़े ज़ोर से हँसने लगा। उसने ऐसा भाव प्रकट किया, जैसे मैं शत्रु की समृद्धि देखने से मूढ़ हो रहा हूँ और मैने कभी रत्न नहीं देखे हैं। लाचार होकर मुझे भीमसेन का किया यह उपहास सह लेना पड़ा। उस समय मुझे जैसा क्रोध चढ आया था, उसी के अनुसार यदि मैं भीमसेन को मारने की चेष्टा करता, तो मुझे भी शिशुपाल की तरह अकाल

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम् ।
पृथग्जनैरलभ्यं यद्भोजनाऽऽच्छादनं परम् ॥ १४ ॥
तत्प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक ! ।
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो ! पितृपैतामहं महत् ॥ १५ ॥
नित्यमाज्ञापयन्भासि दिवि देवेश्वरो यथा ।
तस्य ते विदितप्रज्ञ ! शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १६ ॥
दुर्योधन उवाच–अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन्पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १७ ॥
न मां प्रीणाति राजेन्द्र ! लक्ष्मीः साधारणी विभो ! ।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥
सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् - ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद्ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥
आवर्जिता इवाऽऽभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥

पढ़ाया-लिखाया । मैंने तुमको बुद्धिमान् और विद्वान् जानकर सब पुत्रों में बड़े होने के कारण, युवराज की गद्दी भी दे दी । और पहनने को उत्तम वस्त्र, और खाने को उत्तम भोजन, और संसार में ऐसे अलभ्य पदार्थ, जिनका मिलना दूसरे को दुर्लभ है, तुम्हारे लिये भोगने को भी मौजूद है,फिर तुम वृथा सोच क्यों कर रहे हो ? अब तो तुम्हें चाहिये, कि बाप-दादे के विशाल राज्य के स्वामी होकर और अपने बाहु-बल से उसे बढ़ाकर इन्द्र की तरह प्रजा का पालन करते रहो ॥१३।१६॥

पिता के कह चुकने पर, दुर्योधन ने कहा–हे पिता जी ! मैं अत्यन्त नराधम हूं । इसी कारण शत्रुओं का अभ्युदय देखकर भी अत्यन्त निश्चिन्त-भाव से अपना पेट पालता रहता हूं । विद्वानों ने कहा है, कि शत्रु की बढ़ोतरी देखकर भी उसके प्रतिकार का उपाय न कर, केवल विषय भोग में डूबे रहना, बड़े ही कायर का लक्षण है । मैं यदि तेज में हीन कायर न होता, तो फिर युधिष्ठिर की राज-लक्ष्मी को जगमगाते देखकर भी कुछ उपाय क्यों न करता ? दिन पर दिन सारी पृथ्वी पर युधिष्ठिर का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है, यह देखकर मुझे जीने की बिलकुल चाह नहीं है । हृदय अत्यन्त कठोर होने के कारण ही मैं अभी तक जीवित हूं ॥१७।१९॥

देखिए, युधिष्ठिर के भवन में कदम्ब, चित्रक, कौकुर, कारस्कर, और लोहजङ्घ आदि बहुमूल्य

से कहा-हे राजा धृतराष्ट्र के पुत्र ! इधर से दरवाज़ा है। इसके सिवाय मैंने उस सभा में वे रत्न देखे, जिनके नाम भी नहीं सुने थे। इस लिये हे पिता जी ! इन सब कारणों से मैं अत्यन्त दुःखी हो रहा हूँ ॥३२।३६॥

सभापर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

अथ अर्थैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच—यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ! ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥
नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाऽहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो वाऽपि प्रतिपद्यस्व भारत ! ॥ २ ॥
और्णान्बैलान्वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥ ३ ॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् ।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥
गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाराज ! धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ॥ ६ ॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ ७ ॥
शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम्

इक्यावनवां अध्याय ॥ ५१ ॥

दुर्योधन ने कहा-हे पिता जी ! पाण्डवों की सभा में मैंने जिस-जिस देश के राजा को क्या क्या वस्तुएँ लाकर भेंट में देते देखा है, सो कहता हूँ, सुनिए। हे महाराज ! शत्रु का वह धन देखकर मेरी बुद्धि जाती रही और मैं अपने को भूल गया; अब यह सुनिए, कि किस किस देश से कितना धन आया था। काम्बोज देश के राजा ने भेड़, मूषक और बिल्ली आदि के रोमों से बने, सुवर्ण जाल से मढ़े, मृगछाल, अच्छे-अच्छे वस्त्र और छाल, तीतर पक्षी के समान चितकबरे तथा शुकवर्ण नाकवाले तीन सौ घोड़े, और पीलु, शमी तथा इंगुद के वृक्षों के पत्तों को खाने के कारण से पुष्ट तीन सौ ऊँटनी दी थीं ॥१।४॥

हे महाराज ! हजारों गौ-सेवा करनेवाले ब्राह्मण और शूद्र, धर्मराज युधिष्ठिर को प्रसन्न करने के लिये, तीन खर्व उपहार लेकर आये थे और वहाँ भीड़ के मारे भीतर घुस न सकने के कारण, द्वार पर ही खड़े

श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाऽऽभरणभूषिताः ।
शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ॥ ८ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज ! हयान्गान्धारदेशजान् ॥ ९ ॥
इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ १० ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह ।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ११ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु ।
कम्बलान्विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥
प्राग्ज्योतिषाऽधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १३ ॥
आजानेयान्हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १४ ॥
अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाऽधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥ १५ ॥

थे । खेती आदि करनेवाले, गौ पालनेवाले सैकड़ों ब्राह्मण घी से भरे सुवर्ण के घड़े हाथ में लिये, राह न मिलने के कारण, बाहर ही खड़े हुए थे । समुद्र तट के निवासी राजाओं ने आकर कार्पासिक देश की, सोलह वर्ष की अवस्थावाली, श्यामवर्ण, सूक्ष्म अङ्ग अर्थात् पतली देह की, बड़े-बड़े बालोंवाली, सोने के गहनों से अलङ्कृत हजारों दासियां लाकर अर्पण कीं; ब्राह्मणों के पहनने योग्य रंकु नाम के मृग की खालें और गान्धार देश के विचित्र रङ्गवाले घोड़े लाकर भेंट किये ॥५।१०॥

समुद्र के उस पार या किनारे पर रहनेवाले अन्य जङ्गली लोगों ने और जिन देशों में वर्षा के पानी से खेती होती है, तथा जिन देशों में कुएं-नहर आदि की सिंचाई से खेती होती है, उन देशों के रहनेवाले वैराम, पारद, आभीर, कितव आदि जातियों के लोगों ने भी नाना प्रकार के रत्न, सुवर्ण, भेड़, बकरी, गाय, ऊंट आदि पशु, फल-फूल, फूलों का शहद और मूल्यवान् कम्बल आदि सामग्रियां लाकर भेंट कीं । इन लोगों को भी, भीड़ के कारण, भीतर घुसने का अवसर नहीं मिला; सब द्वार पर ही खड़े थे । इनके सिवाय प्राग्ज्योतिषपुर का राजा भगदत्त जो म्लेच्छों का अधिपति और महारथी है, यवनों को साथ लिये हुए आजानेय जाति के बड़े शीघ्र चलनेवाले घोड़े आदि अनेक प्रकार की भेंट

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षाँल्ललाटाक्षान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान्पुरुषादकान् ॥ १६ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १७ ॥
कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभान्दूरपातिनः ।
आजन्हुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ १८ ॥
प्रमाणरागसंपन्नान्वङ्क्षुतीरसमुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ १९ ॥
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ।
इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान्मनोजवान् ॥ २० ॥
तथैवेन्द्रायुधनिभान्सन्ध्याभ्रसदृशानपि ।
अनेकवर्णानारण्यान्गृहीत्वाऽश्वान्महाजवान् ॥ २१ ॥
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ।
चीनाञ्छकांस्तथा ओड्रान्बर्बरान्वनवासिनः ॥ २२ ॥
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा ।
नीपानूपानधिगतान्विविधान्द्वारवारितान् ॥ २३ ॥
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।

ले-लेकर आया परन्तु राह न मिलने के कारण वह भी द्वार पर खड़ा था ॥११।१४॥

द्वार पर भारी भीड़ देख विवश होकर भगदत्त ने मूल्यवान् जड़ाऊ गहने तथा सोने और हाथी-दाँत की मूठ लगी हुई उत्तम तलवारें भेज दीं और स्वयं अपने देश को चला गया । हे महाराज! इनके अतिरिक्त और बहुतेरे राजाओं को मैंने भीड़ के कारण बाहर द्वार पर ही खड़े देखा है। दो आखों-वाले, तीन आखोंवाले, माथे पर आखवाले, औष्णीक, अन्तवासी, रोमक और नरभक्षक तथा एक ही पैर-वाले, विचित्र आकारवाली जातियों के लोग भी देख पड़ते थे । वे काली गर्दनवाले, लम्बे-चौड़े डील के, दूरगामी, सुशिक्षित दस हज़ार खच्चर भेंट लेकर आये थे । वंक्षु नदी के किनारे रहनेवाले लोग भेंट के लिये बहुत सा सुवर्ण, चांदी आदि लाये थे ॥१५।१९॥

एक पैरवाले लोग बीरबहूटी के रङ्ग के, गुलाबी, श्वेत, इन्द्रधनुष और सन्ध्याकाल के मेघ के रङ्ग के तथा अन्य विविध रङ्गों के, वायुगामी जङ्गली घोड़े और बहुत सा सोना भेंट में लेकर आये थे । चीन शक, ओड्र, बर्बर, बनवासी, हारहूण, कृष्ण-हिमाचलवासी, नीप और अनूप देशों के मनुष्य महामूल्य रत्न लेकर युधिष्ठिर की सेवा में आये थे । वे भी

कृष्णग्रीवान्महाकायान्रासभाञ्छतपातिनः ॥ २४ ॥
अहार्षुर्दशसाहस्रान्विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ।
प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं वाह्लीचीनसमुद्भवम् ॥ २५ ॥
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ।
कुटीकृतं तथैवाऽत्र कमलाभं सहस्रशः ॥ २६ ॥
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ।
निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ॥ २७ ॥
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशूञ्छितान् ।
रसान्गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ॥ २८ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ॥ २९ ॥
महागजान्दूरगमान्गणितानर्बुदान्हयान् ।
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसंमितम् ॥ ३० ॥
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ॥ ३१ ॥
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ।
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ॥ ३२ ॥

सभा के द्वार पर रोके जाने के कारण से खड़े रहे। ये काली गर्दनवाले, बड़े-बड़े, सौ कोस तक दौड़नेवाले दस हजार खच्चर, राङ्कव नाम मृगचर्म, रेशमी दुशाले, उत्तर देश के बने हुए अनेक प्रकार के रेशमी गुच्छे लगे हुए चित्र-विचित्र ऐसे चिकने वस्त्र, जिनमें सूत की बनावट मालूम नहीं पड़ती थी, भेड़ों के रोम के बने हुए कम्बल, सावर, तीक्ष्ण धारवाली बड़ी-बड़ी तलवारें, दुधारा खड्ग, शक्ति, परश्वध, पश्चिम देश के बने हुए फरसे, अनेक प्रकार के रस और बहुत से रत्न ले-लेकर आये थे, परन्तु भीट के कारण बाहर द्वार पर ही खड़े रहे ॥२०।२८॥

शक, तुषार, कङ्क, रोमश और सींग रखनेवाले अनेक देशों के मनुष्य, बड़ी-बड़ी दूर जानेवाले गजराज, अर्बुद घोड़े और सुवर्ण आदि अनेक वस्तुएँ लेकर युधिष्ठिर के यहां आये थे, परन्तु भीतर जाने की उन लोगों को भी आज्ञा न मिली, द्वार पर ही खड़े रहे। पूर्व देश के राजा लोग महामूल्य सवारियां, आसन, पलंग, पोशाक, बहुमूल्य मणियों और मोतियों से शोभित हाथी-दांत के बने विचित्र कवच, विविध शस्त्र, सुशिक्षित घोड़ों से युक्त और सोने तथा व्याघ्रचर्म से शोभित रथ, विचित्र हाथी, कम्बल, बहुत से रत्न, नाराच बाण, अर्द्धनाराच

रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
हयैर्विनीतैः संपन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ॥ ३३ ॥
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ।
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ॥ ३४ ॥
एतद्दत्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ।
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

वाण, और अन्य अनेक प्रकार की श्रेष्ठ वस्तुए लेकर धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित हुए थे और भीड़ के मारे घुस न सकने के कारण बाहर ही खड़े थे ॥२९।३५॥

सभापर्व का इक्यावनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५२ ॥

दुर्योधन उवाच—दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ! ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत्पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥
कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥

बावनवा अध्याय ॥ ५२ ॥

दुर्योधन ने कहा—हे महाराज ! उन लोगों के सिवाय और जिन जिन राजाओं ने 'कर' के रूप में युधिष्ठिर को यज्ञ के लिये बहुत सा धन और रत्न लाकर दिये, उनका भी वृत्तान्त मैं कहता हू,सुनिए। खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, कुलिन्द तगण, परतगण आदि नाम के पहाड़ी देशों के राजा लोग जो मेरु और मन्दर पर्वतों के बीच में बहनेवाली शैलोदा नदी के दोनों किनारों पर कीचक और वेणु नाम बाँसों की छाया में रहते हैं, नम्रतापूर्वक युधिष्ठिर को भेंट करने के लिए एक द्रोण पिपीलिका संचित सुवर्ण और काले तथा लाल रङ्ग के चवर और शुक्र आदि मणि, जिनका प्रकाश

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाऽप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चाऽन्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥
ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।
कारूपे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ! ॥ ९ ॥
चन्दनाऽगुरुकाष्ठानां भारान्कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ १० ॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशांपते ! ।
आहृत्य रमणीयाऽर्थान्दूरजान्मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥
कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा ।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १३ ॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिवित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः ॥ १४ ॥

चन्द्रमा के समान था और हिमालय पर्वत के पुष्पों के मधु, उत्तर कुरु देश से जलवाहित विचित्र मालाएं और कैलास पर्वत के उत्तर ओर की बड़ी बल करनेवाली औषधियां और अन्य बहुत प्रकार की वस्तुएँ ले-लेकर आये और रोके जाने के कारण से सब पदार्थ लिये द्वार पर खड़े रहे ॥१।७॥

हिमालय पहाड़ के परार्द्ध और उदयाचल, कारूप देश के समुद्र तट के निवासी और लौहित्य पर्वत के पास रहनेवाले राजा लोग जो फल और मूल खाने, चमड़े के वस्त्र पहनते हैं और क्रूर शस्त्रधारी तथा क्रूरकर्म्मा कहलाते हैं, उनको भी मैंने देखा, कि चंदन अगुरु, कृष्णागुरु आदि काष्ठों के भार और चर्म, रत्न, सुवर्ण, अनेक प्रकार के सुगन्ध देनेवाले पदार्थ, दस हजार दासिया, दूर-दूर के मृग, पक्षी और अनेक प्रकार के पहाड़ी पदार्थों को लिये हुए युधिष्ठिर के द्वार पर खड़े हुए थे ॥८।१२॥

और किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लीक, काश्मीर, कुमार, घोरक,

अम्बष्ठाः कौकुरास्ताक्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥
पौण्ड्काः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशांपते ! ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥ १६ ॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः ।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १७ ॥
वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सुपुण्ड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥ १८ ॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत ! ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥ १९ ॥
ईषादन्तान्हेमकक्षान्पद्मवर्णान्कुथावृतान् ।
शैलाभान्नित्यमत्तांश्चाऽप्यभितः काम्यकं सरः ॥ २० ॥
दत्त्वैकैको दशशतान्कुञ्जरान्कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तथा ॥ २१ ॥
एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २२ ॥
राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।

हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, मद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, ताक्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, पौण्ड्रक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य और गय आदि देशों के कुलीन और शस्त्रधारी क्षत्रियों ने सैकड़ों प्रकार के धन ला-लाकर युधिष्ठिर को भेंट किये ॥१३।१७॥

वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरिक, पत्रोर्ण, शैशव और कर्णप्रावरण आदि देशों के राजा लोग युधिष्ठिर के द्वार पर आकर खड़े रहे। युधिष्ठिर ने उन सब को एक-एक करके द्वारपालों के हाथों से बुलवाया। वे लोग भेंट में पहाड़ ऐसे ऊँचे, लम्बे दाँतों और सुनहरी झूलों से शोभित, अच्छी जाति के मदवाले एक हज़ार हाथी देकर बारी-बारी से भीतर जाने पाये। वे हाथी काम्यक सर के समीप देश के थे, और उनपर कवच पड़े थे। कहा तक कहूँ, इसी तरह असंख्य राजा-महाराजा श्रेष्ठ और मनोहर भेंट की वस्तुएँ ले-लेकर यज्ञशाला में आये थे। ॥१८।२२॥

शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥ २३ ॥
तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामदद्धेममालिनाम् ॥ २४ ॥
कृती राजा च कौरव्य ! शूकराणां विशांपते ! ।
अददद्गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥ २५ ॥
विराटेन तु मत्स्येन वल्यर्थं हेममालिनाम् ।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥ २६ ॥
पांशुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् ।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन्! काञ्चनमालिनाम्॥ २७ ॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप ! ।
वलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥ २८ ॥
यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश ।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशांपते ! ॥ २९ ॥
(अददद्गजरत्नानां शतानि च बहूनि च) ।
गजयुक्ता महाराज ! रथाः षड्विंशतिस्तथा ।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ॥ ३० ॥
वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन्किरीटिनः ।

हे महाराज ! इनके अतिरिक्त इन्द्र के सखा गन्धर्वों के राजा चित्ररथ ने चार सौ ऐसे घोड़े, जो वायु के समान चलते थे, दिये । तुम्बुरु नाम गन्धर्व ने एक सौ घोड़े जिनका रङ्ग आम्र के पत्तों के सदृश था, और प्रत्येक घोड़े के गले में एक-एक सुवर्ण का हार पड़ा हुआ था; युधिष्ठिर को भेंट किये । शूकर देश के राजा ने कई सौ उत्तम गजराज दिये । मत्स्य देश के राजा विराट ने दो हज़ार मस्त हाथी, जिनके गले में सुवर्ण की माला पड़ी हुई थीं, देकर युधिष्ठिर को प्रसन्न किया ॥२३।२६॥

हे पिता जी ! पांशु देश के वसुदान नाम राजा ने छब्बीस हाथी और कांचन माला धारी दो हज़ार घोड़े, जो जवान और बलवान् और शीघ्रगामी थे, युधिष्ठिर को भेंट किये । उस यज्ञ में राजा द्रुपद ने उपहार के तौर पर चौदह हज़ार दास-दासी, स्त्रियों-सहित दस हज़ार सेवक और असंख्य हाथी-घोड़े और हाथियों-सहित छब्बीस रथ युधिष्ठिर को दिये और कहा कि पाण्डवों के यज्ञ के लिये मैं अपना सब राज्य देता हूँ । और अर्जुन का मान रखने के लिये उसके परम मित्र श्रीकृष्ण ने भी चौदह हज़ार मस्त गजराज दिये । वास्तव में श्रीकृष्ण की अर्जुन के साथ ऐसी गहरी मित्रता है, कि जो अर्जुन कहे

अददद्गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश ॥ ३१ ॥
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्याऽऽत्मा धनंजयः ।
यद्ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् ॥ ३२ ॥
कृष्णो धनञ्जयस्याऽर्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् ॥ ३३ ॥
सुरभींश्चन्दनरसान्हेमकुम्भसमास्थितान् ।
मलयाद्दर्दुराच्चैव चन्दनाऽगुरुसंचयान् ॥ ३४ ॥
मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ।
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ ॥ ३५ ॥
समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासंघांस्तथैव च ।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ॥ ३६ ॥
संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ।
तान् गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३७ ॥
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ।
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ॥ ३८ ॥
प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन्युधिष्ठिरम् ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा ॥ ३९ ॥

यह बात श्रीकृष्ण अवश्य करेंगे। अर्जुन के लिये श्रीकृष्ण स्वर्ग का राज्य भी छोड दे सकते हैं और कृष्ण के लिए अर्जुन अपने प्राण तक अर्पण कर सकते है ॥२७।३३॥

मलयगिरी और दर्दुर पर रहनेवाले चोलराज और पाण्डयराज ने सुगन्धित चन्दन के रसों से भरे हुए सुवर्ण के कलश, तरह-तरह के चमकीले मणि-रत्न, अगुरु और चन्दन के भार, सुनहरे तारों से बुने हुए महीन कपड़े युधिष्ठिर को भेंट किये, परन्तु भीड के कारण वे द्वार पर भी न पहुचने पाये। सिंहल देश के क्षत्रिय, समुद्र में उत्पन्न होनेवाली वस्तुएं वैडूर्यमणि, मोतियों की लडियें और श्रेष्ठ कम्बल आदि उपहार लेकर यज्ञ देखने आये थे। सैंकड़ों राजा लोग ऐसी मूल्यवान् सामग्रिया लाने पर भी, द्वार पर ही रोक लिये गए थे और वहीं खडे थे ॥३४।३७॥

अधिक क्या कहू, उपहार देनेवालों में मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आर शूद्र, चारों वर्णों के लोग देख पड़ते थे। प्रीति और सम्मान के साथ म्लेच्छ जाति के राजा भी 'कर' लेकर युधिष्ठिर की सभा में आये थे। सब जातियों और सब देशों के राजा लोगों के आने से ऐसा जान पड़ता था, कि सारा

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ।
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४० ॥
उच्चाऽवचानुपग्राहान्राजभिः प्रापितान्बहून् ।
शत्रूणां पश्यतो दुःखाद्मुमूर्षा मे व्यजायत ॥ ४१ ॥
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ! ।
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः ॥ ४२ ॥
अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ।
रथानामर्बुदं चाऽपि पादाता बहवस्तथा ॥ ४३ ॥
प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ।
विसृज्यमानं चाऽन्यत्र पुण्याहस्वन एव च ॥ ४४ ॥
नाऽभुक्तवन्तं नापीतं नाऽलंकृतमसत्कृतम् ।
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४५ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ।
सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥ ४६ ॥
दशाऽन्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।

संसार मानों एक ही जगह पर सिमटकर आ गया है। अनेक देशों और दिशाओं से राजाओं ने आकर जो धन-रत्न का ढेर लगा दिया, उसे देखकर मुझे इतना दुःख हुआ कि मैं मुर्दार हो गया हूं ॥३८।४१॥

हे पिता जी ! अब मैं युधिष्ठिर के नौकरों-चाकरों का और वहां के खाने-पिलाने के प्रबन्ध का वर्णन करता हूं—सुनिए। उसके यहां तीन पद्म अयुत हाथियों और घोड़ों के सवार हैं। एक अर्बुद रथी हैं और पैदल सेना तो इतनी है कि उसकी गिनती करना बहुत ही दुष्कर है। मैंने देखा, यज्ञ के स्थान में कहीं खाने-पीने का कच्चा सामान तोल-तोलकर दिया जा रहा है, कहीं अन्न पकाया जा रहा है, और कहीं भोजन करनेवालों के आगे परोसा जा रहा है। चारों ओर ऐसा कोलाहल हो रहा है, कि कान नहीं दिया जाता। सब जगह पुण्याहपाठ हो रहा है। मैंने युधिष्ठिर के घर में किसी वर्ण के किसी मनुष्य को ऐसा नहीं देखा, जिसने भोजन न किया हो, अथवा जो वस्त्र-आभूषण आदि पहने न हो। सभी का सत्कार किया जा रहा था। युधिष्ठिर नित्य अट्ठासी हज़ार स्नातक, गृहस्थ ब्राह्मणों को भोजन देता था और उनकी सेवा को प्रत्येक के लिये तीस-तीस दासियां नियत कर रक्खी थीं। वे लोग भी सेवा, भोजन, दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट होकर नित्य युधिष्ठिर के शत्रुओं के नष्ट होने का

भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४७ ॥
अभुक्तं भुक्तवद्वाऽपि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद्विशांपते ! ॥ ४८ ॥
द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ! ।
सांबन्धिकेन पाञ्चालाः सख्येनाऽन्धकवृष्णयः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५२ ॥

आशीर्वाद देते थे ॥४२।४६॥

दस हजार ऊर्ध्वरेता यति लोग, जो ऊपर को वीर्य रखते हैं, युधिष्ठिर के घर में नित्य प्रति सुवर्ण के पात्रों में दिव्य भोजन करते थे। द्रौपदी स्वयं कुछ खाये-पिये बिना, बड़े यत्न और परिश्रम के साथ यह देख-भाल कर रही थीं, कि कोई लूला-लंगड़ा तक भूखा नङ्गा तो नहीं रह गया है। यज्ञ में ऐसा कोई राजा न था, जिसने युधिष्ठिर को 'कर' न दिया हो। हां एक राजा द्रुपद ने सम्बन्ध और कृष्ण ने मित्रता के कारण से तो अलबत्ता 'कर' नहीं दिया ॥४७।४९॥

सभापर्व का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ त्रयःपञ्चाशत्तमोऽध्याय. ॥ ५३ ॥

दुर्योधन उवाच—आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसन्धा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदान्ताऽवभृतप्लुताः ॥ १ ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥
आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ! ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चाऽवचं नृपाः ॥ ४ ॥
वाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम् ।

तिरपनवां अध्याय ॥ ५३ ॥

दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी ! बहुत से श्रेष्ठ, सत्यवादी, दृढव्रत, विद्वान्, श्रेष्ठवक्ता, अवभृथ नाम यज्ञस्नान के करनेवाले, धीर, तथा मर्यादावान्, धर्मात्मा और यशस्वी राजा लोग युधिष्ठिर की सेवा किया करते हैं। मैंने उन लोगों को दक्षिणा में देने के लिये कासी के बने एक एक दोहने के पात्र और हजारों गौ और अभिषेक के लिये छोटे-बड़े पात्र लाते और युधिष्ठिर को भेंट देते हुए देखा है ॥१।४॥

राजा वाह्लीक ने सोने की आभा से जगमगा रहा, सुसज्जित रथ लाकर खड़ा किया। राजा सुदक्षिण ने

सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥
सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः ।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमाहार्षीत्स्वयमुद्यतम् ॥ ६ ॥
दाक्षिणात्य संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः ।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥
मत्स्यस्त्वक्षान्हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमपो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥ ९ ॥
अभ्यषिञ्चत्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चाऽसितं मुनिम् ॥ १० ॥
प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः ।
जामदग्न्येन सहितास्तथाऽन्ये वेदपारगाः ॥ ११ ॥
अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद्भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥
अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनञ्जयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥

श्वेत रङ्ग के काम्बोज देश के घोड़े लाकर भेंट किये। महाबली सुनीथ राजा अनुकर्षण अर्थात् रथ के नीचे की लकड़ी ले आये। चेदि देश के राजा ने ध्वजा लाकर दी। दक्षिण के राजा ने दृढ़ कवच, मगध देश के राजा ने माला और पगड़ी, राजा वसुदान ने जवान हाथी, राजा मत्स्य ने धन से भरे हुए छकड़े, राजा एकलव्य ने [मणिजटित] जूते, अवन्ती देश के राजा ने अभिषेक के लिए अनेक प्रकार के जल, राजा चेकितान ने तरकस, काशिराज ने धनुष और राजा शल्य ने एक तलवार जिसकी मूठ बहुत सुन्दर थी, और सुनहरी भूषण युक्त दिव्य घृत पात्र लाकर राजा युधिष्ठिर को दिये। फिर महातपस्वी धौम्य, वेदव्यास, नारद, देवल और असित मुनि राज्याभिषेक का कार्य करने लगे ॥५।१०॥

जहां अभिषेक हो रहा था, वहीं पर सब महर्षि प्रसन्नचित्त से बैठे हुए थे। परशुराम और अन्य वेदपाठी महात्मा लोग मन्त्र पढ़ते हुए अभिषेक करने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये। जैसे सप्तऋषि देवलोक में इन्द्र के पास जाते हैं, वैसे ही महात्मागण उस यज्ञ में आने लगे। अभिषेक के समय सात्यकि ने युधिष्ठिर के ऊपर श्वेत छत्र लगाया। अर्जुन और भीमसेन पंखा हिला रहे थे। नकुल

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तदा ।
उपागृह्णाद्यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥ १४ ॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनाऽभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् ।
गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चाऽपि दक्षिणम् ॥ १६ ॥
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात ! पतत्रिभिः ।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान्मङ्गलकारकान् ॥ १७ ॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।
प्रापतन्भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥ १८ ॥
धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्त्वस्था वीर्यसंपन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ॥ १९ ॥
विसंज्ञान्भूमिपान्दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ॥ २० ॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ! ।
न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ॥ २१ ॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाऽप्यासीद्भगीरथः ।

और सहदेव एक-एक चंवर हाथ में लिये पास खड़े थे। पूर्वकल्प में प्रजापति ब्रह्मा ने जो शङ्ख इन्द्र को दिया था, वही वारुण शङ्ख कलशोदधि से (समुद्र से) युधिष्ठिर को प्राप्त हुआ। अब श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा के बनाये बहुमूल्य काँवड से युधिष्ठिर का अभिषेक किया। यह सब देखकर क्लेश के कारण से मै मूर्च्छित हो गया ॥११।१६॥

हे पिता जी ! मनुष्यों की गति पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में ही है, उत्तर दिशा में पक्षी ही जा सकते हैं; परन्तु पाण्डव वहा भी चले गये और वहा से सैंकड़ों मङ्गलसूचक शङ्ख ले आये हैं। उन शङ्खों की मङ्गलसूचक ध्वनि सुनकर मेरे रोयें खड़े हो गये। उस समय जो राजा लोग तेज और साहस से हीन थे, मूर्च्छित हो-होकर गिर पड़े और धृष्टद्युम्न, पाचों पाण्डव, सात्यकि और श्रीकृष्ण जी ये आठों मेरी और उन गिरे हुए राजाओं की गति को देखकर हंसने लगे ॥१७।२०॥

इसके पश्चात् अर्जुन ने पाच सौ बैल जिनके सींग सुवर्ण से मढे हुए थे, ब्राह्मणों को दिये। इसलिए हे पिता जी ! महाराज हरिश्चन्द्र की तरह धूमधाम से राजसूय यज्ञ समाप्त करके, राजा युधिष्ठिर की जैसी अपूर्व शोभा हुई और उन्हें जैसा ऐश्वर्य

ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
यथाऽतिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २३ ॥
एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो ! ।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ! ॥ २४ ॥
अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ! ।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥ २५ ॥
एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर ! ।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥२६॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रय पञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥५३॥

मिला, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । राजा रन्तिदेव, नाभाग, यौवनाश्व, मनु, वेन के पुत्र राजा पृथु, भगीरथ, ययाति और नहुष भी युधिष्ठिर की बराबरी नहीं कर सकते है और की तो किन में गिनती है । राजा युधिष्ठिर महाराज हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी होने का यश इस लोक में प्राप्त कर चुके हैं, यह देखकर डाह के मारे मर जाना ही मुझे श्रेष्ठ लगता है । अन्धा मनुष्य हल चलाने के लिये 'युग' बाधे तो वह जैसे प्राय उलटा पुलटा ही हो जाता है, वैसे ही विधाता भी मानों अन्धा होकर सब काम करता है । तभी तो बड़े घटते जाते है और छोटों की बढ़ौतरी होती जाती है । इसलिये हे पिताजी ! क्या कहू, इन्हीं बातों को देख सुनकर मुझे दमभर भी चैन नहीं पड़ता । यही कारण है कि मै दिन पर दिन मलिन, दुर्बल और शोक मे व्याकुल होता जा रहा हू ॥२१।२६॥

सभापर्व का तिरपनवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र ! मा पाण्डवान्द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥
अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।

चव्वनवा अध्याय ॥ ५४ ॥

दुर्योधन की यह बातें सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा— हे पुत्र ! तुम मेरे बड़े लड़के और बड़ी रानी के पेट मे पैदा हुए हो । पाण्डवों का सौभाग्य देखकर, बिना किसी कारण के ईर्षा के वश होकर, अपनी आत्मा को क्लेश पहुँचाना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता । विचार कर देखो, कपट और द्वेष का नाम भी धर्मात्मा युधिष्ठिर नहीं जानते । उनकी समृद्धि देखकर अत्यन्त शत्रु की तरह उसे न सह सकना, क्या तुम्हें सोहता

अद्विपन्तं कथं द्विष्यात्त्वादृशो भरतर्षभ ! ॥ २ ॥
तुल्याऽभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ! ।
पुत्र ! कामयसे मोहान्मैवं भूः, शाम्य, मा शुचः ॥ ३ ॥
अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ! ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥
आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥
अनार्याचरितं तात ! परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद्वैभवलक्षणम् ॥ ७ ॥
विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥ ८ ॥
बाहूनिवैतान्मा च्छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥ ९ ॥
पाण्डोः पुत्रान्माद्विषस्वेह राजंस्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् ।

है ? तुम तनिक चित्त को स्थिर करके सोचो, तो तुम्हें जान पड़ेगा, कि तुम्हारी सम्पत्ति और तुम्हारे सहायक युधिष्ठिर से कम नहीं है। फिर तुम अत्यन्त लोभी अर्थ-पिशाच की तरह क्या भाई का ऐश्वर्य हर लेना चाहते हो ? यदि तुम्हारी यज्ञ करने की इच्छा प्रबल हुई है, तो इच्छा करते ही पुरोहित लोग तुमको सप्ततन्तु महायज्ञ की दीक्षा देंगे। तुम्हें भी राजा लोग इसी तरह प्रीति और सम्मान के भाव से बहुत सा धन और रत्न भेंट करेंगे। परन्तु पराये धन के लेने की इच्छा करना नीचों का काम है। इस संसार में वृद्धि उसी मनुष्य की होती है, जो धर्म से रहता है और अपने ही धन में सन्तोष करता है। पराये धन की इच्छा न करना, अपने काम का उद्योग करना और शरणागत को पालना ये तीनों वैभव के लक्षण हैं ॥१।७॥

जो मनुष्य चतुर, विनीत, नित्य प्रसन्न और आपत्ति में दुःख को नहीं मानता है, उसका सदैव कल्याण होता है। सोचकर देखो, अपने शरीर में लगे हुए हाथों की तरह पाण्डव लोग तुम्हारे हैं और तुम्हारे सहायक हैं। इस कारण उनके धन को प्राप्त करने की इच्छा से उनके साथ वैर बढ़ाने में तुम्हारा कुछ लाभ तो है नहीं; परन्तु उससे भाइयों से बिगाड़, मित्रों से बिगाड़, बड़े भारी झगड़े और युद्ध आदि के द्वारा वंश के नाश की ही आशङ्का

मित्रद्रोहे तात ! महानधर्मः पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥ १० ॥
अन्तर्वेद्यां ददद्वित्तं कामाननुभवन्प्रियान् ।
क्रीडन्स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ११ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

है । इसलिए मैं तुमको बार बार समझाता हूं, कि-तुम पाण्डवों से ईर्षा या शत्रुता मत करो । मित्रों से द्रोह करना अनर्थ की जड़ है । तुम और पाण्डव एक ही पितामह के वंश में उत्पन्न हुए हो । हे भूपाल ! युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ देखकर यदि तुम्हारा चित्त बहुत ही चञ्चल हो उठा हो, तो तुम भी पाण्डवों की तरह यज्ञ आरम्भ करके बहुत से धन-रत्न ब्राह्मणों को दो, उनकी इच्छा पूरी करो, बेखटके माला-चन्दन-उत्तम स्त्री आदि विषयों के भोग में लगकर बुरे विचारों को भूल जाओ ॥८।११॥

— * —

सभापर्व का चव्वनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

दुर्योधन उवाच—यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥ १ ॥
जानन्वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥ २ ॥
न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥ ३ ॥
परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान्प्रति मुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥
राजन् ! परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।

पचपनवां अध्याय ॥ ५५ ॥

दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी ! जिस मनुष्य में अपनी कुछ बुद्धि नहीं होती है, केवल सुनी हुई बातों को जानता है, वह शास्त्र के अर्थ को इस प्रकार से नहीं जान सकता है जैसे चमचा किसी भोजन के पदार्थ के स्वाद को नहीं पहचानता है । आप विशेष रूप से सब जान-बूझकर भी, बड़ी नाव में बंधी हुई छोटी नाव की तरह, मुझे क्यों रोक रहे हैं ? स्वार्थ के साधन में यहां तक आप उदास हैं! अथवा मेरे अनिष्ट की चेष्टा ही इस समय आपका प्रधान उद्देश्य है ? आपकी आज्ञा के अनुसार काम करने से इस समय हमारा उद्धार नहीं देख पड़ता । जुए के खेल में शत्रु का सर्वस्व हर लेने

प्रतिपन्नान्स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥
लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद्राज्ञाऽप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
क्षत्रियस्य महाराज ! जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा? ॥ ७ ॥
प्रकालयेद्दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ! ॥ ८ ॥
प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते ।
तद्वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥ ९ ॥
शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ! ॥ १० ॥
असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् ।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् ! परमो नयः ॥ ११ ॥
ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा ।

को आप भावी अनर्थ का कारण बतलाते हैं। जो लोग पथ-प्रदर्शक होकर भी स्वयं औरों के उपदेश मान-कर चलते हैं, उन्हें पग-पग पर विपत्ति की आशङ्का हो सकती है। ऐसे अगुआ का पीछा करना, या उसका कहना मानना, किसी तरह बुद्धिमान् का काम नहीं। हे पिता जी ! आपकी बुद्धि विवेक से पक चुकी है, आपने बड़े-बूढ़ों की सङ्गत की है, आप जितेन्द्रिय भी हैं। फिर न मालूम, आप क्यों हमारा उत्साह मिटाने की चेष्टा कर रहे हैं। बृह-स्पति जी ने राजाओं की वृत्ति को संसार की वृत्ति से भिन्न कहा है। इससे सावधान राजा को अपने कार्य का विचार सदैव करना उचित है ॥१।६॥

जय प्राप्त करना ही क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। इसलिए चाहे धर्म हो, चाहे अधर्म, कर्तव्यपालन से विमुख होने का क्या प्रयोजन है ? सारथी जैसे चाबुक मारकर सब तरफ घोड़ों को चला सकता है, वैसे ही जय की इच्छा रखनेवाला मनुष्य बिना रोकटोक के सभी मार्गों का आश्रय ले सकता है। भीतरी हो, या बाहरी, जिस उपाय से शत्रु का दमन किया जा सके, उसी उपाय को काम में लाना, जय की इच्छा रखनेवाले पुरुष के लिये शास्त्र-सम्मत है। यही 'उपाय' सच्चा हथियार है, कुछ वही हथियार नहीं है, जिससे कि मार-काट हो सके। हे महाराज ! शत्रु और मित्र की पहचान का कोई नियम नहीं लिखा है। जिससे जिसको सन्ताप पहुंचे, वही उसका शत्रु माना जाता है। हे राजन् ! सम्पत्ति की बढ़ती का मूल कारण असन्तोष ही है ॥७।१०॥

इसलिये मैं वही करूंगा, जिसमें असन्तोष बढ़े;

पूर्वावासं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥
अद्रोहे समयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः, साऽभिमता तस्य रिपौ वृत्ति सनातनी ॥ १३ ॥
द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव ।
राजानं चाऽविरोद्धारं ब्राह्मणं चाऽप्रवासिनम् ॥ १४ ॥
नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशांपते ! ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥
शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात्समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥
अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः ।
वाल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥
आजमीढ ! रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत ! ।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि धिष्ठितः ॥ १८ ॥
जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते ।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥
नाऽप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति ।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शिष्ये वा निहतो युधि ॥ २० ॥

क्योंकि नीतिकार कहते हैं, कि जो उन्नति की चाह रखता है, वही सचमुच नीति-कुशल है। धन या ऐश्वर्य में कभी ममता न करनी चाहिये, क्योंकि उन्हें दूसरे लोग छीन सकते हैं। इस प्रकार बलपूर्वक शत्रु पर आक्रमण करके उसके सर्वस्व छीन लेने को शास्त्रकारों ने राजा का धर्म माना है। देखिए, इन्द्र ने नमुचि दैत्य से मित्रता करके उसके सिर को काट डाला था। आजतक शत्रु के जीतने को वही सनातन वृत्ति चली आती है। शत्रु से विरोध न करनेवाले राजा और देशों में न घूमनेवाले विद्वान् को पृथ्वी इस प्रकार से ग्रस लेती है, जैसे बिल में रहनेवाले जीवों को सर्प ग्रस लेता है ॥११।१४॥

हे महाराज ! जाति का विचार करने में तो कोई किसी का शत्रु नहीं हो सकता। जब दोनों का उद्देश्य, या जीविका-विषयक निश्चय एक ही होता है, तभी आपस में शत्रुता पैदा होती है। जो राजा मोह से अपने शत्रु के पक्ष की बढ़ोत्तरी चाहा करता है, उसकी जड़ इस प्रकार से कटती जाती है, जैसे रोग के बढ़ने से दिन पर दिन शरीर क्षय होता चला जाता है। और जो शत्रु छोटा सा भी है, परन्तु पराक्रम में चढ़ गया है, तो वह भी इस प्रकार से जड़ काट देता है, जैसे जड़ में लगी हुई दीमक

एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशांपते ! ।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

और पास के वृक्षों को भी खा जाती है। इस कारण से हे पिता ! आप को भी शत्रु की लक्ष्मी की वृद्धि चाहना उचित नहीं है। जातिवालों में वृद्धि उसी मनुष्य की होती है, जो अपने अर्थ की बढ़ौतरी इस प्रकार से किया करता है, जैसे जन्म होने के पीछे मनुष्य का शरीर दिन पर दिन बढ़ता है। संसार में पराक्रम और उद्यम ही अभ्युदय के मूल कारण हैं। इस लिये पाण्डवों की लक्ष्मी को देखकर मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मैं या तो उनके ऐश्वर्य और सौभाग्य को प्राप्त करूँगा, या युद्ध ठानकर प्राण दे दूँगा। हे पिता जी ! क्या जानें, हमारी उन्नति होगी या नहीं ? किन्तु पाण्डव लोग तो नित्य बढ़ रहे हैं। यह देखकर मुझे अपना जीवन भार सा मालूम पड़ रहा है १५।२१॥

सभापर्व का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

शकुनिरुवाच—यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतां वर ! ।
आहूयतां परं राजन्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
अगत्वा संशयमहमयुध्वा च चमूमुखे ।
अक्षान्क्षिपन्नक्षतः सन्विद्वानविदुषो जये ॥ २ ॥
ग्लहान्धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ! ।
अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्फुरम् ॥ ३ ॥
दुर्योधन उवाच—अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४ ॥

छप्पनवां अध्याय ॥ ५६ ॥

दुर्योधन की यह बातें सुनकर शकुनि ने कहा—हे दुर्योधन ! जिस युधिष्ठिर की लक्ष्मी को देखकर तुम इतने दुःखी हो रहे हो, उसको मैं जुए में जीतकर तुमको दे सकता हूं। तुम युधिष्ठिर को चौसर खेलने के लिये शीघ्र बुलाओ। अभी तुम्हारा मनोरथ सफल हो जायगा। युद्ध करने की आवश्यकता ही न रहेगी। मैं पांसा फेंकने में बड़ा विद्वान् हूं। युधिष्ठिर जुआ खेलना नहीं जानते। इसलिये मैं उन्हें अवश्य जीत लूंगा। इस युद्ध में दांव लगाना ही मेरा धनुष है, पाँसे ही मेरे बाण हैं, पांसों की विद्या ही मेरी प्रत्यञ्चा है, और पांसे फेंकने की जगह ही मेरा रथ है ॥१।३॥

यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी ! ये पांसों के खेल में चतुर मामा जी पांसों के खेल

धृतराष्ट्र उवाच—स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्याऽस्य विनिश्चयम्॥ ५ ॥
दुर्योधन उवाच—व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः ।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ! ॥ ६ ॥
नारभेतान्यसामर्थ्यात्पुरुषः कार्यमात्मनः ।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ! ॥ ७ ॥
भयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिपालयन् ।
वर्षासु क्लिन्नकटवत्तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ८ ॥
न व्याधयो नाऽपि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत्कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ ९ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—सर्वथा पुत्र ! बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद्वै शस्त्रमनायसम् ॥ १० ॥
अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र ! संग्रन्थनं कलहस्याति याति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथंचित्सृजेदसीन्निशितान्सायकांश्च ॥ ११ ॥
दुर्योधन उवाच – द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो नास्ति न संप्रहारः ।

के द्वारा पाण्डवों की सब सम्पत्ति और राज्य हर लेने की बात कह रहे हैं । इसलिये आप इसका अनुमोदन कीजिये । आप यदि आज्ञा दे देंगे, तो हमारा मनोरथ सफल हो जायगा । यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा–पहले मैं अपने बुद्धिमान् भाई विदुर से सम्मति कर लू, तब कुछ आज्ञा दूगा । दुर्योधन ने कहा–हे पिता जी ! विदुर जी जैसा पाण्डवों को चाहते हैं, वैसा मुझको नहीं चाहते । इस कारण वे अवश्य इस बारे में सम्मति देने से आप को रोकेंगे। किसी मनुष्य को कोई काम दूसरे के आश्रित होकर करना उचित नहीं है, क्योंकि दो मनुष्यों की एक जैसी बुद्धि कभी नहीं होती है ॥४।७॥

जो मनुष्य भय से बचकर ही अपना पालन करता है, वह सदैव पीड़ा पाता है, जैसे वर्षा में चटाई भीग जाने से गल जाती है । मनुष्य को उचित है, कि जबतक सामर्थ्य होय तबतक अपने कल्याण का उपाय करे। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा–हे पुत्र ! अपने से बलवान् मनुष्य के साथ झगड़ा करना मुझे किसी तरह नहीं रुचता । देखो, शत्रुता ही विकार पैदा कर देती है, और विकार वह शस्त्र है, जो लोहे का बना हुआ न होने पर भी, बहुत जल्द विभ्रम कर देता है । हे पुत्र ! यह जुआ झगड़े और घोर अनर्थ की जड़ है । उसी को तुम अर्थप्राप्ति का साधन समझते हो । जुए में प्रवृत्त होने पर अवश्य तीक्ष्ण बाणों और तलवारों के वार की नौबत आ जायगी ॥८।११॥

तद्रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १२ ॥
स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेवं दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं यत्ते प्रियं तत्क्रियतां नरेन्द्र ! ।
पश्चात्तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ॥ १४ ॥
दृष्टं ह्येतद्विदुरेणैव सर्वं विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति महद्भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान्पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः ॥ १६ ॥
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १७ ॥
श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १८ ॥
कालेनाऽल्पेनाऽथ निष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ १९ ॥

यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी ! जुआ खेलने में नाश और युद्ध होने की कोई बात नहीं है। नल आदि पहले के राजाओं ने भी जुआ खेला था। इससे अब आप शकुनि की बात को अङ्गीकार कीजिए और एक विशाल सभा-मण्डप के बनने की आज्ञा दीजिए। जुआ खेलना सुख का द्वार है, जो खेलता है, उसको बड़ा सुख होता है। इससे हम को पाण्डवों के साथ जुआ खेलना योग्य है। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे पुत्र दुर्योधन ! तुम्हारे कहे ये वचन मुझे नहीं रुचते। अब तुम्हें जो अच्छा लगे वह करो; किन्तु जो मेरा कहा न मानोगे, तो तुम्हें पीछे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। तुम्हारा यह विचार धर्म के अनुकूल नहीं है। बुद्धिमान् और विद्वान् विदुर पहले ही ज्ञानदृष्टि से देखकर कह चुके हैं, कि क्षत्रियों का नाश करानेवाला यह घोर कर्म है। मुझे जान पड़ता है, तुम मोहवश होकर यह अनिष्ट किये बिना न मानोगे ॥१२।१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र ने दैव को ही प्रबल और दुस्तर समझा। उन्होंने दुर्योधन की प्रार्थना के अनुसार सेवकों को आज्ञा दी, कि तुम लोग कोसभर के घेरे में एक श्रेष्ठ सभा-भवन बनवाओ। उसमें हज़ार खम्भे और सौ द्वार हों। सुवर्ण और वैडूर्य आदि मणियों से विचित्र उस सभा-भवन में स्फटिकमय तोरण बनवाये जायँ। धृतराष्ट्र की आज्ञा पाते ही हज़ारों कारीगर प्रसन्न-चित्त होकर, सब सामग्री एकत्र करके, शीघ्रता से

ततो विद्वान्विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहाऽऽनयस्व ॥ २० ॥
सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

सभा-भवन बनाने लगे। थोड़े ही समय में बहुत रत्नों से भूषित, विचित्र सुवर्णमय आसनों से अलंकृत वह रमणीय सभा बन गई। तब अनुचरों ने आकर धृतराष्ट्र को सभा के बन जाने की सूचना दी। अब राजा धृतराष्ट्र ने अपने मुख्य मन्त्री विदुर को बुला-कर कहा-हे भाई! तुम मेरी आज्ञा से शीघ्र इन्द्रप्रस्थ को जाओ। और वहां से युधिष्ठिर को अपने साथ ले आओ। वे आकर अनेक रत्नों से भूषित, विविध शय्या और आसनों से अलंकृत सभा-भवन को देखें और भाइयों के साथ चौसर खेलें।१६-२१॥

सभापर्व का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच—मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद्राजंश्चकार ह ॥ १ ॥
अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाऽभ्यनन्दद्वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

विदुर उवाच-नाभिनन्दे नृपते! प्रैषमेतं मैवं कृथाः कुलनाशाद्बिभेमि।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्यादेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र!॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच-नेह क्षत्तः! कलहस्तप्स्यते मां न चेद्दैवं प्रतिलोमं भविष्यत्।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम्॥ ४ ॥
तदद्य विदुर! प्राप्य राजानं मम शासनात् ।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

सत्तावनवां अध्याय ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे महाराज! अपने पुत्र दुर्योधन का अभिप्राय जानकर और दैव को प्रबल मानकर धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा, कि तुम शीघ्र इन्द्रप्रस्थ को जाओ। यह सुनकर विदुर ने कहा-हे महाराज! आपकी यह आज्ञा मानने को किसी तरह मेरा जी नहीं चाहता। आप अत्यन्त मोहवश होकर इस काम के लिये अनुमति दे रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस कार्य से भाई-बन्धुओं में

फूट पड़ेगी और अन्त को कुल का नाश हो जायगा। धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! यदि दैव विरोधी न बने, तो बिगाड से भी मुझको दुःख नहीं पहुँचेगा। देखो, यह विश्व स्वाधीन नहीं है, दैववश स्थापित करनेवाले विधाता ही के नियम से चेष्टित हो रहा है। इसलिये मेरे शासन से आज तुम कुन्तीकुमार अजेय राजा युधिष्ठिर के पास जाकर उनको तुरन्त ले आओ॥१।५॥

सभापर्व का सत्तावनवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ५७॥

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्याय ॥ ५८॥

वैशम्पायन उवाच ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैर्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे॥ १ ॥
सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ २ ॥
स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ३ ॥
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याऽऽजमीढस्ततोऽऽपृच्छद्धृतराष्ट्रं सपुत्रम्॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः कच्चित्क्षत्तः! कुशलेनागतोऽसि?।
कच्चित्पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित्?॥ ५ ॥
विदुर उवाच—राजा महात्मा कुशली सपुत्र आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।
प्रीतो राजन्पुत्रगुणैर्विनीतो विशोक एवात्मरतिर्दृढात्मा॥ ६ ॥
इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च।

अट्ठावनवां अध्याय॥ ५८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र से आज्ञा पाकर विदुर जी शीघ्र चलनेवाले रथ में सवार होकर पाण्डवों को मिलने गये और ब्राह्मण आदि वर्णों से पूजित होकर नगर में होते हुए युधिष्ठिर के महलों में, जो कुबेर के भवनों के सदृश बने हुए थे, गए। धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने भक्ति और श्रद्धा के साथ विदुर जी की पूजा की। विदुर जी के आराम से उत्तम आसन पर बैठते ही युधिष्ठिर ने उनसे पुत्र सहित महाराज धृतराष्ट्र की कुशल के बारे में अनेक प्रश्न किये॥१।४॥

फिर विदुर के आकार में विलक्षणता अर्थात् उनके चेहरे पर उदासी देखकर युधिष्ठिर ने पूछा—हे चाचा जी! आपका चेहरा मलिन क्यों देख पडता है? आप कुशलपूर्वक तो यहां आये हैं न? दुर्योधन आदि भाई महाराज धृतराष्ट्र के साथ कोई बुरा व्यवहार तो नहीं करते? सब प्रजा और अन्य

इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र !॥ ७ ॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ ! तस्यां सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥
दुरोदरा विहिता ये तु तत्र महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा ।
तान्द्रक्ष्यसे कितवान्सन्निविष्टानित्यागतोऽहं नृपते ! तज्जुपस्व ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच–द्यूते क्षत्तः ! कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुध्यमानः।
किं वा भवान्मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताःस्मः ॥ १० ॥

विदुर उवाच–जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे।
राजा च मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच–के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः।
पृच्छामि त्वां विदुर! ब्रूहि नस्तान्यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य॥ १२ ॥

विदुर उवाच–गान्धारराजः शकुनिर्विशांपते ! राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥

क्षत्रिय राजा लोग तो उनके आज्ञाकारी और अधीन है न ? विदुर ने कहा—हे राजन् ! इन्द्र के तुल्य प्रतापी महाराज धृतराष्ट्र अपने पुत्रों-सहित बड़े आनन्द में हैं । दुर्योधन आदि सब पुत्र उनकी आज्ञा मानते हैं और सब प्रजा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य समझती है । वे नीरोग और शोक शून्य होकर सदा अपनी उन्नति के कामों में लगे रहते हैं । इस समय तुम लोगों की सब प्रकार की कुशल के बारे में पूछकर जो कहने के लिये उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, सो कहता हूँ, सुनो । धृतराष्ट्र ने कहा है–हे युधिष्ठिर ! तुम भाइयों के साथ यहाँ आकर अपनी सभा के सदृश यह सभा देखो, और दुर्योधन के साथ मित्रभाव से जुआ खेलो । तुम लोगों के समागम से मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी । हे राजन् ! महाराज धृतराष्ट्र ने जिन धूर्त जुआरियों को उस सभा में रखने का विचार किया है, उनको तुमने वहाँ देखना । इसी के लिये मैं तुम्हारे पास भेजा गया हूँ, कि तुमको वहाँ ले चलूँ । अब तुम राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा का पालन करो ॥५-९॥

युधिष्ठिर ने कहा-हे चाचा जी ! द्यूतक्रीड़ा क्लेश की जड़ है । यह जान-बूझकर कौन बुद्धिमान् पुरुष जुआ खेलेगा ! कृपा करके बतलाइए, इस बारे में आपकी क्या सम्मति है ? हम सब आप की आज्ञा का पालन करने को तैयार हैं । विदुर ने कहा–मैं अच्छी तरह जानता हूँ, कि जुए को पण्डितों ने सब अनर्थों की जड़ माना है । इसी कारण मैंने बार बार धृतराष्ट्र को यह विचार छोड़ देने की सलाह दी थी; किन्तु महाराज धृतराष्ट्र ने मेरे कहने का खयाल न करके मुझे तुम्हारे पास भेजा है । तुम जो ठीक समझो वही करो । युधिष्ठिर ने पूछा—हे विदुर जी ! दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों के सिवाय और कौन-कौन धूर्त बहुत सा धन रक्खे हुए वहाँ

युधिष्ठिर उवाच-महाभयाः कितवाः संनिविष्टा मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगत्तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥ १४ ॥
नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासनान्न गन्तुमिच्छामि कवे ! दुरोदरम् ।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥
न चाकामः शकुनिना देविताहं न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ॥ १७ ॥
दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवाऽऽपतत् ।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः ।
अमृष्यमाणस्तस्याऽथ समाह्वानमरिन्दमः ॥ १९ ॥
बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा ।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभि सह पाण्डवः ॥ २० ॥
राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः ।
धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥

पर हैं, जिनके साथ खेल होगा ? ॥१०।१२॥

विदुर ने कहा-हे महाराज ! जुए में बड़ा चतुर गान्धार का राजा शकुनि, राजा विविंशति, चित्रसेन, सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय,ये सब धूर्त बड़ा खेल के लिये तुम्हारे आने की राह देख रहे हैं । युधिष्ठिर ने कहा-हे विदुरजी ! अब क्या करना चाहिए ? जो हो,सभी जगत् दैव के आधीन है,कोई स्वाधीन नहीं है। धृतराष्ट्र की आज्ञा के अनुसार जुआ खेलने के लिये मेरी प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु आप कहते हैं, इसी कारण मैं जुआ खेलूंगा। यदि जीतने की इच्छा से मुझे कोई न बुलाता,तो अपनी ओरसे मैं कभी शकुनि के साथ जुआ न खेलता,परन्तु खेलने के लिये बुलाये जाने पर मैं नहीं न रूकूंगा। यही मेरा सदा का नियम है ॥१३।१६॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर ने विदुर जी से इस प्रकार से कहकर यात्रा की सामग्री करने की आज्ञा दी और प्रात काल होते ही सब भाइयों ने सेवकों और द्रौपदी आदि स्त्रियों-सहित हस्तिनापुर को यात्रा की । देखो, मनुष्य को जब दैवगति प्राप्त होनेवाली होती है, तब उसकी बुद्धि ऐसी दब जाती है, जैसे बिजली के सामने नेत्र का तेज दब जाता है । और पाशों से बंधे हुए मनुष्य की तरह वह ईश्वर के आधीन रहता है । इसी कारण से युधिष्ठिर ने भी धृतराष्ट्र के बुलाने को स्वीकार कर लिया और विदुर जी के

स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥
तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥
समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
ये चाऽन्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चाऽपि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ।
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत्ताराभिरिव रोहिणीम् ॥ २७ ॥
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ।
ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २८ ॥
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन्भीमसेनपुरोगमाः ॥ २९ ॥
ततो हर्षः समभवत्कौरवाणां विशांपते !
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्पाण्डवान्प्रियदर्शनान् ॥ ३० ॥
विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।

साथ-साथ भाइयों-सहित बाह्लीक के दिये हुए रथ पर चढ़कर हस्तिनापुर पहुंचे ॥१७।२१॥

और वहां धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सोमदत्त, दुर्योधन, शल्य, शकुनि, दुःशासन, जयद्रथ और अन्य राजा लोग भाई-बन्धु तथा कौरव कुल के लोगों से विधिपूर्वक मिलकर भाइयों-सहित धृतराष्ट्र के महल के भीतर गये। वहां जाकर उन्होंने गान्धारी को दण्डवत् की, और उससे आशीर्वाद पाकर उस वृद्ध अन्धे राजा धृतराष्ट्र के पास गये। राजा धृतराष्ट्र ने उनको गले लगाया, और सब कौरव कुल के मनुष्य उनको देखकर प्रसन्न हुए। इसके उपरान्त सब से आज्ञा लेकर, महाराज युधिष्ठिर अपने रहने के लिये बनाये गये भवन में गये ॥२२।३०॥

दद्दशुश्चोपयातांस्तान्द्रौपदीप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३१ ॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नाऽतिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३२ ॥
ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि-प्रतिकर्म च ॥ ३३ ॥
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दन भूपिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ॥ ३४ ॥
उपगीयमाना नारीभिरस्वपन्कुरुपुङ्गवाः ।
अनन्तरं च तत्प्राप्य प्रीताः परपुरञ्जयाः ॥ ३५ ॥
जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निन्द्रामथाऽत्यजन् ॥ ३६ ॥
सुखोपितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

दु शला आदि राजकुमारियां और धृतराष्ट्र की बहुएं द्रौपदी के अलौकिक रूप सौन्दर्य और जड़ाऊ गहनों की अद्भुत शोभा देखकर प्रसन्न होने के बदले अप्रसन्न ही हुईं। आई हुईं आत्मीय स्त्रियों से बात-चीत करके पाण्डवों ने नियमानुसार व्यायाम किया, स्नान किया और फिर सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म समाप्त किये। अङ्गों में चन्दन-अङ्गराग आदि लगाकर, उन्होंने अमूल्य वस्त्र और आभूषण पहने। इस प्रकार प्रात काल के काम करके उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत सा धन दिया और उनसे स्वस्ति-पाठ कराया। फिर उत्तम भोजन करने के उपरान्त वे विश्राम करने लगे। सायंकाल को मनोहर गाना-बजाना सुनकर वे सुख की नींद सोये। रात्रि भर विश्राम कर चुकने पर, रात्रि के पिछले पहर में आकर, स्तुति-पाठ करते हुए, बन्दीजन उन्हें जगाने लगे। पाण्डवों ने उठकर प्रात काल के आवश्यक काम किये। फिर प्रसन्नता-पूर्वक धृतराष्ट्र की सभा में सब भाई पहुंचे। धूर्त शकुनि आदि ने वहां उनका खूब आदर और अभिनन्दन किया ॥३१।३७॥

—*—

सभापर्व का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

अथ एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान्सर्वान्पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्याऽऽस्तरणवत्सु च ॥ २ ॥
तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥
शकुनिरुवाच—उपस्तीर्णा सभा राजन्! सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर! ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन्! किं त्वं द्यूतं प्रशंससि? ॥ ५ ॥
न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने! मैवं नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥
शकुनिरुवाच—यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञश्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु ।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥
अक्षग्लहः सोऽभिभवेत्परं नस्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ! ।

उनसठवां अध्याय ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव सभा में जाकर वहां उपस्थित राजाओं से मिले। उन्होंने बड़ों को प्रणाम किया, बराबरवालों को गले से लगाया, और छोटों को स्नेहपूर्वक आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् वे सब मूल्यवान् बढ़िया आसनों पर विराजमान हो गये। सबको बैठे देखकर राजा सुबल के पुत्र शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज! सभा में सब लोग आ गये हैं। ये चौसर का खेल आरम्भ होने की राह देख रहे हैं। अब आप पासे फेंककर, दाँव लगाकर, खेल आरम्भ कीजिए। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे राजन्! यह जुआ छलरूप और पाप की जड़ है। न इसमें क्षत्रिय का पराक्रम है और न यह नीति के ही अनुसार है। फिर तुम क्यों जुए की प्रशंसा कर रहे हो? कपट करनेवाले धूर्त जुआरी का मान भी नहीं होता। इसलिए हे शकुनि! तुम नीचों की तरह अन्याय और धूर्तता से, हमें जीतने का विचार छोड़ दो। शकुनि ने कहा—हे महाराज! आप जुआ खेलनेवाले को कपटी और शठ कहकर, निन्दा करते हैं; किन्तु मेरी समझ में, तो इस जुए के खेल को जाननेवाला पुरुष बड़ा बुद्धिमान् होता है, क्योंकि वह चालों को और चौसर की गिनती को जानता है। जय और पराजय का विचार कर सकता है, तथा सहनशील होता है।

दीव्यामहे पार्थिव ! मा विशङ्कां कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—एवमाहाऽयमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥
इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥
नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥
शक्तितो ब्राह्मणार्थाय शिक्षितुं प्रयतामहे ।
तद्वै वित्तं माऽतिदेवीर्मा जैषीः शकुने ! परान् ॥ १२ ॥
निकृत्या कामये नाऽहं सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच—श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ! ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४ ॥
अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ! ।

है महाराज ! पांसा पड़ना भाग्य के अधीन है, अपनी इच्छा से कपट करके जय-पराजय कोई नहीं कर सकता । इसलिए तर्क-वितर्क करना छोड़कर आइए, हम लोग चौसर खेलें । कुछ, किसी बात की शङ्का न कीजिए । देर न करके दाव लगाइए, और पांसे फेंकिए । यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—असित और देवल आदि बड़े-बड़े ऋषियों ने कहा है कि छलियों के साथ छल से जुआ खेलना बड़ा पाप है युद्ध करके जीतना ही श्रेष्ठ है ॥९।१०॥

श्रेष्ठ मनुष्य न तो म्लेच्छ-भाषा में बात-चीत करते हैं, और न छल-कपट करते हैं । कृरता और धूर्तता से बचकर युद्ध करना ही सज्जनों का काम है । देखो, हम लोग यथाशक्ति अपने सब धन को ब्राह्मणों के उपकार और शिक्षा के प्रचार में लगाते रहते हैं; उससे ब्राह्मणों का और प्रजा का विशेष उपकार होता है । तुम लोगों के साथ कपट का जुआ खेलें, तो तुम हमारा यह सब धन जीत लोगे । इसलिए लोकोपकार में खर्च होनेवाले धन को धूर्तता के साथ, जुए में जीत लेना तुम्हें उचित नहीं । इसके अतिरिक्त मैं जुआ खेलकर उससे धन प्राप्त करना या सुख-भोग करना भी नहीं चाहता । तात्पर्य यह है कि जुआ खेलनेवाले धूर्त की इस लोक में कहीं प्रशंसा नहीं होती और जुआ खेलना कोई श्रेष्ठ काम भी नहीं है ॥११।१३॥

यह सुनकर शकुनी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! यदि आप जुआ खेलने में छल बताते हैं तो ऐसा कौन सा काम है जिसमें छल नहीं है । देखिए, अश्रोत्रियों के आगे श्रोत्रिय लोग, तत्त्वज्ञान से हीन पुरुषों

विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १५ ॥
अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्वलं वलवत्तरः ।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ! ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १६ ॥
एवं त्वं मामिहाऽभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे ।
देवनाद्विनिवर्त्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
विधिश्च वलवान्राजन्दिष्टस्याऽस्मि वशे स्थितः ॥ १८ ॥
अस्मिन्समागमे केन देवनं मे भविष्यति ।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम् ॥ १९ ॥
दुर्योधन उवाच—अहं दाताऽस्मि रत्नानां धनानां च विशांपते ! ।
मदर्थे देविता चाऽयं शकुनिर्मातुलो मम ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच—अन्येनाऽन्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे ।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

के पास तत्त्वज्ञानी लोग, मूर्ख पुरुषों के निकट विद्वान् लोग, दुर्बलों के समीप बलवान् लोग और अस्त्र-विद्या न जाननेवालों के आगे अस्त्र-विद्या जानने-वाले लोग जय की इच्छा से जाते हैं और कपट या चतुराई से उनको जीतते है। इस व्यवहार को कोई बुरा नहीं समझता। इसी प्रकार से जुए में भी जो मनुष्य पांसों के फेंकने की गति को अच्छी तरह से जानता है, वह न जाननेवाले को जीत लेता है। इसमें छल का क्या काम है। और जो छल है, तो सभी बातों में छल है। इसलिये यदि आप खेलना नहीं चाहते हैं, और खेलने को छल समझकर भयभीत हो रहे हैं तो जाने दीजिए, न खेलिए ॥१५।१७॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि ! यह तो मेरा सदा का व्रत है कि किसी काम के लिये यदि कोई मुझे बुलायेगा, तो मैं उससे विमुख न होऊँगा। होनी बड़ी प्रबल होती है; मैं उसी होनी या दैव के अधीन हूँ। तुम लोग जुए के लिये मुझे बुलाते हो, तो मैं नाहीं, नहीं कर सकता; उसका फल चाहे जो हो। अच्छा, अब यह बताओ कि इस सभा में मेरे साथ कौन खेलेगा ? इसका निश्चय करके खेल शुरु हो। यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—हे महाराज ! दाँव लगाने के लिये रत्न और धन तो मैं दूँगा और हमारे मामा जी आपके साथ खेलेंगे ॥१८।२१॥

सभापर्व का उनसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

अथ षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच–उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥ १ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः ।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत ! ॥ २ ॥
ते द्वन्द्वशः पृथक्चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि विभेजिरे ॥ ३ ॥
शुशुभे सा सभा राजन्! राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥ ४ ॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ।
प्रावर्तत महाराज ! सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच–अयं बहुधनो राजन्सागरावर्तसंभवः ।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान्कनकोत्तमभूषणः ॥ ६ ॥
एतद्राजन्मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ।
येन मां त्वं महाराज ! धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ ७ ॥
दुर्योधन उवाच सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारंभे षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

साठवां अध्याय ॥ ६० ॥

वैशम्पायन कहते हैं—जुआ खेलने का निश्चय हो जाने पर सब राजा लोग अपने-अपने स्थानों पर आ बैठे । महाराज धृतराष्ट्र राजसिंहासन पर विराजमान हुए। हे भरतनन्दन ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और महामति विदुर अति अप्रसन्नचित से उनके पीछे बैठे । महाभाग देवों के एकत्र मिलित होने से, स्वर्ग की जैसी शोभा होती है, उन सब सिंह समान गर्दनवाले, अति तेजस्वी, राजाओं के एकत्रित होकर अनेकानेक विचित्र आसनों पर अलग-अलग और एक-एक में दो-दो के बैठने पर उस सभा की वैसी ही शोभा हुई । उन विचित्र सिंहासनों पर बैठे हुए वे राजा लोग सभी शूरवीर, तेजस्वी और वेद-वेदाङ्ग के पण्डित थे । इस प्रकार देखनेवालों से सभा भर जाने पर भाई-भाई में जुआ होने लगा । युधिष्ठिर ने

दुर्योधन से कहा—समुद्र में उत्पन्न उत्तम मणियों का बना हुआ, सुवर्णमण्डित यह मूल्यवान् हार मैं दाँव पर लगाता हूँ। इसके बदले में तुम क्या लगाते हो? तुम भी वह धन दिखाओ जिसकी बाज़ी लगाकर मुझसे खेलना चाहते हो। दुर्योधन ने कहा—मेरे पास बहुत सी मणियाँ, महामूल्य रत्न और अतुल धन है। उसे आप जीत लें। धन की हानि की मैं कुछ नहीं समझता। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् शकुनि ने पाँसे हाथ में लेकर फेंके और कहा—यह दाँव मैंने जीत लिया ॥१।९॥

सभापर्व का साठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

अथ एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

युधिष्ठिर उवाच—मत्त! कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे।
शकुने! हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥ १ ॥
सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम्।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान्किङ्किणीजालमण्डितः ॥ ४ ॥
संह्लादनो राजरथो य इहाऽस्मानुपावहत्।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिस्वनः ॥ ५ ॥
अष्टौ यं कुमुदच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसंमताः।
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद्भूमिमुपस्पृशन् ॥ ६ ॥

इकसठवा अध्याय ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि! कपट और छल का सहारा लेकर जीत जाने से इतना अहङ्कार क्यों करते हो? मैं और दाँव लगाता हूँ, आओ खेलें। मैं बार-बार दाँव लगाकर तुमसे खेलूँगा। मेरे यहाँ सहस्रों सुवर्ण-मुद्राओं से भरे हुए घड़े, अक्षय सम्पत्ति से भरा हुआ खज़ाना और असंख्य मणि-रत्न हैं। इस सम्पत्ति को मैं दाँव पर लगाता हूँ। यह सुनकर शकुनि ने फिर पाँसा फेंका और कहा कि मैंने यह भी जीता ॥१।३॥

शकुनि को वह दाँव भी जीत लेते देखकर धर्मराज ने फिर शकुनि से कहा—यह जड़ाऊ रथ जिस पर हम चढ़कर आये हैं, और जो हज़ारों रथों के समान, व्याघ्र के चर्म से मढ़ा हुआ, घण्टालियों से युक्त, और आठ श्वेत रङ्ग के बहुत श्रेष्ठ घोड़ों से जुता हुआ और जिसके चलने में झनझनाहट मेघ की गरजना के समान होती है, मैं दाँव पर लगाता

एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच- एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच--शतं दासीसहस्राणां तरुण्यो हेमभद्रिकाः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ ९ ॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु ।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात् ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे ।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयन्त्युत ।
एतद्राजन्! मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १३ ॥

हूँ। वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! यह सुनकर शकुनि ने फिर पाँसा फेंका और कहा कि मैं जीता ॥४।७॥

रथ हार जाने पर युधिष्ठिर ने कहा—मेरी एक लाख जवान दासियाँ मेरी आज्ञा से स्नातक ब्राह्मण, मन्त्री और राजा लोगों की सेवा करती हैं और माला, कंगन, घुँघरू आदि अनेक मणिजटित सुवर्ण के गहनों और सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से अलकृत हैं और चौंसठ कला और गाने-बजाने में बड़ी चतुर है, उनको मैं दाव पर लगाता हूँ। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! उस छली शकुनि ने उक्त दांव को सुनकर पासे फेंके और कहा कि यह भी मैंने जीता ॥८।११॥

दासियों को हार जाने पर युधिष्ठिर ने कहा—मेरे सदा वस्त्र पहने हुए, कुण्डलधारी, कार्यदक्ष, अनुकूल, प्राज्ञ, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय सैकड़ों अल्प अवस्थावाले दास हैं, वे प्रति दिन हाथों में पात्र लेकर अतिथियों को भोजन कराते हैं। उन्हें मैं दाव पर लगाता हूँ। यह सुनकर शकुनि ने फिर पासा फेंका और कहा कि मैं जीता ॥१२।१४॥

अब धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—मेरे पास हजारों मतवाले हाथी सुनहरी झूल और माला धारण किये हुए अच्छी तरह सिखाये हुए राजाओं की

वैशम्पायन उवाच- एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल ! ।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १५ ॥
सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि ।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाऽष्टकरेणवः ॥ १६ ॥
सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच- इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः संपन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वाऽपि वेतनं मासकालिकम् ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच- इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

सवारी के योग्य युद्ध में किसी शब्द से न डरनेवाले आठ-आठ हथिनियों से युक्त और मेघ के समान गर्जनेवाले है और जिनके शरीर बड़े-बड़े और दात लम्बे-लम्बे है, उनको मैं दाव पर लगाता हूँ। वैशम्पायन कहते है—हे राजन्! शकुनि ने हँसकर फिर पासे फेंके और कहा कि मैंने यह भी जीत लिया ॥१५।१८॥

युधिष्ठिर ने कहा—मेरे यहा इतने ही सुवर्णमण्डित, विचित्र ध्वजाओं से शोभित रथ भी हैं। उनमें सुन्दर सिखाए हुए घोड़े जुतते हैं। हर एक रथ एक-एक विचित्र युद्ध करनेवाले, योद्धा के अधिकार में रहता है। इन रथी सैनिकों को, चाहे युद्ध करना पड़े और चाहे न करना पड़े, हर महीने हज़ार मुद्रा की वृत्ति मैं देता हूँ। ये रथी और रथ मेरी सम्पत्ति है। मैं इन्हें भी दाव पर लगाता हूँ। वैशम्पायन कहते है—हे राजन्! यह सुनकर उस दुष्ट और वैर रखनेवाले शकुनि ने पासे फेंककर कहा कि मैं जीता ॥१९।२१॥

युधिष्ठिर ने फिर कहा—मेरे पास जो तीतर वर्ण के, गन्धर्वों के देश के सुनहरी माला पहने हुए सौ घोड़े हैं, जिनको चित्ररथ गन्धर्व ने युद्ध में जीते जाने के कारण से अर्जुन को प्रीतिपूर्वक दिये थे,

युधिष्ठिर उवाच-अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान्गान्धर्वान्हेममालिनः ।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान्गाण्डीवधन्वने ॥ २२ ॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच- एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥
युधिष्ठिर उवाच--रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चाऽयुतानि मे ।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २५ ॥
एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः ।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २६ ॥
क्षीरं पिवन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः ।
एतद्राजन् ! मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥
युधिष्ठिर उवाच- ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याऽहतस्य वै ॥ २९ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घ्येयस्य भारत ! ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

उनको मैं दाव पर लगाता हूं । वैशम्पायन कहते हैं-हे राजा जनमेजय! यह सुनकर उस छली शकुनि ने पांसा फेंककर कहा, यह भी मैं जीता ॥२२।२४॥

तब युधिष्ठिर ने कहा-मेरे यहां दस हजार बढ़िया रथ और छकड़े हैं। उनमें जुतनेवाले अच्छे-अच्छे वाहन भी हैं। नित्य चावल और दुग्ध का भोजन करके शक्ति बढ़ाते रहनेवाले, चौड़ी छाती-वाले, साठ हज़ार वीर पुरुष भी मेरे यहां हैं। मैं यह सब सम्पत्ति दाव पर लगाता हूं। [शकुनि तो कपट के पासों से खेल ही रहा था।] उसने फिर

भी बेखटके पांसे फेंके और कहा कि मैं जीता। यह दांव भी हार जाने पर युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि! मेरे पास तांबे और लोहे के चार सौ निधि जिन में पांच पांच द्रोण (१६ सेर) उत्तम सुवर्ण भरा हुआ है, रक्खे हुए हैं। उनको मैं दांव पर लगाता हूं। वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन्! शकुनि ने हंसकर फिर पांसे फेंके और कहा कि मैं जीता॥२५।२१॥

—:x:—

सभापर्व का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ६१॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः॥ ६२॥

वैशम्पायन उवाच- एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

विदुर उवाच—महाराज! विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि भारत! ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेताऽपि ते श्रुतम् ॥ २ ॥

यद्वै पुरा जातमात्रो रुराव गोमायुवद्विस्वरं पापचेताः ।
दुर्योधनो भारतानां कुलघ्नः सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः॥ ३ ॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥ ४ ॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाऽधिगच्छति ॥ ५ ॥

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते ।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥ ६ ॥

बासठवां अध्याय॥ ६२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! जब उक्त रीति से घोर जुआ होने लगा, तब सब संशयों को दूर करनेवाले विदुर जी बोले—हे राजा धृतराष्ट्र! जो कुछ मैं आपसे कहता हूँ, उसको समझिये। मैंने आप से पहले भी यही कहा था, पर मेरा कहना आपको अच्छा नहीं मालम हुआ। सच है, कि जब रोगी असाध्य हो जाता है तब उसको कोई दवा गुण नहीं करती है। अब मैंने निश्चय समझ लिया कि जो इस पापी दुर्योधन ने उत्पन्न होते ही गीदड़ के रोने का सा शब्द किया था, उसका फल अब आन पहुंचा है, यही आप सब लोगों के काल का हेतु होगा। आपने इस दुर्योधन को मोह से अपने घर में पुत्र नहीं किन्तु गीदड़ पाला है, अब इसके विषय में जो कुछ करना उचित है वह मैं शुक्र जी की कही हुई नीति के अनुसार कहता हूं॥१।४॥

शुक्रनीति में लिखा है कि मधु अर्थात् शहद का व्यापार करनेवाला मनुष्य शहद लगा हुआ देखकर वृक्ष पर उसे लेने को चढ़ जाता है; उसे यह

विदितं मे महाप्राज्ञ! भोजेष्वेवाऽसमञ्जसम् ।
पुत्रं संत्यक्तवान्पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ॥ ७ ॥
अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ।
नियोगात्तु हते तस्मिन्कृष्णेनाऽमित्रघातिना ॥ ८ ॥
एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः ।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ।
निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ॥ ९ ॥
काकेनेमांश्चित्रबर्हाञ्छार्दूलान्क्रोष्टुकेन च ।
क्रीणीष्व पाण्डवान्राजन्मा मज्जीः शोकसागरे ॥ १० ॥
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ११ ॥
सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः ।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ॥ १२ ॥
हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित्पक्षिणो वनगोचरान् ।
गृहे किल कृतावासाँल्लोभाद्राजा न्यपीडयत् ॥ १३ ॥
स चोपभोग लोभान्धो हिरण्यार्थी परन्तप! ।

विचार नहीं होता कि इतने ऊंचे से गिरूंगा तो जीता न बचूंगा। परिणाम यह होता है कि वह गिर पड़ता है। वैसे ही यह नीच दुर्योधन, धन पाने की इच्छा से, जुए में मदवाला सा हो रहा है। इन महारथी पाण्डवों से वैर करने में होनेवाले अपने नाश का इसे ज्ञान ही नहीं। हे राजन्! आप बड़े बुद्धिमान् हैं; कुछ विचारिए तो सही। पूर्व समय में किसी भोजवंशी राजा ने अपने पुरवासियों के हित के लिये अपने पुत्र को, जो अयोग्य था, त्याग दिया था। उस पुत्र का नाम कंस था। सब अन्धक यादव और भोजवंशियों के हित के लिये त्याग करने पर श्रीकृष्ण जी ने उसे मार डाला और उसके मारे जाने पर सब स्वजातीय प्रसन्न हुए। अब वे सब बड़े आनन्द से रहते हैं। इसी प्रकार से आप भी अर्जुन को आज्ञा दे दीजिए, कि वह दुर्योधन को निग्रहण अर्थात् गिरिफ्तार कर लेवें। ऐसा करने से सब कौरवों को बड़ा आनन्द होगा ॥५।९॥

इस से हे धृतराष्ट्र! आप को उचित है, कि इस कौए और गीदड़रूपी दुर्योधन के बदले में इन मयूर और शार्दूल रूपी पाण्डवों को मोल ले लेवें और अपने को शोक के समुद्र में न डुबावें, मनुष्य के कुल के लिये एक आदमी को, ग्राम के लिये एक कुल को, देश के लिये एक ग्राम को, और अपनी आत्मा के लिये पृथ्वी भर को त्याग देना

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत् ॥ १४ ॥
तदर्थकामस्तद्वत्त्वं मा द्रुहः पाण्डवान् नृप! ।
मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात्पक्षिहा पुरुषो यथा ॥ १५ ॥
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत! ।
मालाकार इवाऽऽरामे स्नेहं कुर्वन्पुनः पुनः ॥ १६ ॥
वृक्षानङ्गारकारीव मैनान्धाक्षीः समूलकान् ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ १७ ॥
समवेतान्हि कः पार्थान्प्रतियुध्येत भारत! ।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

उचित है। देखो, शुक्र जी ने जो सर्वज्ञ और सब के चित्त की वृत्ति के जाननेवाले हैं, असुरों से कहकर, कि यह पुत्र तुम सब का शत्रु और सब को भय दिलाने वाला होगा, जंभासुर का त्याग करवा दिया। इसी प्रकार से आप को भी इस दुर्योधन का त्याग देना उचित है। किसी राजा ने मांस और सुवर्ण के लोभ से एक पक्षी को, जो वन में अपने घोंसले में रहता था और नित्य सुवर्ण उगलता था, मार डाला। ऐसा करने से, उस राजा के यह लोक और परलोक दोनों नाश हो गये। इस लिये आप भी पाण्डवों से द्रोह न कीजिए, नहीं तो आप को भी उस पक्षी के मारनेवाले राजा के समान दुःख होगा ॥ १०।१५॥

हे राजन्! माली जैसे स्नेह और यत्न के साथ वृक्ष-लता आदि में पानी सींचता है और पीछे जब वे फूलते हैं, तब उनसे ढेर के ढेर फल पाता है, वैसे ही आप भी पाण्डवों को स्नेह-जल से सींच कर अपनी भलाई के फूल प्राप्त कीजिए। कोयला बनानेवाले व्यापारी लोग, जैसे वृक्षों को काट कर जला डालते हैं, वैसे पाण्डवों को जड़ से उखाड़ कर उन्हें जला डालने का उपाय न कीजिए। पाण्डवों को अपने बुरे वर्ताव से क्रोधित करके पुत्र, मन्त्री, सेना आदि के साथ यमपुर जाने का यत्न मत कीजिए। मैं सत्य कहता हूं, जो इन्द्र भी मरुद्गणों सहित पाण्डवों से युद्ध करे, तो वह भी नहीं जीत सकता है ॥ १६।१८॥

सभापर्व का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥



अथ त्रयःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

विदुर उवाच—द्यूतं मूलं कलहस्याऽभ्युपैति मिथो भेदं महते दारुणाय ।
तदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥
प्रातीपेयाः शान्तनवा भीमसेनाः सबाह्लिकाः ।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

दुर्योधनो मदेनैष क्षेमं राष्ट्रादपोहति ।
विषाणं गौरिव मदात्स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ॥ ३ ॥
यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम् ।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥
दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन प्रीयायसे* त्वं जयतीति तच्च ।
अतिनर्मा जायते संप्रहारो यतो विनाशःसमुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥
आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाऽयमचिन्तितोऽभिमतः स्वबन्धुना ॥ ६ ॥
प्रातिपेयाः! शान्तनवाः! शृणुध्वं काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम्।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥
यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रुर्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च कोऽत्र द्वीपः स्यात्तुमुले वस्तदानीम्॥ ८ ॥
महाराज ! प्रभवस्त्वं धनानां पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः।

तिरसठवां अध्याय ॥ ६३ ॥

विदुर जी ने फिर कहा—हे राजा धृतराष्ट्र ! यह जुआ कलह की जड़ और आपस में फूट डालनेवाला है। आप का पुत्र दुर्योधन जुआ नहीं खेलता है,किन्तु वैर की जड़ जमा रहा है। इसके अपराध से प्रातीपेय,शान्तनव और बाह्लीकवंशी सब मनुष्य वीरसेना वाले होने पर भी महा कष्ट भोगेंगे। मदोन्मत्त बैल जैसे आप ही पहाड़ से अपने सींग भिड़ाकर तोड़ लेता है, वैसे ही यह दुष्ट दुर्योधन अपनी भलाई और राज्य को अपने हाथ से मिटाना और खोना चाहता है। हे महाराज ! बालक जिसका कर्णधार (मल्लाह) हो उस नाव पर बैठकर समुद्र के पार जानेवाला मनुष्य जैसे घोर संकट में पड़ता है, वैसे उस पुरुष की भी बुरी गति होती है, जो स्वयं वीर तथा बुद्धिमान् होकर अपनी बुद्धि से काम नहीं लेता और दूसरे का मन रखना चाहता है ॥१।४॥

आप यह जानकर प्रसन्न होते हैं, कि मेरा पुत्र जुए में जीतता जाता है, परन्तु इस समय तो यह आप को विनोद दीख पड़ता है, और इसके अन्त में यही जुआ युद्ध रूप होकर मनुष्यों का नाश करेगा। आपने तो सब भाइयों की सम्मति के अनुसार यह निश्चित किया था, कि हम पाण्डवों से अब विरोध न करेंगे। फिर आप इस कलह के मूल जुए को क्यों कराते हैं ? हे प्रतीप और शन्तनु के वंश के लोगो ! तुम तो सब दीर्घदर्शी हो। मैं शुक्र जी की कही हुई नीति को कहता हूं, उसको सुनो और मन्द बुद्धियों की मति पर चलकर अपने को घोर अग्नि में मत जलाओ ॥५।७॥

भला यह तो बतलाओ कि हम जुए के मद से मतवाले होकर युधिष्ठिर,भीमसेन,अर्जुन, नकुल और

* प्रीयमाणोऽर्थार्थेऽनन्तस्य द्वितीयायो द्विचमार्पणं ।

वहुवित्तान्पाण्डवांश्चेजयस्त्वं किं ते तत्स्याद्वसु विन्देह पार्थान् ॥ ९ ॥
जानीमहे देवितं सौवलस्य वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः ।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु मा यूयुधो भारत! पाण्डवेयान् ॥ १० ॥
इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिपष्टितमोऽध्याय. ॥ ६३ ॥

सहदेव क्रोध को न रोककर तुमुल युद्ध करेंगे तब तुम लोगों की कौन रक्षा करेगा ? हे राजा धृतराष्ट्र ! जुए के बिना भी आप बहुत सी सम्पत्ति प्राप्त कर सकते है । आप के पास कुछ कम ऐश्वर्य नहीं है । पाण्डवों का धन जीत लेने से आपका कोई लाभ नहीं है । [इसी से मै कहता हूँ] धन का लोभ छोड़ दीजिए और पाण्डवों को ही अमूल्य धन समझ कर स्नेह से अपनाइए । राजा शकुनि को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ । चौसर के खेल में, पासों की चालाकी में, इसके समान चतुर कोई नहीं है । इसलिये इससे कहिए, यह अपने नगर को चला जाय । आप पाण्डवों को युद्ध में सन्नद्ध न कीजिए ॥८।१०॥

सभापर्व का तिरसठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

अथ चतुःपष्टितमोऽध्याय ॥ ६४ ॥

दुर्योधन उवाच–परेपामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा क्षत्तः! कुत्सयन्धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर! यत्प्रियस्त्वं वालानिवाऽस्मानवमन्यसे नित्यमेव ॥ १ ॥
स विज्ञेयः पुरुपोऽन्यत्रकामो निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति ।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो न ज्यायसः कुथा मनसःप्रातिकूल्यम् ॥२॥
उत्सङ्गे च व्याल इवाऽऽहितोऽसि मार्जारवत्पोपकं चोपहंसि ।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहुस्तस्मात्क्षत्तः! किं न विभेपि पापात् ॥ ३ ॥
जित्वा शत्रून्फलमाप्तं महद्वै माऽस्मान्क्षत्तः परुपाणीह वोचः ।

चौंसठवा अध्याय ॥ ६४ ॥

तब दुर्योधन ने कहा–हे विदुर ! तुम सदैव हम लोगों की निन्दा करके दूसरों की बड़ाई किया करते हो । हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम दूसरों ही के हित में अनुरक्त रहते हो । तुम हम बालक समझकर सदा हमारा अनादर किया करते हो । जो मनुष्य अपने स्वामी की निन्दा और दूसरों की बड़ाई करता है, उसको समझना चाहिये, यह अपने स्वामी को नहीं चाहता है । तुम्हारी जिह्वा (जबान) ही तुम्हारे मन और अतःकरण (दिल) की द्वेषता को प्रकट करती है । परन्तु हम को बड़ा आश्चर्य यह है, कि जो मनुष्य द्वेष भी रखता है, वह भी लोक लज्जा से उस द्वेष को प्रकट नहीं करता है, परन्तु तुम को लोक लज्जा भी नहीं है । तुम सर्प के समान गोद में और बिल्ली की तरह हमारे घर में रहकर हमारा ही गला काटते हो । स्वामी के साथ द्रोह करना बड़ा पाप है, परन्तु आश्चर्य है, कि तुम पाप से नहीं डरते हो ? हमने तो अपने शत्रुओं को जीत कर परम पुरुषार्थ या जीवन का फल प्राप्त किया

द्विषद्भिस्त्वं संप्रयोगाभिनन्दी मुहुर्द्वेषं यासि नः संप्रयोगात् ॥ ४ ॥
अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे ।
तदाश्रितोऽपत्रप! किं नु बाधसे यदिच्छसि त्वं तदिहाऽभिभाषसे ॥ ५ ॥
मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात् ।
यशो रक्षस्व विदुर! संप्रणीतं मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥ ६ ॥
अहं कर्तेति विदुर! मा च मंस्था मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः ।
न त्वां पृच्छामि विदुर! यद्धितं मे स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून्क्षिणु त्वम् । ७ ।
एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनाऽनुशिष्टः प्रवणादिवाऽम्भो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि ॥ ८ ॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः ।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम् ॥ ९ ॥
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति ।
मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥ १० ॥
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक्चिरं नाऽभिधावति ।

है, तुम हमसे खोटे वचन मत कहो। तुम को हम से मित्रता करके शत्रु से मिलाप रखना और अन्त करण में हम से द्वेष मानना उचित नहीं है ॥१।४॥

जो मनुष्य क्षमा के अयोग्य वचन कहता है, उसको शत्रु समझना चाहिये। शत्रु की बड़ाई करने से तुम्हारा छिपा हुआ वैर ठीक ठीक प्रकट होता है। तुम को लज्जा नहीं आती है, कि हमारे पिता के आधिन होकर, हमसे जो चाहे सो कह रहे हो! अब तुम हमारा अपमान मत करो। हम तुम को अच्छी तरह जानते हैं, वृद्ध मनुष्यों के पास बैठकर बुद्धि सीखो। अपने इस यश की रक्षा करो, जो तुम को प्राप्त हो चुका है। शत्रु के हित के कामों में अपने को मत लगाओ। करनेवाला तो मैं हूँ, हमारा अपमान करने और कठोर वचन बोलने से क्या प्रयोजन है। हम तुम से कुछ हित की सलाह नहीं पूछते हैं। इस लिये तुम हम को बार बार दुःख मत दो। इस संसार में शासन करनेवाला एक ईश्वर ही है, दूसरा कोई नहीं है। वही गर्भ में भी बालक को शासन करता है और उसी की इच्छा से मैं भी यह कर्म कर रहा हूँ। देखो, जो मनुष्य साप को खिलाता और पहाड़ की चोटी पर चढ़कर चोटी को ही गिराता है, वह भी तो बुद्धि रखता है। जो दूसरा कोई उसका बुद्धि का प्रेरक न हो, तो क्या वह यह नहीं जान सकता है, कि सांप को खिलाने से सांप काट खायगा और पहाड़ पर से गिर पड़ूँगा। अनेक लोग अपने पालन करनेवाले को कभी शिक्षा नहीं करते हैं और जो कोई मनुष्य कपूर में आग लगा के और शीघ्र उस आग को

भस्मापि न स विन्देत शिष्टं कचन भारत ! ॥ ११ ॥
न वासयेत्पारवर्ग्यं द्विषन्तं विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम्।
स यत्रेच्छसि विदुर ! तत्र गच्छ सुसांत्विता ह्यसती स्त्री जहाति॥ १२ ॥
विदुर उवाच—एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति तेषां सख्यमन्तवद्‌ ब्रूहि राजन् ! ।
राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति॥ १३ ॥
अबालस्त्वं मन्यसे राजपुत्र ! बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ! ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १४ ॥
न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्रीश्रो त्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥
अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥ १६ ॥
लभ्यते खलु पापीयान्नरो नु प्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७ ॥
यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।

बुझाने का यत्न न करे तो, उस कपूर की उसको फिर राख भी नहीं मिलती है ५।११॥

इसी प्रकार से जो मनुष्य अपना शत्रु और द्रोही हो, उसको अपने पास बसा कर कपूररूपी कल्याण में आग लगवाना उचित नहीं है । इससे अब तुम हमारे यहां से चले जाओ और जहां चाहे तहां रहो । दुर्योधन के ये वचन सुनकर विदुर जी ने कहा—जो मनुष्य इतनी ही बात पर दूसरे को त्याग देता है, उसके साथ मित्रता सदैव नहीं रहती है। अब निश्चय हो गया, कि राजा लोगों के चित्त द्वेष से भरे हुए रहते हैं । पहले तो ये मिल कर मित्र बना लेते हैं और पीछे से उसी को मूसलों से मारते हैं। तुम मुझको अज्ञानी जानकर अपने को पण्डित समझते हो । परन्तु अज्ञानी वही है, जो पहले तो किसी को सुहृद माने और पीछे उसी में दोष लगाकर उसकी बात का विश्वास न करे । जो मनुष्य मन्दबुद्धि होता है, वह किसी प्रकार से कल्याणकारी काम में नहीं लगाया जा सकता है, जैसे वेदपाठी के घर में दुष्ट स्त्री होने से योग्य कर्म नहीं करती है। तुम को हमारा हितकारी उपदेश इस प्रकार से अच्छा नहीं मालूम होता है, जैसे कुमारी स्त्री साठ वर्ष के पति को नहीं चाहती है।१२।१५॥

यदि तुम हित और अहित के सभी कामों में प्रिय बात ही सुनना चाहते हो, तो स्त्री, जड़, लूले-लँगड़े आदि से ही सम्मति लिया करो । संसार में, भीतर के बुरे, पर प्रिय वचन बोलनेवाले, खुशामदी मनुष्य बहुत से मिल जायँगे; परन्तु अप्रिय होने पर भी हित की बात कहनेवाले और सुननेवाले

अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १८ ॥
अव्याधिजं कटुजं तीक्ष्णमुष्णं यशोमुषं परुषं पूतिगन्धिम् ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज ! पिब प्रशाम्य ॥ १९ ॥
वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च वाच्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ॥ २० ॥
आशीविषान्नेत्रविषान्कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ! ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

लोग बहुत ही दुर्लभ हैं । राजा की सहायता वही मनुष्य कर सकता है, जो राजा के प्रिय-अप्रिय काम को करने के भय को छोड़कर और धर्म को श्रेष्ठ मानकर परिणाम में हित करनेवाले कडुवे वचन कहता है १६।१८॥

जैसे कोई रोगी मनुष्य कड़ुवी, तीक्ष्ण और कषैली औषधियों को पीकर आरोग्य हो जाता है, इसी प्रकार से तुम भी हमारे कडुवे, तीक्ष्ण, कषैले, यश करनेवाले और सुख देनेवाले औषध रूपी मन्त्र को पीकर इस क्रोध रूपी रोग को शान्त करो। मैं सदा यही चाहता हूँ, कि विचित्रवीर्य के पुत्र महाराज धृतराष्ट्र का और उनके पुत्रों का यश और धन बढ़े । मैं तुमको प्रणाम करता हूँ । जिस तरह तुम अपने यश और धन की वृद्धि का होना समझो, उस तरह वही काम करो । मैं ब्राह्मणों से प्रार्थना करता हूँ, कि वे मुझे कल्याण का आशीर्वाद दें । फिर भी हे कुरुनन्दन ! मैं तुमसे यही कहता हूँ, कि पण्डित पुरुष को उन विषैले सर्पों को कुपित न करना चाहिये, जिनकी दृष्टि में दारुण विष की आग रहती है । तात्पर्य यह है कि तुम पाण्डवों को अपने अनुचित व्यवहार से कोप न दिलाओ ॥१९।२१॥

सभापर्व का चौंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

शकुनिरुवाच—बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ! ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय ! यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच-मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ! ।

पैंसठवाँ अध्याय ॥ ६५ ॥

अब शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा–हे युधिष्ठिर ! आप जुए में पाण्डवों का बहुत सा धन हार चुके हैं । अब यदि आपके पास ऐसी कुछ सम्पत्ति और हो, जिसको आप अभी तक नहीं हारे, तो बताइए। युधिष्ठिर ने कहा—हे राजा सुबल के पुत्र शकुनि ! मेरे पास असंख्य धन है, जिसे मैं जानता हूँ । तुम धन के बारे में क्यों पूछते हो ? अयुत, प्रयुत, शङ्कु, पद्म, अर्बुद,

अब मेरे पास जो अयुत,प्रयुत, शङ्कु, निखर्व, अर्बुद,

अथ त्वं शकुने ! कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि? ॥ २ ॥
अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथाऽर्बुदम् ।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ॥ ३ ॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं* चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच-गवाश्वं बहु ×धेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत्किंचिदनुपर्णाशां प्राक्सिन्धोरपि सौवल ! ।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच-पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजन् ! शिष्टं धनं मम ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच-राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः ।

शङ्ख, पद्म, महापद्म, कोटि, मध्य और परार्ध और इससे भी अधिक जितना धन है, सब को दांव पर लगाता हूँ, तुम पांसा फेंको । वैशम्पायन ने कहा— हे राजा जनमेजय ! उस छली शकुनि ने यह सुनकर पांसा फेंक दिया और बोला, कि मैं यह सब धन जीता ॥१।५॥

तब युधिष्ठिर ने कहा—अब मेरे पास जो बैल घोड़े, गौ और असंख्य भेड़ और बकरियां यहां और पर्णाशा नदी और समुद्र के पास हैं, उन सब को मैं दांव पर लगाता हूं। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! उस छली शकुनि ने यह दांव सुनकर पांसे फेंके और बोला कि मैं जीता । युधिष्ठिर ने कहा—नगर, देश, पृथ्वी, ब्राह्मणों के धन के सिवाय सब वर्णों का धन और ब्राह्मणों के सिवाय सब मनुष्यों को मैं दांव पर लगाता हूं, तुम पांसे फेंको । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! वह छली शकुनि उस दांव

---

* सपरं साधिकं परार्धात् द्व्यधिकमित्यर्थः । × धेनूनां (दुग्धदात्रीणाम्) समूहः धेनुकं [illegible] ।

कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच—श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १२ ॥
शकुनिरुवाच—प्रियस्ते नकुलो राजन्राजपुत्रो युधिष्ठिर ! ।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्शकुनिः प्रत्यदीव्यत ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अयं धर्मान्सहदेवोऽनुशास्ति लोके ह्यस्मिन्पण्डिताख्यां गतश्च ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं चाऽप्रियवत्प्रियेण ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥
शकुनिरुवाच—माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया ।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनञ्जयौ ॥ १७ ॥

को सुनकर प्रसन्न हुआ और पांसा फेंककर बोला कि मैं जीता। इसके पीछे युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि! ये सभा में उपस्थित सब राजपुत्र जो कुण्डल आदि आभूषण पहने हुए बैठे है, उन सब को मैं दांव पर लगाता हूं। वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! इस छली शकुनि ने यह सुनकर पासे फेंके और कहा मैं जीता ॥६।११॥

तब युधिष्ठिर ने कहा—मैं अपने नकुल नाम भाई को, जो श्याम वर्ण और जवान है, नेत्र जिसके लाल-लाल, कन्धे सिंह के से और बांहें लम्बी-लम्बी हैं, दाव पर लगाता हूं। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! शकुनि ने पहले की तरह पासे फेंकते ही नकुल को जीतकर कहा—हे महाराज! आपके प्यारे भाई नकुल को मैंने जीत लिया। अब आप दाँव पर क्या लगाते हैं? ॥१२।१४॥

युधिष्ठिर ने कहा–हे शकुनि! अब मैं अपने प्यारे भाई सहदेव को, जो धर्म का उपदेश करनेवाला और पण्डित है, दांव पर लगाता हूँ, यद्यपि यह इस योग्य नहीं है। वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! वह छली शकुनि यह सुनकर और पांसे फेंककर बोला- कि मैं जीता। सहदेव को जीतकर शकुनि ने कहा–हे महराज! अपने प्यारे भाई माद्री के पुत्रों को तो आप हार गये, अब और क्या लगाइएगा? शायद भीमसेन और अर्जुन को

युधिष्ठिर उवाच—अधर्मं चरसे नूनं यो नाऽवेक्षसि वै नयम् ।
यो नः सुमनसां मूढ ! विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १८ ॥
शकुनिरुवाच—गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति ।
ज्येष्ठो राजन्वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ! ॥ १९ ॥
स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर ! ।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच—यो नः संख्ये नौरिव पारनेता जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी ।
अनर्हता लोकवीरेण तेन दीव्याम्यहं शकुने! फाल्गुनेन ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २२ ॥
शकुनिरुवाच—अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः पराजितः पाण्डवः सव्यसाची ।
भीमेन राजन्दयितेन दीव्य यत्कैतवं पाण्डव! तेऽवशिष्टम् ॥ २३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—यो नो नेता यो युधि नः प्रणेता यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा सिंहस्कन्धो यश्च सदाऽत्यमर्षी ॥ २४ ॥
बलेन तुल्यो यस्य पुमान्न विद्यते गदाभृतामग्र्य इहाऽरिमर्दनः ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ! ॥ २५ ॥

आप दांव पर न रख सकें; क्योंकि ये आप को इन दोनों भाइयों से अधिक प्यारे हैं । यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे नीति को न जाननेवाले मूढ ! तू हम भाइयों में, परस्पर सम्मति देखकर, फूट डलवाना चाहता है । निस्सन्देह यह तेरा घोर अधर्म है ॥१५।१८॥

शकुनि ने कहा—हे महाराज ! आप पाण्डवों के बड़े और माननीय हैं । इस लिये मैं आपको प्रणाम करके कहता हूँ, कि धन में चित्त लगाकर अधर्म करनेवाला मनुष्य नरकगामी या स्थावर योनियों में पैदा होता है और जिन-जिन बातों को मतवाले जुआरी लोग कहते हैं, वे बातें स्वप्न अथवा जाग्रत अवस्था में भी यहां दिखाई नहीं देती हैं । यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि ! अच्छा, हम अपने भाई अर्जुन को जो हम सब को युद्ध में नाव की तरह पार उतारनेवाला और शत्रुओं को जीतनेवाला है, उसको मैं दांव पर लगाता हूँ, यद्यपि वह इस योग्य नहीं है । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! उस छली शकुनि ने इस दांव को सुनकर पासा फेंका और कहा कि मैं जीता ॥१९।२२॥

और उसको जीतकर कहने लगा, कि मैं पाण्डवों के बड़े धनुषधारी अर्जुन को तो जीत चुका । अब आप के पास भीमसेनरूपी धन और रह गया है । उसको भी दांव पर लगा दीजिए । यह धन भी

वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥
शकुनिरुवाच—बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातृंश्च सह यद्द्विपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय! यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ २७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा ।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥ २८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २९ ॥
शकुनिरुवाच—एतत्पापिष्ठमकरोर्यदात्मानं पराजयेः ।
शिष्टे सति धने राजन्पाप आत्मपराजयः ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा मताक्षस्तान्ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक्पृथक् ॥ ३१ ॥
शकुनिरुवाच—अस्ति ते वै प्रिया राजन्ग्लह एकोऽपराजितः ।

खिलाड़ियों से जीतने के योग्य है । यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि ! दानवों के शत्रु, इन्द्र के समान बली और प्रतापी, युद्ध में हम लोगों के अगुआ का काम करनेवाले, सिंहस्कन्ध,परम क्रोधी, भौंहें टेढ़ी करके तिरछी दृष्टि से देख रहे इन भीमसेन को मैं दांव पर लगाता हूँ । पृथ्वी पर बल में जिनकी बराबरी कर सकनेवाला कोई पुरुष नहीं है,गदायुद्ध में जो अद्वितीय हैं, उन शत्रुदमन राजपुत्र भीमसेन को भी मैं दांव पर लगाता हूँ, यद्यपि वह इस योग्य नहीं है । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! यह सुनकर शकुनि ने फिर पांसा फेंका और कहा कि मैं जीता ॥२३।२६॥

शकुनि ने फिर कहा—हे महाराज ! बहुत से मणि, रत्न, धन, हाथी-घोड़े, रथ और भाइयों को भी आप हार गये । अब ऐसा कुछ धन आपके पास हो जिसे आप न हारे हों, तो बताइए । युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि ! मैं सब भाइयों का प्यारा और इस जुए में हारनेवाला शेष रह गया हूँ, सो मैं अपने आप को दांव पर लगाता हूँ । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! उस छली शकुनि ने यह सुनकर पांसा फेंका और कहा कि मैं जीता ॥२७।२९॥

युधिष्ठिर को भी जीतकर शकुनि ने उनसे कहा—हे कुन्तीपुत्र ! आप ने यह बड़ा नीच काम किया, जो धन के शेष रहने पर अपने आप को हार दिया । धन शेष रहने पर अपने को हारना पाप का हेतु होता है । वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! पांसे हाथ में लिये शकुनि ने इस प्रकार कपट के जुए में अलग-अलग प्रसिद्ध और अद्वितीय वीर पाण्डवों को जीत चुकने पर कहा—हे महाराज अभी आप की एक सम्पत्ति शेष है, उसे आप नहीं हारे हैं । । अब आप पाञ्चाली द्रौपदी को दांव पर लगा दीजिए । जो इस बार आप की जीत हुई तो

पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नाऽतिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३४ ॥
तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद्रूपसंपदा ।
तथा स्याच्छलिसंपत्त्या यामिच्छेत्पुरुषः स्त्रियम् ॥ ३५ ॥
सर्वैर्गुणैर्हि संपन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥ ३६ ॥
चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३७ ॥
आभाति पद्मवद्वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।
वेदीमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥ ३८ ॥
तयैवंविधया राजन्पाञ्चाल्याऽहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल! ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४० ॥

आप दासत्व से छुटकारा पा जायँगे ॥३०।३२॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—जो न बहुत छोटी है और न बहुत लम्बी; न बहुत मोटी है और न बहुत दुबली; जिसके नील कुंचित केश हैं; जिसके नेत्र शरद ऋतु के फूले हुए कमलों के समान हैं; जिसके शरीर में कमल की सुगन्ध निकलती है; जिसके हाथ में कमल का फूल शोभा बढ़ाया करता है, उसके गुण, आज्ञा का पालन, मीठा बोल, और धर्म-अर्थ और काम की सिद्धि को देखकर ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उसे न चाहे ॥३३।३६॥

वह सब से पहले सोकर उठती और सबसे पीछे सोती है; और गोपाल और भेड़पाल आदि तक के कामों की देख-भाल रखती है। उसका कमल-तुल्य मुख पसीना निकलने से मल्लिका के फूल के समान देख पड़ता है। उसके शरीर में बहुत रोएँ नहीं हैं। उसकी कमर पतली और बाल लम्बे हैं। यद्यपि उस सर्वाङ्गसुन्दरी द्रौपदी को दांव पर लगाना बड़े दुःख की बात है, परन्तु मैं उसे भी दाँव पर लगाता हूं। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! युधिष्ठिर के मुख से यह सुनते ही वृद्ध लोग और सब सभासद धिक्कार है, धिक्कार है, कहने लगे ॥३७।४०॥

चुक्षुभे सा सभा राजन्राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ४१ ॥
शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाऽभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ४२ ॥
धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत्पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥ ४३ ॥
जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४४ ॥
सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान्पुनरेवाऽन्वपद्यत ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

उस समय सब राजा लोग शोक करने लगे और भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य की देह में से पसीना निकलने लगा। और विदुर जी सिर पकड़ कर नीचे को मुख किये हुए सर्प के समान श्वास लेने लगे। उस समय धृतराष्ट्र अपने मन के भाव को नहीं छिपा सके। वे प्रसन्न हो-होकर बार-बार पूछने लगे--क्या जीता है? क्या जीता है? उस समय कर्ण, दुःशासन आदि हँसने लगे और सभा में बैठे हुए मनुष्यों की आँखों से आंसू गिरने लगे। इसके पीछे उस छली शकुनि ने द्रौपदी को दांव पर धरा हुआ सुनकर पासे उठा लिये और फेंक कर कहने लगा कि मैं जीता ॥४१।४५॥

सभापर्व का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

दुर्योधन उवाच—एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व प्रियां भार्यां संमतां पाण्डवानाम् ।
संमार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥
विदुर उवाच–दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन न मन्द ! संबुध्यसि पाशबद्धः ।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि व्याघ्रान्मृगः कोपयसेऽतिवेलम् ॥ २ ॥

छासठवां अध्याय ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर के सर्वस्व हारने पर दुर्योधन ने विदुर जी से कहा—हे विदुर! तुम अभी जाकर पाण्डवों की प्यारी स्त्री द्रौपदी को सभा में ले आओ। यह अपुण्यशीला (अभागिन) दासियों के साथ रहकर हमारे घर की बुहारी दिया करे। यह सुनकर विदुर जी ने कहा—हे मन्द बुद्धे! तूने ये जो कठोर वचन कहे हैं उन्हें कोई पुरुष, जो मनुष्य होने का अभिमान रखता होगा, नहीं कहेगा। तू काल-पाश

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः ।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन्! मागमस्त्वं यमक्षयम् ॥ ३ ॥
न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥
अयं धत्ते वेणुरिवात्मऽऽघाती फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकाले ॥ ५ ॥
नाऽरुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययाऽस्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेदुषतीं* पापलोक्याम् ॥ ६ ॥
समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाऽमर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ७ ॥
अजो हि शस्त्रमगिलत्किलैकः शस्त्रे विपन्ने शिरसाऽस्य भूमौ ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं तद्वद्वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥
न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥
द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
तमन्वेतारो बहवः कुरूणां द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥

में बँधा हुआ है, इसी से कुएँ में पाँव लटकाकर भी अपने पतन को नहीं जान पाता। तू मृग होकर व्याघ्रों को क्रोध दिला रहा है। हे दुरात्मा! नियम का उल्लङ्घन न कर। हे नीच बुद्धिवाले दुर्योधन! विषैले सर्प कुपित होकर तेरे सिर पर बैठे हैं; उनको अब अधिक कुपित करके तू यमपुर जाने की तैयारी मत कर। द्रौपदी कभी तेरी दासी नहीं हो सकती। क्योंकि युधिष्ठिर ने पहले अपने को हारकर फिर द्रौपदी को दाव पर लगाया है। अपने हारने पर युधिष्ठिर द्रौपदी का ईश नहीं रहा। मुझे दीखता है, कि यह दुर्योधन राजा वेणु की तरह शीघ्र नष्ट होने-वाला है। इस जुए में बड़ा भारी वैर उत्पन्न हो गया और दुर्योधन अन्त समय आने के कारण से मतवाला हो रहा है। मनुष्य को कठोर वचन बोलना, मर्मों को छेदना, नीच कर्म से शत्रु को वश में करना और दूसरे को जलानेवाली और उद्वेग करनेवाली बात कहना, उचित नहीं है। ऐसा करने से मनुष्य नरकगामी होता है। जो मनुष्य मर्यादा के विपरीत ऐसे वचन दूसरे से कहता है, जिनके कारण से दूसरे को दिन रात सोच रहता है, उसका फल कहनेवाला ही भोगता है। दूसरे का उससे कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। जो पण्डित हैं, वे ऐसे वचन दूसरे से कभी नहीं कहते हैं। एक

* उषती दाहिका, रुशतीमिति पाठान्तरम्, अकल्याणीमिति तदर्थः।

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव !
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥ ११ ॥
अन्तो नूनं भविताऽयं कुरूणां सुदारुणः सर्वहरो विनाशः ।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

बकरे ने कहीं पड़े हुए एक शस्त्र को निगल लिया था। इससे उस बकरे का गला कट गया, अन्त में वह मूर्ख बकरा मर गया। इसी तरह हे दुर्योधन! तू पाण्डवों से वैर करके अपने हाथों अपना नाश मत कर। पाण्डव लोग कभी वनवासी, गृहस्थ, विद्वान्, तपस्वी, किसी से ऐसे कठोर और बुरे वचन नहीं कहते। नीच और कुत्ते की प्रकृतिवाले लोग ही ऐसे खोटे वचन कहते और भौंकते हैं। नरक का बड़ा द्वार कुटिलता है। दुर्योधन इस बात को नहीं जानता है। और दुःशासन आदि बहुत से मनुष्य इस द्यूत आदि कामों में उसके साथी हैं। ये सब डूबना चाहते हैं और मेरे पथ्यरूपी वचनों को नहीं सुनते। अब इस दुर्योधन के कारण से सब हरण और कुरुवंशियों का नाश होना चाहता है। सब सुहृदों को पथ्य के समान जो हमने शुक्र के कहे हुए वाक्य सुनाये हैं, उनको यह लोग नहीं सुनते हैं और अपने लोभ को बढ़ाते जाते हैं ॥११।१२॥

—*:*—

सभापर्व का छासठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
अवैक्षत प्रातिकामीं* सभायामुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥
दुर्योधन उवाच त्वं प्रातिकामिन्द्रौपदीमानयस्व न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य ।

सड़सठवाँ अध्याय ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! दुरात्मा दुर्योधन ने विदुर जी को बार-बार धिक्कार देकर प्रातिकामी की ओर देखा। वह उस भरी सभा में प्रातिकामी से कहने लगा—हे प्रातिकामी! तुम इसी समय जाकर द्रौपदी को इस सभा में ले आओ। इन डरे हुए विवश पाण्डवों से तुम्हें कुछ भी भय नहीं है। ये विदुर पाण्डवों के भय से ही मुझे ऐसे कठोर वचन सुना रहे हैं। विशेषकर ये हमारी बढ़ोतरी नहीं चाहते, इसी कारण सदा हमारा विरोध किया करते हैं। वैशम्पायन ने कहा हे राजन्! वह सारथी प्रातिकामी दुर्योधन की आज्ञा पाकर पाण्डवों के रहने के स्थान में इस प्रकार से घुस

* प्रातिकामीनम्ना दृश्यान्त इत्यन्वय ।

प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥

प्रातिकाम्युवाच युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो दुर्योधनो द्रौपदि! त्वामजैषीत् ।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि! ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच-कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्! को हि दीव्येद्भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो ह्यभून्नाऽन्यत्कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच-यदा नाऽभूत्कैतवमन्यदस्य तदाऽदेवीत्पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि! ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच-गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज! ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवाऽपि माम् ॥ ७ ॥
एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज! ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच-सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥ ९ ॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवाऽपि माम् ॥ १० ॥
युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्व इवाऽभवत् ।

गया, जैसे कुत्ता सिंह के भवन में प्रवेश करता है। अब पाण्डवों की पत्नी, द्रौपदी के पास जाकर उस प्रातिकामी ने कहा—हे द्रौपदी! युधिष्ठिर जुए के मद में मतवाले हो रहे हैं, उन्होंने तुमको हार दिया है और दुर्योधन ने तुमको जीता है। इसलिये तुम अब दुर्योधन के भवन में चलो और वहां दासियों के साथ काम-काज करो ॥१।४॥

यह सुनकर द्रौपदी ने कहा-हे प्रातिकामी! ऐसा कौन राजपुत्र मूढ़ जुए के मद से मतवाला होगा, जो स्त्री रूपी धन से जुआ खेलेगा! तू यह क्या कह रहा है! क्या युधिष्ठिर के पास जुआ खेलने को और कुछ धन नहीं है! प्रातिकामी ने कहा-युधिष्ठिर जुए में सब राज्य और धन हार गये। अन्त में जब कुछ न बचा, तब उन्होंने पहले अपने भाई और अपने को हार दिया और पीछे तुमको भी हार गये। द्रौपदी ने कहा-अच्छा, तू सभा में जाकर राजा से पूछ, कि उन्होंने पहले मुझ को हारा है, या अपने को! उनके उत्तर को सुनकर फिर तेरे साथ चलूँगी, यद्यपि इस में मुझ को बड़ा दुःख है ॥५।८॥

वैशम्पायन कहते हैं—द्रौपदी की बात को सुनकर प्रातिकामी सभा में गया और युधिष्ठिर से पूछने लगा, कि आप से द्रौपदी ने पूछा है, कि आप ने पहले किस को हारा है, मुझ को, या अपने को!

न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच-इहैवाऽऽगत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद्वचः ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच-स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथन्निव ॥ १३ ॥

प्रातिकाम्युवाच-सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति मन्ये प्राप्तः संशयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ! ॥ १४ ॥

द्रौपद्युवाच-एवं नूनं व्यदधात्संविधाता स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥
सोऽयं धर्मो माऽत्यगात्कौरवान्वै सभ्यान्गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत्करिष्ये धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचुर्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुध्वा ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच-युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः संमतं दूतं प्राहिणोद्भरतर्षभ ! ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।

यह सुनकर युधिष्ठिर ने अच्छा अथवा बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया। तब दुर्योधन ने प्रातिकामी से कहा-द्रौपदी यहीं आकर, जो कुछ पूछना हो सो धर्मराज से पूछे। इस सभा में ही सब लोग द्रौपदी की और इनकी बात-चीत सुनें ॥११।१२॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! वह प्रातिकामी दुर्योधन की आज्ञा पाकर फिर द्रौपदी के पास गया और कहने लगा-हे राजकुमारी ! सभासद लोग तुमको सभा में ही बुलाते हैं। मुझे जान पड़ता है कि अब कौरवों के नाश होने का समय आ गया है। दुर्योधन अपनी वृद्धि अब नहीं चाहता है, इसी कारण से तुम को वहीं बुलाता है। द्रौपदी ने कहा-हे सूत पुत्र ! यह विधाता का ही विधान है। बूढ़े और बालक सभी इसी विधाता के विधान के अनुसार सुख या दुःख पाते हैं। संसार में धर्म ही सब से बढ़कर है, मुझे निश्चय है, मेरा धर्म ही मेरी रक्षा करेगा। इस लिये तू अब फिर सभा में जाकर सब नीति जाननेवाले और गुणवान् श्रेष्ठ सभा में बैठे हुए मनुष्यों से कह दे, कि कौरवों को अपना धर्म छोड़ना उचित नहीं है। मुझे निश्चय करके ठीक-ठीक उत्तर दें, उत्तर पाने पर जैसा वे कहेंगे वैसा ही करूँगी ॥१३।१६॥

वैशम्पायन कहते हैं-यह सुनकर वह प्रातिकामी फिर सभा में गया और जो कुछ द्रौपदी ने

सभामागम्य पाञ्चालि ! श्वशुरस्याऽग्रतो भव ॥ १९ ॥
अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे विनिन्देरन्मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥ २० ॥
स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ! ।
न्यवेदयन्मतं धीमान्धर्मराजस्य निश्चितम् ॥ २१ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनाऽतिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥ २२ ॥
ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ २३ ॥
ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्यानुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ २४ ॥
दुर्योधन उवाच दुःशासनैष मम सूतपुत्रो वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्याऽऽनय याज्ञसेनीं किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥ २५ ॥
ततः समुत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद्वेश्म महारथानामित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २६ ॥

कहा था, कह सुनाया, परन्तु पाण्डवों ने उस दुर्योधन के हठ को जान कर कुछ उत्तर नहीं दिया, नीचे को गर्दन झुकाये हुए बैठे रहे। वैशम्पायन ने कहा, कि इस के पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने उस बात को सुनकर जो दुर्योधन किया चाहता था, द्रौपदी के पास दूत भेज कर कहला भेजा, कि तू यद्यपि रजस्वला और एक वस्त्र ही पहने हुए है। परन्तु अब यहां आकर अपने श्वसुर राजा धृतराष्ट्र के सम्मुख खड़ी हो जा। यह सुनकर वह दूत द्रौपदी के पास गया और जो कुछ युधिष्ठिर ने कहा था, वह सुनाया ॥१७।२१॥

उस समय पाण्डवों ने दुःखी दीन और सत्य से पूर्ण होकर लज्जा के मारे ऊपर को दृष्टि नहीं की। इसके पीछे दुर्योधन ने पाण्डवों का मुख देख कर प्रसन्न होकर प्रातिकामी को आज्ञा दी, कि तू द्रौपदी को यहीं ले आ। यहां सब कौरववंशियों के सामने, जो कुछ उसको कहना हो, सो प्रत्यक्ष कहे। यह सुनकर उस सूत ने द्रौपदी के कोप से भयभीत होकर और दुर्योधन की आज्ञा को तिरस्कार करके सभावाले मनुष्यों से पूछा, कि मैं द्रौपदी से क्या जाकर कहूँ ! यह सुनकर दुर्योधन ने दुःशासन को आज्ञा दी, कि यह मेरे सूत का बेटा भीमसेन से डरा हुआ है, तेरा अब शत्रु कुछ नहीं कर सकते हैं, तू आप जाकर द्रौपदी को पकड़ ला ॥२२।२५॥

यह आज्ञा पाकर दुःशासन सभा में से उठकर उन महारथी पाण्डवों के घर के भीतर चला गया

एह्येहि पाञ्चालि! जिताऽसि कृष्णे! दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून्भजस्वाऽऽयतपत्रनेत्रे! धर्मेण लब्धाऽसि सभां परैहि ॥ २७ ॥
ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २८ ॥
ततो जवेनाऽभिससार रोषाद्दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २९ ॥
ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात्प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ ३० ॥
स तां पराकृष्य सभासमीपमानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथवच्चकर्ष वायुः कदलीमिवाऽऽर्ताम् ॥ ३१ ॥
सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः शनैरुवाचाऽथ रजस्वलाऽस्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नाऽर्हसि मामनार्य ॥ ३२ ॥
ततोऽब्रवीत्तां प्रसभं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।

और द्रौपदी से कहने लगा—हे पांचाली! हे कृष्णा! आओ-आओ। तुम्हें जुए में कौरवों ने पाण्डवों से जीत लिया है। अब लज्जा छोड़कर सभा में चलो और दुर्योधन को देखो। हे कमल-नयनी! अब तुम कौरवों की सेवा करो, क्योंकि हम लोगों ने तुमको धर्म से जीतकर प्राप्त किया है। अब [दुरात्मा दुःशासन के लाल-लाल नेत्र देखकर और उसका बलपूर्वक ले आने का विचार जानकर] द्रौपदी अत्यन्त दुखी हुई। वह अपने उदास चेहरे पर बह रहे आँसुओं को हाथों से पोंछती हुई आर्त भाव से रनिवास की ओर भागी, जहा धृतराष्ट्र के घर की स्त्रियाँ थीं। नीच दुःशासन भी क्रोध के मारे गरजता हुआ द्रौपदी के पीछे दौड़ा, थोड़ी ही दूर पर उसने द्रौपदी के शोभायमान बालों को पकड़ लिया ॥२६।२९॥

देखो ईश्वर की क्या गति है, कि जो बाल राजसूय यज्ञ में अवभृथ नाम स्नान में मन्त्रों के जल से सींचे गये थे, उन्हीं को दुःशासन ने पाण्डवों के पराक्रम को कुछ न समझकर पकड़कर मरोर डाला। हवा से हिल रहे केले के समान काँपती हुई और सनाथ होने पर भी अनाथ हो रही, बड़े-बड़े बालोंवाली द्रौपदी को खींचता हुआ दुःशासन सभा के पास ले आया। तब अपने को खींच रहे दुःशासन से द्रौपदी ने धीमे से कहा हे मन्दबुद्धि! हे नीच! मैं इस समय रजस्वला हूँ और एक ही वस्त्र पहने हुए हूँ। इसलिये तू मुझे गुरुजनों के आगे सभा में मत ले चल, किन्तु दुःशासन को कुछ दया न आई। इसके पश्चात् "हे कृष्ण! हे अर्जुन! हे हरि! हे नर! मेरी रक्षा करो" ऐसा शोक द्रौपदी करने लगी। इतने में दुःशासन ने और भी जोर से बाल पकड़कर खींचते हुए द्रौपदी से कहा—हे पाञ्चाली! चाहे तुम रजस्वला हो, या एक वस्त्र हो! अथवा वस्त्र-

कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३३ ॥

दुःशासन उवाच-रजस्वला वा भव याज्ञसेनि ! एकाम्बरा वाऽप्यथवा विवस्त्रा ।

द्यूते जिता चासि कृतासि दासी दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।

ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३५ ॥

द्रौपद्युवाच इमे सभायामुपनीतशास्त्राः क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।

गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३६ ॥

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त ! मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकार्षीः ।

न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः सेन्द्रापि देवा यदि ते सहायाः ॥ ३७ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।

वाचाऽपि भर्तुः परमाणुमात्रमिच्छामि दोषं न गुणान्विसृज्य ॥ ३८ ॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये रजस्वलां यत्परिकर्षसे माम् ।

न चापि कश्चित्कुरुतेऽत्र कुत्सां ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेतः ॥ ३९ ॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।

रहित ही क्यों न हो, जुए में जीती गई हो, अतएव दासी बनी हो, दासियों को स्वामी की इच्छा के अनुसार वस्त्रादि दिया जाता है ॥३०।३४॥

वैशम्पायन कहते हैं–हे राजा जनमेजय ! तब वह द्रौपदी, जिसके शरीर पर से आधा वस्त्र गिर गया था, बाल फैल गये थे और दुःशासन के खींचने के कारण से काप रही थी, क्रोध करके धीरे से बोली इस सभा में सब बड़े बूढे गुरु के समान, सब शास्त्र जाननेवाले बैठे हुए हैं, उनके आगे इस प्रकार से मैं क्योंकर जा सकती हूं ? हे नीच ! हे निर्दयी । तू मुझे नङ्गी क्यों करता है और क्यों खींचता है ? यदि इन्द्र भी देवताओं सहित तेरी सहायता करेगा, तो भी इन राजपुत्रों के क्रोध करने पर तू नहीं बचेगा ॥३५।३७॥

हे दुष्ट ! इस समय महात्मा युधिष्ठिर धर्म के विचार में है, जो कि बडा सूक्ष्म है । उस धर्म को वही लोग जानते है, जिनकी बडी सूक्ष्म बुद्धि होती है । इस लिये मै उस युधिष्ठिर में सिवाय गुणों के दोष तो यत्किंचित् भी नहीं देखती हूँ । हाय, तू मुझ रजस्वला जानकर भी कौरव वीरों के आगे बलपूर्वक खींच रहा है, यह बड़ा भारी कुकर्म है, पर इन सभासदों में से कोई इस कार्य के लिये तेरी निन्दा नहीं करता । जान पडता है, तेरे हाथों मेरा अपमान होना सब को पसन्द है । धिक्कार है, सो बार धिक्कार है । अहो, आज भरतवंश वालों का धर्म और क्षत्रियों का चरित्र नष्ट हो गया क्योंकि सभा में बैठे हुए सब कौरव ऐसे आचरण को देख रहे हैं, जो कौरव वंश के धर्म के विरुद्ध है। [तू धर्म

यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ४० ॥
द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं क्षत्तुस्तथैवाऽस्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच-तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन्कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान्कोपपरीतदेहान्संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४२ ॥
हृतेन राज्येन तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४३ ॥
दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णामवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पामुवाच दासीति हसन्सशब्दम् ॥ ४४ ॥
कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः संपूजयामास हसन्सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्रस्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४५ ॥
सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद्दुःखमतीव कृष्णां दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच-न धर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे ! विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।

की और अपने कुल की मर्यादा का उल्लङ्घन कर रहा है, किन्तु कोई कुछ नहीं कहता ।] समझ गई, भीष्म, द्रोणाचार्य और महात्मा विदुर में अब पुरुषार्थ नहीं रहा । तभी तो ये सब कुरुवंश के बड़े बूढ़े लोग राजा के इस भयङ्कर अधर्म को बैठे देख रहे हैं और कुछ कर नहीं सकते । ॥२८।४१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! इस प्रकार करुणाजनक भेद-पूर्ण वचन कहकर द्रौपदी मन ही मन क्रोध से जल रहे पाण्डवों की ओर क्रोध पूर्ण दृष्टि से देखने लगी । मानों वह अपने कुटिल कटाक्षों से उनके क्रोध की आग को और भी प्रज्वलित करने की चेष्टा करने लगी । क्रोध के मारे द्रौपदी का शरीर काँप रहा था । पाण्डव लोग द्रौपदी के इन कातर वचनों से, विशेषकर कुटिल कटाक्ष से, इतने दुःखित हुए, जितने कि सारा साम्राज्य और धन-रत्न हाथ से निकल जाने से भी नहीं हुए थे । दीन दशा में पड़े हुए पाण्डवों की ओर द्रौपदी को निहारते देख दुरात्मा दुःशासन उसे और भी ज़ोर से खींचने और 'दासी' कह-कहकर, हँसने लगा । यह देखकर कर्ण भी ज़ोर से हँसने और दुःशासन की बड़ाई करने लगा । गान्धार-राज शकुनि भी वैसे ही भाव से दुःशासन की बड़ाई करने लगा । दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन को छोड़कर और जो लोग उस सभा में थे, वे सब सभा में द्रौपदी को इस प्रकार से खींची जाती देखकर, बहुत ही दुःखित हुए । ॥४२।४६॥

उस समय भीष्म जी ने द्रौपदी से कहा—हे सुन्दरी ! धर्म की गति सूक्ष्म होने के कारण तुम्हारे

अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४७ ॥
त्यजेत्त सर्वां पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात्।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४८ ॥
द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिरस्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४९ ॥
द्रौपद्युवाच- आहूय राजा कुशलैरनार्यैर्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम् ।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ५० ॥
अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तैरबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः ।
संभूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५१ ॥
तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभायामीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम् ।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ५२ ॥
वैशम्पायन उवाच- तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्तीमवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान् ।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि वाक्यान्युवाचाऽमधुराणि चैव ॥ ५३ ॥

इस प्रश्न पर विचार करके उसका ठीक-ठीक उत्तर मैं नहीं दे सकता । स्वयं हारा हुआ मनुष्य, किसी का स्वामी न होने के कारण, पराये धन को दाँव पर लगाकर हार नहीं सकता और इसके साथ ही स्त्री सदा पति के अधीन है । इसी के कारण मैं तुम्हारे प्रश्न के बारे में ठीक-ठीक विचार नहीं कर पाता । देखो, महात्मा युधिष्ठिर सम्पूर्ण पृथ्वी के साम्राज्य को सहज ही छोड़ सकते हैं, पर धर्म को नहीं छोड़ सकते । मेरा यही विश्वास है । वे स्वयं अपने मुख से तुम्हें हार जाना स्वीकार कर चुके हैं । इस लिये मैं तुम्हारे प्रश्न के उत्तर का कुछ निर्णय नहीं कर सकता । इस मनुष्य-लोक के बीच द्यूतक्रीड़ा में शकुनि अद्वितीय है । युधिष्ठिर को उसने जीत लिया है । युधिष्ठिर दाँव लगा-लगाकर सब कुछ हार गये हैं । इसी से तुम्हारी यह दशा हुई है । इस कारण से मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता ॥४७।४९॥

यह सुन कर द्रौपदी ने कहा—कपटी, दुरात्मा, अनार्य, द्यूतप्रिय लोगों ने द्यूत की चालबाज़ी को न जाननेवाले, धर्मराज युधिष्ठिर को बुलाकर जुआ खिलाया है । धर्मराज की जुआ खेलने के लिये न तो वैसी इच्छा थी और न उन्होंने इसका उद्योग ही किया था । फिर आप कैसे कहते हैं कि उन्होंने जुआ खेलकर सब कुछ हार दिया है ? धर्मराज यह नहीं जानते थे, कि मन में बुरा इरादा रखने-वाले, क्रूर, कपटी लोग उन्हें बुलाकर जुए में चाल-बाज़ी से उनका सब कुछ हर लेंगे । [महात्मा युधिष्ठिर तो बड़े सत्यवादी हैं और, और लोगों को भी वैसा ही समझते हैं । यही कारण है, कि] वे इन दुष्टों के जाल में फँस गये और सब ने मिल कर चालबाज़ी से उनका सब धन जीत लिया । इस समय सभा में बहुओं और बेटोंवाले सब कुरु-

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम् ।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वंश के बड़े-बूढ़े बैठे हैं, मैं सब से प्रार्थना करती हूँ, कि वे मेरे इस कथन पर अच्छी तरह विचार करके मेरे प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दें। [वह सभा ही नहीं, जहाँ बूढ़े लोग न हों। वे बूढ़े ही नहीं हैं, जो धर्म की बात न कहें। वह धर्म ही नहीं, जिस में सत्य का अंश न हो। और वह सत्य ही नहीं, जिस में छल का लेश हो।]॥५०।५२॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! द्रौपदी यों कहकर, दीनभाव को प्राप्त हो रहे अपने पतियों की ओर देखकर, करुण स्वर से रोने लगी। उस समय दुष्ट दुःशासन फिर अप्रिय और कठोर वचन कहकर उसे सताने लगा। भीमसेन ने देखा, रजस्वला द्रौपदी को दुःशासन बार-बार खींच रहा है। ऐसी दुर्दशा के अयोग्य द्रौपदी का वस्त्र गिर जाने से आधा शरीर नङ्गा हो गया है। इससे भीमसेन को क्रोध चढ़ आया। वे धैर्य धारण करने में असमर्थ होकर युधिष्ठिर की ओर देखने लगे। ॥५३।५४॥

सभापर्व का सड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६७ ॥

अथ अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

भीम उवाच—भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर ! ।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥
काश्यो यद्धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चाऽन्यदुत्तमम् ।
तथाऽन्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च ।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥
न च मे तत्र कोपोऽभूत्सर्वस्येशो हि नो भवान् ।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥

अड़सठवां अध्याय ॥ ६८ ॥

भीमसेन ने कहा—हे युधिष्ठिर ! जुआरियों के घर में जो कोई दासी भी होती है, तो उस पर भी दया करके उसको जुए में दाँव पर नहीं लगाते हैं। काशिराज आदि ने जो-जो धन-रत्न और-और द्रव्य भेंट किये थे, उनको और सब वाहन, शस्त्र, राज्य और हम सब और अपने आप को, जिन को इन छलियों ने छल से आप से जीत लिया है, जुए में दाँव पर लगाते हुए देखकर मुझ को क्रोध नहीं हुआ, क्योंकि आप इन सब के ईश हैं, परन्तु आप ने जो द्रौपदी को दाँव पर लगाया, यह बड़ा मर्यादा के विपरीत काम किया। इस दुर्दशा के अयोग्य पाञ्चाली आप के ही कारण इस समय नीच, नृशंस, क्षुद्र कौरवों के

एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान्प्राप्य कौरवैः ।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥
अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् ! निपात्यते ।
बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाऽग्निमानय ॥ ६ ॥
अर्जुन उवाच—न पुरा भीमसेन ! त्वमीदृशीर्वदिता गिरः ।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥
न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाऽऽचरोत्तमम् ।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥
आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥
भीमसेन उवाच—एवमस्मिन्कृतं विद्यां यदि नाहं धनञ्जय ! ।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा तान्दुःखितान्दृष्ट्वा पाण्डवान्धृतराष्ट्रजः ।
क्लिश्यमानां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
याज्ञसेन्या यदुक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः ।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥
भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।

हाथ से घोर क्लेश पा रही है। द्रौपदी के इस अपमान और क्लेश को देखकर मुझे बड़ा क्रोध चढ़ आया है। हे राजन्! उस क्रोध को मैं आप पर उतारूँगा। [जिन हाथों से आप ने बेढङ्गा जुआ खेला है] उन्हें मैं अभी आग से जला दूँगा। हे सहदेव! शीघ्र अग्नि ले आओ। ॥१।६॥

यह सुनकर अर्जुन ने कहा-हे भीमसेन! आप ने ऐसे वचन, जैसे अब कहे हैं, कभी नहीं कहे थे। हम जानते हैं, कि इन निर्दयी शत्रुओं ने आप के धर्म और गौरव को बिगाड़ डाला है। आप को धर्म पर रहना उचित है। भला ऐसा कौन होगा, जो धर्मात्मा और शीलवान् बड़े भाई को छोड़ कर, जैसा मन में आवे वैसा करे। और जो शत्रु के बुलाने पर राजा ने क्षत्रियों का धर्म विचार कर यह जुआ खेला है, वह भी कीर्ति का करनेवाला है। भीमसेन ने कहा हे भाई अर्जुन! यह मैं जानता हूँ। जो महाराज ने क्षत्रिय-धर्म का पालन करने के लिये यह काम न किया होता, तो मैं अब तक कब का जलती हुई आग में इनके हाथ जला चुकता ॥७।१०॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! इस प्रकार पाण्डवों को दुःखित और दुःशासन के हाथ

समेत्य नाहतुः किंचिद्विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥
भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च ।
कुत एतावपि प्रश्नं नाऽऽहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥
ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशम् ।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य त ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥
यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा ।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा ! वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥
एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान्सभासदः ।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥
उक्त्वाऽसकृत्तथा सर्वान्विकर्णः पृथिवीपतीन् ।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥ १८ ॥
विब्रूत पृथिवीपाला ! वाक्यं मा वा कथंचन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राऽहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः॥ १९ ॥
चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगया पानमक्षाश्च ग्राम्ये चैवाऽतिरक्तता ॥ २० ॥
एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।

से अपमान होने के कारण, द्रौपदी को शोक-विह्वल देखकर, धृतराष्ट्र के पुत्र, धर्मात्मा विकर्ण ने बड़े ऊँचे स्वर से सभासदों से कहा—हे सभासदो ! आप लोग विचार करके, पक्षपात छोड़कर, द्रौपदी के प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर क्यों नहीं देते ? हम लोग यदि विवेक से द्रौपदी के प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर न देंगे, तो अधर्म भागी होने के कारण नरकगामी होंगे । हमारे कुल में जो वृद्ध लोग, भीष्म पितामह, धृतराष्ट्र और विदुर जी हैं, उन्होंने और हम सब के गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ने कुछ उत्तर नहीं दिया ॥१३।१४॥

इन से जो आप सब राजा लोग, जो जगह-जगह से आकर यहां इकट्ठे हुए हैं, काम और क्रोध को छोड़ कर, अपनी बुद्धि से विचार कर, जैसा उचित हो वैसा उत्तर दीजिए । देखिए, इस द्रौपदी ने आप से बार-बार इस प्रश्न को किया है, सो आप को विचार कर उसका उत्तर ही देना उचित है । इस प्रकार से विकर्ण ने बहुत सी बातें उन राजाओं से कहीं, परन्तु किसी ने बुरा या भला कुछ उत्तर नहीं दिया । तब विकर्ण श्वास ले-लेकर और हाथ मल-मलकर कहने लगा ॥१५।१८

हे राजाओ ! आप लोग कुछ उत्तर दो, या न दो, इस बारे में मुझे जो कुछ उचित और न्याय-सङ्गत प्रतीत होता है, सो मैं कहता हूँ । शास्त्रकारों

तथाऽयुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥
तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥
साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चाऽनेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥
इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत्सर्वं विचार्याऽहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥
एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥
कर्ण उवाच—दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाऽग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥
एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥
त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र ! विदीर्यसे ।

ने शिकार खेलना, मदिरा पीना, जुआ खेलना और अत्यन्त स्त्री-सम्भोग करना, ये चार राजाओं के व्यसन कहे हैं। इन व्यसनों में फँसा हुआ मनुष्य धर्म का विचार नहीं रखता, इसी कारण कोई उसके किये काम को ठीक नहीं मानता ॥१९,२१॥

इस खेल में युधिष्ठिर को जुआरियों ने खेलने को बुलाया था, अपने आप युधिष्ठिर खेलने नहीं आये और जिस समय युधिष्ठिर खेल में सर्वस्व हार कर, अपने आप को भी भाइयों-सहित हार गये, उस समय उस जुए की आग में उन्होंने शकुनि आदि खिलाड़ियों की प्रेरणा से द्रौपदी को, जो साधारण भाव पांचों पाण्डवों की पत्नी है, दांव पर लगा दिया। इन्हीं कारणों से मैं कहता हूँ, कि द्रौपदी नहीं जीती गई ॥२२,२४॥

विकर्ण के ऐसे न्याय सङ्गत वचन सुनकर सभा में कोलाहल सुन पड़ने लगा। सभा में बैठे हुए मनुष्य एकमत होकर, विकर्ण की प्रशंसा और शकुनि की निन्दा करने लगे। जब कोलाहल शान्त हो गया, तब कर्ण क्रोधित होकर, विकर्ण का हाथ पकड़ कर कहने लगा—हे विकर्ण ! इस समय यहां सभा में बहुत से बुरे लक्षण देख पड़ते हैं। जान पड़ता है, जैसे अरणीकाष्ठ से अग्नि उत्पन्न होकर उसी काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार से तुम भी जिस कुल में उत्पन्न हुए हो, उसी को नाश करना चाहते हो।

यद्ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥
न च धर्मं यथावत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ! ।
यद्ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥
कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ! ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान्पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥
अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ! ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ! ॥ ३२ ॥
कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥
मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम् ।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन ! ।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः ।

इसी से तुम ऐसा बुरा भाव दिखा रहे हो । यहां पर अनेक राजा और बड़े बूढ़े बैठे हैं । द्रौपदी के बार-बार पूछने पर भी, इन्होंने कुछ नहीं कहा; क्योंकि ये सब जानते हैं, कि द्रौपदी धर्म से ही जीती गई है ॥२५।२८॥

हे विकर्ण ! तुम लड़कपन के मारे हम लोगों से फूट कर, बालक होने पर भी बूढ़ों की तरह, इस सभा में ऐसी बात कह रहे हो । तुम अभी धर्म को अच्छी तरह नहीं जानते; इसी से द्रौपदी को जीती हुई न बताकर, अपनी बुद्धि की हीनता का परिचय दे रहे हो । जब सभा के बीच युधिष्ठिर ने दांव में लगाकर अपना सर्वस्व हार दिया है, तब तुम द्रौपदी को बिना जीती हुई कैसे समझते हो ? द्रौपदी भी तो युधिष्ठिर के सर्वस्व के भीतर आ गई । इस प्रकार धर्म से जीती हुई द्रौपदी को, न जीती हुई कैसे कहते हो ? ॥२९।३२॥

तुम कहते हो कि शकुनि ने पहले द्रौपदी को दांव पर रखने के लिये कहा था; किन्तु युधिष्ठिर यदि अपने मुख से द्रौपदी का नाम लेकर उसे दांव पर न लगाते और सब पाण्डव चुप रहकर उसे स्वीकार न कर लेते, तो हम कभी द्रौपदी को जीती हुई समझ कर उस पर अधिकार करने के लिये तैयार न होते । फिर तुम द्रौपदी को न जीती हुई, वस्तु कैसे कहते हो ? द्रौपदी को एक वस्त्र पहनने की दशा में सभा के बीच लाने को जो तुम अधर्म कहते हो, तो उसका उत्तर भी सुनो । हे कुरुनन्दन ! देवताओं ने स्त्री का पति एक ही कहा है । जो स्त्री एक पति से दूसरा पति भी करती है, वह वेश्या

एकाम्बरधरत्वं वाऽप्यथवाऽपि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥
यच्चैषां द्रविणं किंचिद्या चैषा ये च पाण्डवाः ।
सौबलेनेह तत्सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥
दुःशासन ! सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः ।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥
तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत ! ।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥
ततो दुःशासनो राजन्द्रौपद्या वसनं बलात् ।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥
वैशम्पायन उवाच–आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः ।
गोविन्द ! द्वारकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय ! ॥ ४१ ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ! ।
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथाऽऽर्तिनाशन ! ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ! ॥ ४२ ॥
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द ! कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥

कहलाती है । सो द्रौपदी तो अनेक पतियों से रमण करती है, इसका सभा में लाना और एक वस्त्र पहने हुए होना, तो कुछ बात नहीं है । यदि इसको नङ्गी भी किया जावे तो भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है ॥३३।३६॥

शकुनि ने इन सब पाण्डव और द्रौपदी को सब धन-सहित धर्म से जुए में जीता है । इसलिये हे दुःशासन ! यह विकर्ण अपने को बुद्धिमान् समझता है, परन्तु अभी इसकी बुद्धि बालकों की सी है; इसलिये तुम इन पाण्डवों के और द्रौपदी के वस्त्रों को भी उतार लो । हे राजा जनमेजय ! कर्ण के ये वचन सुनते ही पाण्डवों ने अपने वस्त्र उतार कर अलग रख दिये । अब पापी दुःशासन सभा के बीच में द्रौपदी के वस्त्र को बलपूर्वक उतारने लगा ॥३७।४०॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! अपने ऊपर यह विपत आते देखकर द्रौपदी अत्यन्त करुण स्वर से कृष्ण का स्मरण करके कहने लगी–हे कृष्ण ! हे करुणा के समुद्र ! हे दीन-बन्धु ! हे जगदीश्वर ! हे गोपीजन-प्रिय ! क्या तुम नहीं जानते हो ! कि कौरवों ने मेरा अपमान किया है ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे द्वारकानाथ ! हे दुःखनाशन ! हे जनार्दन ! कौरवों के भयानक समुद्र में डूबी जा रही हूँ; हे मधुसूदन ! मेरी रक्षा करो ।

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् ! मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥ ४४ ॥
याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाऽभ्यगात् ॥ ४५ ॥
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा समावृणोद्वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥ ४६ ॥
आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ! ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥ ४७ ॥
नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ! ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥ ४८ ॥
ततो हलहलाशब्दस्तत्राऽऽसीद्घोरदर्शनः ॥ ४९ ॥
तदद्भुततमं लोके वीक्ष्य सर्वे महीभृतः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ५० ॥
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद्विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥ ५१ ॥
भीमसेन उवाच—इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया ! लोकवासिनः ! ।

हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे योगीश्वर ! तुम विश्व के आत्मा और ब्रह्माण्ड के रक्षक हो । कौरवों के बीच में कष्ट पाती हुई मैं आप की शरण में हूँ । हे गोविन्द ! मेरी रक्षा कीजिए । हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार से जगदीश्वर कृष्ण को पुकार कर, दोनों हाथों से अपना मुख आच्छादित (ढाँप) करके, सुन्दरी द्रौपदी सभा में रोयी ॥४१।४४॥

द्रौपदी के करुण विलाप को सुनते ही श्रीकृष्णचन्द्र शय्या छोड़कर, द्रौपदी की लाज बचाने के लिये, पैदल दौड़ पड़े । कृष्ण ! जिष्णु ! नरनारायण ! आदि नाम लेकर ज्योंही द्रौपदी ने पुकारा, त्योंही धर्म वस्त्र बनकर बढ़ने लगा । हे महाराज ! धर्म के प्रताप से और कृष्ण की कृपा से द्रौपदी का वस्त्र बढ़ने लगा । द्रौपदी को नङ्गी करने के लिये दुष्ट दुःशासन जितना ही वस्त्र खींचता था, उतना ही उसी रङ्ग के और और अनेक रङ्ग के वस्त्र निकलते चले आते थे । वस्त्रों का ढेर लग गया, पर द्रौपदी नङ्गी नहीं हुई ॥४५।४८॥

उस समय चारों ओर से बड़ा कोलाहल शब्द होने लगा और सब राजा लोग द्रौपदी की प्रशंसा और दुर्योधन की निन्दा करने लगे । वस्त्र खींचते-खींचते जब दुःशासन थक गया, तब लज्जित होकर बैठ गया । यह देखकर भीमसेन से नहीं रहा गया । क्रोध के मारे उनके होंठ फड़क रहे थे । वे हाथ

नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चाऽन्यो यद्वदिष्यति ॥ ५२ ॥
यद्येतदेवमुक्त्वाऽहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ! ।
पितामहानां पूर्वेषां नाऽहं गतिमवाप्नुयाम् ॥ ५३ ॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिवेयं बलाद्वक्षो भित्वा चेद् रुधिरं युधि ॥ ५४ ॥
वैशम्पायन उवाच–तस्य ते तद्वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम् ।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ५५ ॥
यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥ ५६ ॥
धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः ।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥ ५७ ॥
न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह ।
सुजनः क्रोशति स्माऽत्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥ ५८ ॥
ततो बाहू समुत्क्षिप्य निवार्य च सभासदः ।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५९ ॥
विदुर उवाच–द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत् ।

से हाथ मलते हुए [गम्भीर स्वर से] कहने लगे– हे पृथ्वी पर रहने वाले क्षत्रियो ! आप सब लोगों के आगे यह प्रतिज्ञा करता हूँ, कि यदि मैं युद्ध में इस नीच पापी दुःशासन का हृदय चीर कर इसका लोहू न पिऊँ, तो मुझे अपने पूर्व पुरुषों की गति न प्राप्त हो । मेरी ऐसी घोर प्रतिज्ञा न पहले किसी ने की है और न आगे ही कोई करेगा । मैं यह प्रतिज्ञा पूरी किये बिना न रहूँगा ॥४०।५४॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! भीमसेन की भयानक प्रतिज्ञा को सुनकर सब राजा लोग उसकी प्रशंसा और धृतराष्ट्र के पुत्र की निन्दा करने लगे । इसके उपरान्त जब सभा के बीच में द्रौपदी के वस्त्रों का ढेर हो गया और दुःशासन थक कर और लज्जित सा हो कर बैठ रहा; इस प्रकार पाण्डवों को देखकर सब सभासदों के मुख से धृतराष्ट्र पुत्र को धिक्कार है, ऐसा महाशब्द निकला । धृतराष्ट्र की निन्दा करते हुए सब सभासद कहने लगे, कि द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर कौरव लोग क्यों नहीं देते हैं ॥५५।५८॥

तब हाथ उठाकर सब सभासदों को निवारण करके सब धर्मज्ञों में श्रेष्ठ विदुर यह बोले–हे सभासदो ! द्रौपदी प्रश्न करके अनाथ के समान रोती है, तुम लोग उत्तर नहीं देते; इससे धर्म का अनादर होता है । सभा में प्रज्वलित अग्नि के समान जो

न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या ! धर्मोऽत्र पीड्यते॥ ६० ॥
सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ६१ ॥
धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः ।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥ ६२ ॥
विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः ! ।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥ ६३ ॥
यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलाऽवाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥ ६४ ॥
यः पुनर्वितथं ब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं संप्राप्नोतीति निश्चयः ॥ ६५ ॥
अत्राऽप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥ ६६ ॥
प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः ।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥ ६७ ॥
अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा ।

प्रश्न उपस्थित होता है, उसे सत्य और धर्म से युक्त उत्तर देकर सभ्य लोग शान्त करते हैं। यही सनातन नीति है। आर्य पुरुष को चाहिये कि धर्म के अनुसार काम, क्रोध और बल की परवाह न करके उस प्रश्न का उत्तर दे ॥५९।६२॥

हे नरपतियो ! जैसे महात्मा विकर्ण ने अपनी बुद्धि के अनुसार द्रौपदी के प्रश्न का निर्णय किया है, वैसे ही आप लोग भी निर्णय करके उस प्रश्न का उत्तर दें। जो सभा में बैठनेवाले धर्मदर्शी मनुष्य किसी प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं देते हैं, उनको झूठ बोलने का पाप लगता है। और जो मनुष्य धर्मदर्शी होकर सभा में बैठकर धर्म-विपरीत बात कहता है, उसको मिथ्या बोलने का पूरा-पूरा पाप लगता है ॥६३।६५॥

इस विषय में पौराणिकों ने प्रह्लाद और आङ्गिरस मुनि के संवाद का एक इतिहास कहा है, सो मैं कहता हूँ। दैत्यराज प्रह्लाद का एक पुत्र था। उसका नाम विरोचन था। एक कन्या के पीछे अङ्गिरा के पुत्र सुधन्वा ऋषि और विरोचन के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दोनों ही श्रेष्ठ बनाकर, अपने को उस कन्या के योग्य कह रहे थे। इस बारे में अपने प्राणों की बाजी लगाकर वे दोनों, निर्णय के लिये, प्रह्लाद के पास गये। इस झगड़े का निर्णय करने के लिये उनसे अनुरोध करते हुए दोनों ने पूछा—

तयोर्देवनमत्राऽऽसीत्प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥ ६८ ॥
तयोः प्रश्नविवादोऽभूत्प्रह्लादं तावपृच्छताम् ।
ज्यायान्क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥ ६९ ॥
स वै विवदनाद्भीतः सुधन्वानं विलोकयन् ।
तं सुधन्वाऽब्रवीत्क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥ ७० ॥
यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाऽथ न वक्ष्यसि ।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥ ७१ ॥
सुधन्वना तथोक्तः सन्व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥ ७२ ॥

प्रह्लाद उवाच—त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहाऽऽसुरस्य च ।
ब्राह्मणस्य महाभाग! धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥ ७३ ॥
यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद्वितथं चैव निर्दिशेत् ।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाऽऽचक्ष्व पृच्छतः ॥ ७४ ॥

कश्यप उवाच—जानन्नविब्रुवन्प्रश्नान् कामात्क्रोधाद्भयात्तथा ।
सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७५ ॥
साक्षी वाऽविब्रुवन्साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ।

ठीक ठीक बतलाइए, हम दोनों में श्रेष्ठ कौन है? असत्य न बोलिएगा। उस झगड़े से डरकर प्रह्लाद सुधन्वा की ओर देखने लगे। उनको कुछ उत्तर न देते देख, सुधन्वा ने क्रोध के मारे ब्रह्मदण्ड के समान आग बबूला होकर प्रह्लाद से कहा–हे दानवराज! अपने पुत्र का पक्ष लेकर यदि तुम असत्य बोलोगे, अथवा कुछ भी उत्तर न दोगे, तो इन्द्र वज्र के प्रहार से तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े कर देंगे। ॥६६।७१॥

सुधन्वा के यों कहने पर प्रह्लाद डर के मारे इस प्रकार से कांपने लगे, जैसे वायु से पीपल का पत्ता हिलता है। वे सुधन्वा से कुछ समय मांगकर महात्मा कश्यप जी के पास इस बारे में सम्मति लेने गये। प्रह्लाद ने कश्यप के पास जाकर पूछा–हे महाराज! आप देवताओं और असुरों के धर्मों को अच्छी तरह जानते हैं। मैं इस समय ब्राह्मण के और अपने पुत्र के झगड़े के कारण, धर्म-सकट में फँस गया हूँ। आप कृपा करके बताइए, कि जो कोई प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर नहीं देता अथवा जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसे मरने पर कौन लोक प्राप्त होते हैं? ॥७२।७४॥

कश्यप ने कहा–हे प्रह्लाद! जो कोई क्रोध या डर के मारे जान बूझकर प्रश्न का उत्तर नहीं देता, अथवा झूठ बोलता है, वह मरने पर, परलोक में

सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७६ ॥
तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात्सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥ ७७ ॥
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चाऽस्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ७८ ॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ ७९ ॥
अनेन भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ ८० ॥
वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद ! पृच्छते ।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥ ८१ ॥
हृतस्वस्य हि यद् दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत् ।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥ ८२ ॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् ।
अपुत्रायाश्च यद् दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥ ८३ ॥
अध्यूढायाश्च यद् दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च ।

सहस्र वारुण पाशों से बांधा जाता है। अथवा जो साक्षी, गवाही देते समय, गाय के कान की तरह दोनों ओर डुलता है, अर्थात सत्य न कहकर, दोनों पक्षों का जी रखने की चेष्टा करता है, वह भी अन्त समय सहस्र वारुण पाशों से बांधा जाता है। एक-एक वर्ष के पश्चात् उसे एक-एक पाश से छुटकारा मिलता है। इस लिये जो कुछ सत्य मालूम हो वही कहना चाहिये ॥७५।७७॥

जिस सभा में धर्म की बात को अधर्म की बातों से और की और कह देते हैं, उस सभा के बैठनेवाले, अधर्म को दूर न करने के कारण से पाप के भागी होते हैं। और बुरे को बुरा न कहने के कारण से आधा पाप सभापति को, चौथाई पाप करनेवाले को और चौथाई सभा में बैठनेवालों को लगता है। और जिस सभा में बुरे को बुरा कहकर निन्दा करते हैं, उस सभा के बैठनेवाले पाप से छूट जाते हैं और वह पाप केवल करनेवाले ही को लगता है ॥७८।८०॥

इस लिये हे प्रह्लाद ! धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न उपस्थित होने पर, जो कोई पक्षपात से असत्य बोलता है, उसके सब पुण्य तो नष्ट हो ही जाते हैं; साथ ही उसके पहले की सात पीढ़ियां और आगे होनेवाली सात पीढ़ियां नरक में गिरती हैं। देवता लोग इन नीचे लिखे हुए दुःखों को एक सा ही जानते हैं। जैसे—जिसका धन जाता रहा है,

एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥ ८४ ॥
तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ।
समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥ ८५ ॥
तस्मात्सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥ ८६ ॥
श्रेयान्सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाऽङ्गिराः ।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव ।
विरोचन ! सुधन्वाऽयं प्राणानामीश्वरस्तव ॥ ८७ ॥
सुधन्वोवाच—पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः ।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८८ ॥
विदुर उवाच—एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८९ ॥
वैशम्पायन उवाच विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः ।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान्नय ॥ ९० ॥
तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान् ।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ९१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

जिसका पुत्र मर गया है, जो ऋणी है, जिसका काम बिगड़ गया है, जिस स्त्री का पति मर गया है, जिस को राजा ने ग्रस्त अर्थात् गिरफ्तार किया है, जिस स्त्री के पुत्र नहीं है, जिस को व्याघ्र ने घेर लिया है, जिस स्त्री के सौत है और जिसको साक्षी ने ठगाया है। सो, जो मनुष्य असत्य बोलता है, उसको ऊपर लिखे हुए सम्पूर्ण दुःख प्राप्त होते हैं। और साक्षी अर्थात् गवाह दो प्रकार के होते हैं एक तो आंख से देखनेवाले, दूसरे कान से सुननेवाले। इस कारण से साक्षी को सदैव सत्य ही बोलना चाहिये। सत्य बोलने से उसका धर्म और अर्थ नहीं बिगड़ता है ॥८१।८६॥

कश्यप जी की उक्त बात को सुनकर, प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन से कहा-हे विरोचन ! सुधन्वा तुम से श्रेष्ठ है। मुझ से अङ्गिरा श्रेष्ठ हैं और तुम्हारी माता से सुधन्वा की माता श्रेष्ठ है। अब ये सुधन्वा तुम्हारे प्राणों के स्वामी हैं। यह सुनकर सुधन्वा ने कहा-हे प्रह्लाद ! तुमने पुत्र के स्नेह को छोड़ कर धर्म से सत्य को नहीं छोड़ा, इस से अब मैं आज्ञा देता हूँ, कि तेरा यह पुत्र सौ वर्ष तक जिये। मैं, हारने के कारण से इसको नहीं मारूँगा। इस प्रकार प्रह्लाद और अङ्गिरा के संवाद को सुना करके विदुर

ने कहा—हे राजाओ। इसी प्रकार से तुम सब भी धर्म के अनुसार द्रौपदी के प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दो ॥८७।८९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! विदुर जी की बात को सुनकर किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। इसके पीछे कर्ण ने दु:शासन से कहा—द्रौपदी अब दासी है, इसको अपने महलों में ले जाओ। सभा के मध्य में, लज्जा के मारे सिर नीचा करके, डर से कांपती, पाण्डवों को वकती-झकती और विलाप करती हुई, तपस्विनी द्रौपदी को ले जाने के लिये नीच दु:शासन बलपूर्वक खींचने लगा। ॥९०।९१॥

सभापर्व का अड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

अथ एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

द्रौपद्युवाच—तावत्प्रतीक्ष दुष्प्रज्ञ ! दु शासन ! नराधम ! ।
पुरस्तात्करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम् ॥ १ ॥
विह्वलाऽस्मि कृताऽनेन कर्षता बलिना बलात् ।
अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि ।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी ।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥
द्रौपद्युवाच—स्वयंवरे याऽस्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः ।
न दृष्टपूर्वा चाऽन्यत्र साऽहमद्य सभां गता ॥ ४ ॥
यां न वायुर्न चाऽऽदित्यो दृष्टवन्तो पुरा गृहे ।

उनहत्तरवां अध्याय ॥ ६९ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे दुष्ट दु शासन ! तनिक ठहर जा। मैं पहले ही करने योग्य काम करना भूल गई हूँ। इस कौरवों की सभा में बैठे हुए वृद्ध पुरुषों को और सभासदों को मैं प्रणाम करती हूँ। इस दुष्ट ने बलपूर्वक खींच कर, मुझे विह्वल कर दिया था। इसी कारण से मैं पहले प्रणाम नहीं कर सकी। इस अपराध का कारण यही दुष्ट है; मैंने जान बूझ-कर ऐसा नहीं किया ॥१।२॥

वैशम्पायन कहते हैं हे राजा जनमेजय ! दु शासन ने फिर बलपूर्वक द्रौपदी को खींचा। दु ख से विह्वल हो रही द्रौपदी उस झटके से पृथ्वी पर गिर पड़ी। सर्वथा इस दुर्दशा के अयोग्य द्रौपदी सभा के बीच गिरकर, इस प्रकार विलाप करने लगी—हाय ! मुझको केवल स्वयम्वर में ही राजा लोगों ने देखा था, उसके पहले और पीछे किसी ने भी किसी स्थान पर नहीं देखा था। सो अब मैं सभा में पड़ी हुई हूँ। हाय ! मुझको कभी सूर्य और वायु ने भी घर में नहीं देखा था, अब मुझको सभा में सैकड़ों मनुष्य देख रहे हैं। ये पाण्डव, मुझे वायु भी स्पर्श करती थी, तो नहीं सह सकते थे। हाय ! अब वे ही पाण्डव

साऽहमद्य सभामध्ये दृश्याऽस्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥
यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा ।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥
मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् ।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ॥ ७ ॥
किं न्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा ।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥
धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥
कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती ।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम् ॥ १० ॥
तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् ।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत्करिष्यामि कौरवाः ! ॥ ११ ॥
अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः ।
क्लिश्नाति नाऽहं तत्सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः !॥ १२ ॥
जितां वाऽप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः ।

इस दुरात्मा के हाथ से मेरी ऐसी गति देख रहे हैं ॥३।५॥

हाय ! मै इन कौरवों की पुत्रवधू हूँ, और इस दुःख को सहने के योग्य नहीं हूँ। सो ये कौरव भी काल की विपरीतता से मेरी यह गति अपनी आंखों से देख रहे हैं। इस से और क्या बुरी बात होगी, कि इस सभा में मुझ को चारों ओर से सब मनुष्य देख रहे हैं। हाय ! इन राजाओं का धर्म कहां गया ? पहले धर्मात्मा लोग स्त्री को सभा में कभी नहीं लाते थे। हाय ! कौरवों का सनातन धर्म नष्ट हो गया है। मै पाण्डवों की धर्मपत्नी, धृष्टद्युम्न की बहन, और कृष्ण की सखी, इस प्रकार अपमान के साथ सभा के बीच लाई गई ! इस से बढ़कर अनर्थ और क्या होगा ! हे कौरवो ! मैं धर्मराज की सवर्णा भार्या हूँ। आप लोग बतावें, मै दासी हुई हूँ, या नहीं ? आप लोग जो कहेंगे, वही मानकर मैं उसके अनुसार कार्य करूँगी ॥६।१०॥

हे कुरुवंश के लोगो ! यह कुरुवंश के यश को मिटानेवाला दुष्ट दुःशासन बलपूर्वक खींच कर मुझे क्लेश दे रहा है। अब अधिक समय तक मुझ से यह क्लेश नहीं सहा जायगा। हे सभासदो और कौरवो ! आप लोग मुझे जीती हुई, अथवा जैसी समझते हैं, सो कह देवें। आप लोग जो कहेंगे, वह करने के लिये मैं तैयार हूँ ॥११।१३॥

तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत्करिष्यामि कौरवाः ! ॥ १३ ॥
भीष्म उवाच—उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः ।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥
बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः ।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः ॥ १५ ॥
न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात् ।
सूक्ष्मत्वाद्गहनत्वाच्च कार्यस्याऽस्य च गौरवात् ॥ १६ ॥
नूनमन्तः कुलस्याऽस्य भविता न चिरादिव ।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥ १७ ॥
कुलेषु जाता कल्याणि ! व्यसनैराहता भृशम् ।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता ॥ १८ ॥
उपपन्नं च पाञ्चालि ! तवेदं वृत्तमीदृशम् ।
यत्कृच्छ्रमपि संप्राप्ता धर्ममेवाऽन्ववेक्षसे ॥ १९ ॥
एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः ।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवाऽऽनताः ॥ २० ॥
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन्प्रमाणमिति मे मतिः ।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

द्रौपदी के ये करुणाजनक वचन सुनकर बुद्धिमान् महात्मा भीष्म ने कहा—हे द्रौपदी ! मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। समय समय पर अनेक शास्त्रों के ज्ञाता पण्डित लोग भी उसके बारे में कुछ निश्चय नहीं कर पाते। धर्म के बल से बली पुरुष धर्म के अनुसार ही चलते हैं; परन्तु समय-समय पर धर्म की गति सूक्ष्म होने के कारण, उन्हें भी अधर्म के मार्ग में पांव रखना पड़ता है। वास्तव में तुम्हारा प्रश्न अत्यन्त सूक्ष्म और गहन है और यह कार्य भी बड़े भारी विचार का है। इस कारण अभी तक तुम्हारे इस प्रश्न पर विचार करके भी मैं कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सका। तो भी कौरवों के लोभ और मोह की अत्यन्त अधिकता देखने से मुझे जान पड़ता है, कि इस कुल का नाश शीघ्र ही होनेवाला है। हे द्रौपदी ! तुम जिस कुल की बहू हो, उस कुल के लोग धर्म के ऐसे अनुगत हैं, कि घोर कष्ट पड़ने पर भी धर्म के मार्ग से नहीं डिग सकते ॥१५।१८॥

हे पाञ्चाली ! तुम्हारा यह आचरण तुम्हारे योग्य ही है, कि ऐसे सङ्कट में, ऐसी शोचनीय दशा

में, पड़कर भी तुम धर्म को ही देख रही हो। देखो, ये द्रोणाचार्य आदि वृद्ध लोग, जो धर्म को जाननेवाले है, नीचे को मुख किये हुए, मुरदे के समान बैठे हुए है, कहते कुछ नहीं है। इस से मेरी समझ में ये धर्मात्मा युधिष्ठिर ही तुम्हारे इस प्रश्न का निर्णय कर दें। वही बतावें कि तुम जीती गई हो या नहीं। इस बारे में उन्हीं का कहना सब से अधिक प्रामाणिक माना जायगा ॥१९।२१॥

सभापर्व का उनहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६९ ॥

अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच-तथा च दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं रोरूयमाणां कुररीमिवाऽऽर्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाऽप्यसाधु महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ १ ॥
दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रांस्तूर्णींभूतान्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
स्मयन्निवेदं वचनं बभाषे पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २ ॥
दुर्योधन उवाच-तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्वे भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव ।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि! वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् । ३ ॥
अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि! हेतोः ।
कुर्वन्तु सर्वे चाऽनृतं धर्मराजं पाञ्चालि! त्वं मोक्ष्यसे दासभावात्॥ ४ ॥
धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः ।
ईशो वा ते यद्यनीशोऽथवैष वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥
सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव ।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्पतींश्च ते समवेक्ष्याऽल्पभाग्यान्॥ ६ ॥

सत्तरवां अध्याय ॥ ७० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रौपदी अत्यन्त विलाप करती रही, परन्तु किसी राजा ने दुर्योधन के भय से कुछ उत्तर नहीं दिया। सब राजाओं को चुपचाप बैठे देखकर हँसता हुआ दुर्योधन द्रौपदी से कहने लगा—हे पाञ्चालि! तुम भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और अपने पति युधिष्ठिर से ही यह प्रश्न करो। वे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दें। यदि अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव इस सभा में इन लोगों के सामने तुम्हारे लिये यह कह दें कि युधिष्ठिर किसी के स्वामी नहीं है और वे मिथ्यावादी हैं, तो तुम दासीभाव से छुटकारा पा सकती हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन्द्र के समान प्रतापी महात्मा युधिष्ठिर धर्म को नहीं छोड़ सकते। ये स्वयं कह दें, कि वे तुम्हारे स्वामी हैं, या नहीं। वे जो कहें, उसी पर तुम्हारा दासी होना या न होना अवलम्बित है। हे द्रौपदी! तुम्हारा करुणाजनक विलाप देख-सुनकर, सभी कौरव अत्यन्त दुःखित हो रहे हैं। विशेषकर तुम्हारे अभागे पतियों की दुर्दशा देखकर

वैशम्पायन उवाच–ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः ।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो, हाहेत्यासीदपि चैवाऽऽर्तनादः ॥ ७ ॥
श्रुत्वा तु तद्वाक्यमनोहरं तद्धर्षश्चासीत्कौरवाणां सभायाम् ।
सर्वे चासन्पार्थिवाःप्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्त ॥ ८ ॥
युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः ।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥
किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥ १० ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥
भीमसेन उवाच—यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः ।
न प्रभुः स्यात्कुलस्याऽस्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥
ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
मन्यते जितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥
न हि मुच्येत मे जीवन्पदा भूमिमुपस्पृशन् ।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ १४ ॥
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव ।

सब लोग दुःख के समुद्र में इतने डूब गये है, कि किसी के मुख से बात तक नहीं निकलती ॥१।६॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! दुर्योधन की बात को सुनकर सब सभा के मनुष्य ऊँचे स्वर से दुर्योधन की प्रशंसा करने लगे और प्रसन्न होकर पाण्डवों की ओर देखने और कहने लगे–देखो, अब युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव क्या उत्तर देते हैं। जब वह कोलाहल कुछ कम हुआ तब महापराक्रमी भीमसेन हाथ उठाकर कहने लगे–यदि धर्मराज युधिष्ठिर हमारे स्वामी न होते, तो हम कभी कौरवों के अत्याचार को और उनके अपराध को क्षमा न करते ॥७।१२॥

हमारे धर्म-कर्म और प्राणों के भी स्वामी युधिष्ठिर यदि अपने को, द्रौपदी को दाव पर लगाने से पहले, जुए में हारा हुआ समझते हैं, तो हम चारों भाई भी निःसन्देह जीत लिये गये। यदि मैं स्वाधीन होता, तो द्रौपदी के बालों में हाथ लगानेवाला मनुष्य पृथ्वी पर कहीं भी भाग कर क्यों न जाता, परन्तु मेरे हाथ से जीता न बच सकता। लोहे के बेलन ऐसे दृढ़ और फैले हुए मेरे इन हाथों को देखो; इनके बीच में पड़कर इन्द्र भी जीता नहीं बच सकता था। पर क्या करूँ,मैं धर्म के बन्धन में पड़ा होने से

नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येताऽपि शतक्रतुः ॥ १५ ॥
धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि सङ्कटम् ।
गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ १६ ॥
धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।
धार्तराष्ट्रानिमान्पापान्निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच-तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च ।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

और युधिष्ठिर के गौरव और अर्जुन के रोकने के कारण से इस सङ्कट से पार नहीं हो सकता हूँ। यदि धर्मराज आज्ञा दे दें, तो अभी मैं सिंह जैसे दुर्बल मृगों का शिकार करता है, वैसे ही इन धृतराष्ट्र के दुष्ट पुत्रों को पकड़ कर पीस डालूँ। क्रोध में विह्वल भीमसेन के ये वाक्य सुनकर भीष्म, द्रोण और विदुर ने उन्हें शान्त करते हुए कहा-हे भाई भीमसेन! क्षमा करो। तुम्हारा कहना ठीक है; तुम सब कुछ कर सकते हो ॥१३।१८॥

सभापर्व का सत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

अथ एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

कर्ण उवाच—त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चाऽस्वतन्त्रा च नारी ।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥ १ ॥
प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तत्ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र ।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि! भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा,न पार्थाः ॥ २ ॥
अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भामिनि! यस्माद्दास्यं न लभसि देवनेन ।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये विदितं तत्तवाऽस्तु ॥ ३ ॥
पराजितो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च ।

इकहत्तरवां अध्याय ॥ ७१ ॥

कर्ण ने कहा-हे भद्रे द्रौपदी! ये तीन व्यक्ति निर्धन होते हैं; दास,पुत्र और पराधीन स्त्री। नियम है,कि दास की स्त्री हीन पतिवाली और दास का सब धन ये दोनों स्वामी ही के होते है। हे राजपुत्रि! राजा दुर्योधन के घर में जाकर जो काम मिले, सो करो। अब तुम्हारे स्वामी धृतराष्ट्र के सब पुत्र है, पाण्डव नहीं। हे भामिनि! तू दूसरा पति कर ले, जिससे दासी का दुःख प्राप्त न हो; दास-भाव में स्त्रियों

दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि ! पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ४ ॥
प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः ।
पाञ्चालस्य द्रुपदस्याऽऽत्मजामिमां सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी भृशं निशश्वास तदाऽऽर्तरूपः ।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ६ ॥
भीमसेन उवाच—नाऽहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः ।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयुर्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ! ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णींभूतमचेतनम् ॥ ८ ॥
भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप ! शासने ।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥
एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम् ।
स्मयन्निवैक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥
कदलीदण्डसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।

को पतियों में कामवृत्ति अशक्य है। यह तुम्हें मालूम है, कि नकुल, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव और युधिष्ठिर ये सब हार गये। हे याज्ञसेनि ! तुम दासी हो गयी और ये पराजित पाण्डव तुम्हारे पति नहीं रहे। क्या कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर जन्म में प्रयोजन पराक्रम और पुरुषार्थ को नहीं मानते, जो पाञ्चालराज द्रुपद की पुत्री को जुए में लगा दिया ॥१।५॥

वैशम्पायन कहते हैं—कर्ण के ये वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीमसेन आर्तभाव धारण करके बारंबार लम्बी सांसें लेने लगे। क्या करते, राजा युधिष्ठिर के अनुगत और धर्म-पाश में बँधे हुए होने के कारण वे कुछ नहीं कर सकते थे। उनके नेत्र लाल हो गये। वे इस प्रकार युधिष्ठिर की ओर देखने लगे मानों उनको जला कर भस्म कर डालेंगे। अब भीमसेन ने युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज ! मैं सूतपुत्र कर्ण के ये वचन सुनकर उस पर क्रोध नहीं करता, क्योंकि हम सचमुच हारकर दास हो चुके हैं और कर्ण जो कह रहा है, वह दास-धर्म ही है। परन्तु हे राजन् ! मुझे कोप आपके ऊपर है; क्योंकि जो आप द्रौपदी को दांव पर रखकर जुआ न खेलते, तो शत्रुओं की क्या सामर्थ्य थी कि ऐसे दुर्वचन कहकर हमारा अपमान करते ॥६।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भीमसेन के ये वचन सुनकर, अचेत से हो कर चुप

द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥
भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते ।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥
पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥
क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः ।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥ १५ ॥

विदुर उवाच—परं भयं पश्यत भीमसेनात्तद्बुध्यध्वं पार्थिवाः ! प्रातिपेयाः! ।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥
अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ पापान्मन्त्रान्कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १७ ॥
इमं धर्मं कुरवो जानताऽऽशु ध्वस्ते धर्मे परिषत्संप्रदुष्येत् ।
इमां चेत्पूर्वं कितवोऽग्लहीष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८ ॥
स्वप्ने यथैतद्विजितं धनं स्यादेवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य धर्मादस्मात्कुरवो माऽपयात ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच—भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव ।

बैठे हुए, युधिष्ठिर से राजा दुर्योधन ने कहा—हे महाराज ! ये चारों भाई अर्थात् भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव तुम्हारे आज्ञाकारी हैं, इसमें तुम द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर दो, कि तुम उसको जीती हुई मानते हो, या नहीं ? युधिष्ठिर से यों कह कर ऐश्वर्य के मद में मोहित दुर्योधन ने मुस्कराकर कर्ण की ओर देखा । फिर केले के खम्भे के समान, सब श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, वज्र के समान दृढ़, हाथी की सूँड के समान घनी हुई बाईं जाघ पर से वस्त्र हटा-कर उसने द्रौपदी की ओर देखा और घृणित सङ्केत किया ॥८।१२॥

यह देखकर भीमसेन आग के समान प्रज्वलित हो उठे । वे लाल-लाल नेत्र निकाल कर दुर्योधन की ओर देखते हुए सब राजाओं को सुनाकर, ऊँचे स्वर से कहने लगे—हे दुर्योधन ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि यदि मैं युद्ध में गदा से तेरी यह जाघ न तोड़ डालूँ तो मुझे मरने पर अपने पितरों के लोक न प्राप्त हों। उस समय भीमसेन के कान, नाक आदि स्थानों में से क्रोध की अग्नि इस प्रकार से निकलने लगी, जैसे जलते हुए वृक्ष के कोटर अर्थात् छिद्रों में से अग्नि निकलती है ॥१३।१५॥

इसके पीछे विदुर जी ने कहा—हे प्रतीपवंशी राजाओ ! यह देखो, भीमसेन ने भयानक प्रतिज्ञा की है । इसमें संदेह नहीं कि दैव की प्रेरणा से ही

युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीशमथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ! ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच-ईशो राजा पूर्वमासीद्‌ ग्लहे नः कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा ।

ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।

तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२ ॥

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।

भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वांस्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे ।

निवेदयामासतुरार्तवत्तदा ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच-हतोऽसि दुर्योधन ! मन्दबुद्धे ! यस्त्वं सभायां कुरुपुंगवानाम् ।

स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत ! विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी हितान्वेषी बान्धवानामपायात् ।

कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत्सान्त्वपूर्वं विमृश्यैतत्प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच-वरं वृणीष्व पाञ्चालि ! मत्तो यदभिवाञ्छसि ।

दुर्योधन आदि ने अन्याय करके यह अनर्थ उत्पन्न किया है। मुझे जान पड़ता है, कि यह कुरुवंश नष्ट हो जायगा। हे दुर्योधन ! तुमने सभा के बीच में स्त्री को लाकर द्यूत-धर्म के भी विरुद्ध कर्म किया है। सभा में स्त्री को लाकर उसके लिये यों झगड़ा ठानना किसी प्रकार से अच्छा नहीं कहा जा सकता। इस कुकर्म और अत्याचार से तुम लोगों के पूर्वोपार्जित सब धर्म-कर्म नष्ट हो गये। कैसे शोक की बात है, कि कुरुवंश के सब लोग इस कुमन्त्रणा के पृष्ठपोषक बन रहे हैं। हे कुरुवंशियो ! सभा के बीच में किसी तरह का अधर्म होने से सब सभासदों को दोष लगता है। हे दुर्योधन और दुःशासन ! तुम से मैं इस समय भी प्रार्थना करता हूँ, मेरी बात पर ध्यान दो। महाराज युधिष्ठिर यदि अपने को हारने से पहले द्रौपदी को दांव पर लगा देते, तो अवश्य तुम लोग जीती हुई वस्तु समझकर द्रौपदी को ले सकते थे; किन्तु धर्मराज पहले स्वयं हार गये हैं, इस लिये इन्हें द्रौपदी को दाव पर लगाने का कोई अधिकार नहीं रहा। जो जिस वस्तु का स्वामी नहीं, वह उसे बदकर हार जाय, तो उस हारी हुई वस्तु पर जीतनेवाले का वैसे ही अधिकार नहीं हो सकता, जैसे स्वप्न में जीते हुए धन को कोई पा नहीं सकता। इसी से मैं कहता हूँ, कि दुष्ट शकुनि के कहने से उन्मत्त होकर धर्म को न छोड़ो। यह सुनकर, दुर्योधन ने कहा—हे पाञ्चाली ! मैं भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव के ऊपर इस बात को छोड़ता हूँ। वे कह दें, कि युधिष्ठिर हमारे स्वामी नहीं हैं, तो तुम दासीभाव से छुटकारा पा सकती हो।

वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच—ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ! ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः ।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममाऽऽत्मजम् ॥ २९ ॥
राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नाऽन्यः पुमान्कचित् ।
राजभिर्लालितस्याऽस्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे ।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह ॥ ३१ ॥
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ।

द्रौपद्युवाच—सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ ॥ ३२ ॥
यमौ च वरये राजन्नदासान्स्ववशानहम् ।

धृतराष्ट्र उवाच—तथाऽस्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ॥ ३३ ॥
तृतीयं वरयाऽस्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता ।

॥१६।२०॥
यह सुनकर अर्जुन ने कहा- धर्मराज युधिष्ठिर ने जब हमको दाव पर लगाया था, तब वे अपने को हारे नहीं थे, इस लिये हम सब के स्वामी थे। जब वे अपने को बदकर हार गये, तब भला किस के स्वामी रह सकते हैं ? कुरुवंश के सब लोग इस पर विचार कर देखें। वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! सभा में इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि महाराज धृतराष्ट्र के यज्ञस्थान में घुसकर गीदड़ ऊँचे स्वर से रोने लगा। साथ ही बहुत से गधे और भयानक अशुभ पक्षी भी घोर शब्द करने लगे। इन अमङ्गल शब्दों को बुद्धिमान् विदुर, गान्धारी, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि सब ने सुना। भय से व्याकुल होकर, सब लोग "कल्याण हो, कल्याण हो" कहने लगे। तब गान्धारी और विद्वान् विदुर ने राजा धृतराष्ट्र से उन घोर उत्पातों का वर्णन किया। अमङ्गल की आशङ्का से सब लोग कांप उठे ॥२१।२४॥

यह सुनते ही महाराज धृतराष्ट्र दुर्योधन से कहने लगे-हे दुर्बुद्धि दुर्योधन! इसमें सन्देह नहीं कि तूने अपने हाथों अपना नाश कर लिया। तू सभा में पाण्डवों की धर्मपत्नी द्रौपदी से ऐसी अनुचित बात कर रहा है। भरतवंश की बहू के साथ ऐसा व्यवहार कर रहा है! तुझे लज्जा नहीं आती! वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! बुद्धिमान् प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र ने विचार कर दुर्योधन के काम को बन्धुओं के नाश का कारण समझा और द्रौपदी को पास बुलाकर कहा-हे द्रौपदी! तुम अपनी धर्म-बुद्धि के कारण मेरी सब बहुओं में श्रेष्ठ हो। तुम

त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३४ ॥
द्रौपद्युवाच—लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाऽहमुत्सहे ।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ! ॥ ३५ ॥
एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रियो वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ! ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३६ ॥
पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम ।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन्पुण्येन कर्मणा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

बड़ी पतिव्रता हो। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझ से मागो। यह सुनकर द्रौपदी ने कहा- हे महाराज ! यदि आप प्रसन्न होकर वर देना चाहते हैं, तो मैं आप से यही मांगती हूँ, कि महाराज युधिष्ठिर दासभाव से छुटकारा पावें, और मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्य को कोई दास-पुत्र न कहे। प्रतिविन्ध्य पहले राजकुमार था। जिसका लालन-पालन राजाओं ने किया है, वह दास-पुत्र होने योग्य नहीं ॥ २५।३० ॥

महाराज धृतराष्ट्र ने 'ऐसा ही होगा' कहकर यह वर दे दिया और फिर कहा—हे द्रौपदी ! यह वर तो मैंने तुमको दे दिया; अब तुम दूसरा वर मुझ से मांगो, मैं प्रसन्नता से दूँगा। तुम एक वरदान के योग्य नहीं हो। द्रौपदी ने कहा—हे महाराज ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव दास-भाव से छूट जावें और उनको उनके रथ और धनुष दे दिये जावें। धृतराष्ट्र ने यह वरदान भी दिया और कहा—हे द्रौपदी ! अब तुम तीसरा वर मुझ से और मांगो। तुम्हें दो वरदान देने से मेरी तृप्ति नहीं हुई है, क्योंकि तुम धर्मचारिणी और मेरी सब बहुओं में श्रेष्ठ हो। यह सुनकर द्रौपदी ने कहा—हे महाराज ! बहुत लोभ करने से धर्म का नाश होता है, इससे मैं अब तीसरा वर मांगना नहीं चाहती हूँ। शास्त्र में लिखा है कि वैश्य को एक वर, क्षत्रिय की स्त्री को दो वर, राजा को तीन वर और ब्राह्मण को सौ वर तक मांगने और लेने का अधिकार है। हे महाराज ! ये मेरे पति अब दास-भाव से छूट कर शुभ कर्म करके बहुत कल्याण पायेंगे ॥ ३१।३७ ॥

सभापर्व का इकहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

कर्ण उवाच—या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण संमताः ।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ १ ॥
क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति ।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाऽभवत् ॥ २ ॥

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाऽभवत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तद्वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्पणः ।
स्त्री गतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

भीम उवाच—त्रीणि ज्योतींपि पुरुप इति वै देवलोऽब्रवीत् ।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥
अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते ।
देहे त्रितयमेवैतत्पुरुपस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥
तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात् ।
धनञ्जय ! कथं स्वित्स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच—न चैवोक्ता न चाऽनुक्ता हीनतः परुपा गिरः ।
भारत ! प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसंभावनाः स्वयम् ॥ ९ ॥

भीम उवाच—इहैवैतानहं* सर्वान्हन्मि शत्रून्समागतान् ।

बहत्तरवां अध्यायः ॥ ७२ ॥

कर्ण ने कहा—हमने आज तक जितनी स्वरूपवान् स्त्रियां सुनी हैं, उनमें से ऐसा कर्म किसी स्त्री का नहीं सुना है। इस द्रौपदी ने पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्रों के क्रोध को शान्त करके पाण्डवों को महादुःखरूपी समुद्र में से नौका रूप होकर निकाला है ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अत्यन्त क्रोधी भीमसेन, कौरवों की सभा में, कर्ण के ये वचन सुनकर बहुत ही दुःखित हुए और कहने लगे कि "हाय! स्त्री ने पाण्डवों को उबारा!" फिर उन्होंने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन! देवल ऋषि ने कहा है कि तीन वस्तुओं से पुरुष को सद्गति मिलती है। सन्तान, शुभकर्म और विद्या यही तीन वस्तुएँ पुरुष की सहायता करती हैं। पुरुष जब मरने से अपवित्र हो जाता है और जातिवाले भी उसे त्याग देते हैं, तब इन्हीं तीन वस्तुओं से जीवधारी को सहायता मिलती है। हमारी धर्मपत्नी को छूकर दुःशासन ने अपवित्र कर दिया है; इसी कारण उनके गर्भ से उत्पन्न सन्तान भी अपवित्र हो गई समझनी चाहिये ॥४।७॥

अर्जुन ने कहा—हे भीमसेन! जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे नीच आदमी से बात नहीं करते हैं, चाहे वह कुछ कहे, या न कहे। और सत्पुरुष दूसरे के किये हुए उपकार को जानकर सदैव सुहृत ही

---

* इहैवैतांस्तूणा सर्वानिति नीलकण्ठीव्याख्यातः पाठः । तूणा [illegible] । [illegible] 'उत्सङ्गे' [illegible] ।

अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र! समूलान्हन्मि भारत! ॥ १० ॥
किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत! ।
अद्यैवैतान्निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह ।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥ १२ ॥
सान्त्व्यमानो वीक्ष्यमाणः पार्थेनाऽक्लिष्टकर्मणा ।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप! ।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥
भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत्तस्य तन्मुखम् ।
युगान्तकाले संप्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥
युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्वेति भारत! ॥ १६ ॥
निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठद्धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

का स्मरण करते हैं और किये हुए वैर को कभी हृदय में नहीं आने देते है। तब भीमसेन ने कहा–हे युधिष्ठिर! यहां वृथा बात करने की क्या आवश्यकता है! आप कहें तो मैं अभी बाहर निकलकर इन सब शत्रुओं को जड़मूल से नष्ट कर डालूँ। आप निष्कंटक होकर पृथ्वी का शासन कीजिए। ॥८।११॥

यह कहकर भीमसेन वहां भाइयों-सहित इस प्रकार से देखने लगा जैसे मृगों में सिंह देखता है। उस समय भीमसेन युधिष्ठिर के शान्त स्वरूप को देखकर दुःखित हुआ और क्रोध के कारण से उस के कान, नाक आदि छिद्रों से ज्वाला निकलने लगी और प्रलयकाल के रुद्र स्वरूप के सदृश उसका मुख, भौं आदि के चढ़ाने से ऐसा भयानक हो गया, कि उसके सम्मुख मनुष्य नहीं देख सकता था। तब युधिष्ठिर ने उसके ऐसे स्वरूप को देखकर हाथ पकड़कर कहा–हे भाई! ऐसा मत करो, शान्त हो जाओ। इस प्रकार भीमसेन को शान्त करके हाथ जोड़े हुए महाराज युधिष्ठिर अपने चाचा धृतराष्ट्र के पास गये ॥१२।१७॥

सभापर्व का बहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

अथ त्रयःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—राजन्किं* करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ! ।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत ! शासने ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—अजातशत्रो ! भद्रं ते× अरिष्टं स्वस्ति गच्छत ।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥
इदं चैवाऽवबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम् ।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥
वेत्थ त्वं तात ! धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ! ।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ ! वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥
यतो बुद्धिस्ततः क्षान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ! ।
नाऽदारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥
न वैराण्यभिजानन्ति गुणान्पश्यन्ति नाऽगुणान् ।
विरोधं नाऽधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥
संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर ! नराधमाः ।

तिहत्तरवां अध्याय ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ? मैं आप ही की आज्ञा में रहना चाहता हूँ। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे अजातशत्रु युधिष्ठिर ! अब तुम निर्विघ्न और कल्याणपूर्वक अपने घर को जाओ और धन-सहित आनन्द से राज्य करो। मैं वृद्ध हूँ, भलाई के लिये मैं जो कहता हूँ, उसे सदा स्मरण रखना। तुम सब प्रकार के धर्मों की सूक्ष्म गति को विशेष रूप से जानते हो और बड़े ही बुद्धिमान् हो। तुम ज्ञानी, नम्र और वृद्धों की सेवा करनेवाले हो ॥१।४॥

बुद्धिमान् मनुष्यों में सदैव क्षमा रहती है, इस से तुम भी अब शान्त होकर रहो। देखो, शस्त्र पत्थर आदि कड़ी वस्तुओं पर नहीं चलता है और जो वस्तु नरम होती है उसको काट डालता है। महापुरुष वैर को अपने मन में नहीं रखते हैं और न विरोध करते हैं, किन्तु गुणों पर ही ध्यान करते हैं। शत्रु के किये वैर को भूलकर उसकी की हुई भलाई पर ही सज्जन ध्यान रखते हैं। परोपकार का स्वभाव रखनेवाले सज्जन, बुरा करनेवाले शत्रु से भी कभी बदला लेने का विचार नहीं करते ॥५।७॥

* 'करवामः' इति लोट उत्तम पुरुष बहुवचने सलोपाभाव आर्षः। × अरिष्टं सर्वतोभद्रं निर्विघ्नमित्यर्थः।

प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥
न चोक्ता नैव चाऽनुक्तास्त्वहिताःपरुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ १० ॥
असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथाऽऽचरितमार्येण त्वयाऽस्मिन्सत्समागमे ॥ ११ ॥
दुर्योधनस्य पारुष्यं तत्तात ! हृदि मा कृथाः ।
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकाङ्क्षया ।
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ! ॥ १२ ॥
प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ।
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ॥ १३ ॥
अशोच्याः कुरवो राजन्येषां त्वमनुशासिता ।
मन्त्री च विदुरो धीमान्सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १४ ॥
त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ।
शुद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! नीच अधम मनुष्य ही बातचीत में कठोर वचन कहते है। जो लोग कठोर वचन के उत्तर में आप भी कठोर शब्दों से काम लेते हैं, वे मध्यम कहलाते हैं । किन्तु जो उत्तम पुरुष हैं, वे किसी के कहे कठोर वचनों को सुनकर शान्ति से सह लेते हैं । उन्हें यदि कोई कठोर वचन कहता है, तो वे उनको उसी घड़ी भूल जाते हैं । और यदि उस कठोर वचन कहनेवाले ने कभी कुछ उनके साथ उपकार किया है, तो वे उस उपकार को सदा स्मरण किया करते हैं । जिनके दर्शन सबको प्रिय होते हैं, वे साधु लोग कभी आर्य पुरुषों की मर्यादा को नहीं छोड़ते। इस सज्जनों के समागम में तुमने भी उसी सज्जनों के धर्म का पालन किया है । हे पुत्र ! तुम आर्यकुल के भूषण हो । दुर्योधन ने जो तुम्हें कठोर वचन कहे हैं और तुम्हारे साथ अनुचित व्यवहार किया है, उसे तुम भूल जाना ॥८।११॥

मै तुम्हारा चचा वृद्ध और अन्धा हूँ । तुम अपने गुणों की ओर, मेरी और गान्धारी की ओर देखकर, अपने हृदय में वैरभाव को स्थान मत देना। मुझे यह द्यूत क्रीड़ा बिलकुल पसन्द नहीं थी। केवल मित्रों की परीक्षा के लिये और पुत्रों का बलाबल जानने की इच्छा से ही मैं कुछ नहीं बोला और द्यूत-क्रीड़ा को उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा ॥१२।१४॥

हे राजन् ! निस्सन्देह हमारे मन्त्री विदुर जी

अजातशत्रो ! भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच–इत्युक्तो भरतश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥
ते रथान्मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रयःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥
समाप्तं च द्यूतपर्व ।

बड़े पण्डित और बुद्धिमान् हैं और तुम धर्मात्मा, अर्जुन धैर्यवान्, भीमसेन पराक्रमी और नकुल और सहदेव बड़ों की शुश्रुषा करनेवाले हैं । ईश्वर करे तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारी बुद्धि धर्म में लगी रहे और दुर्योधन आदि भाइयों से तुम्हारी प्रीति रहे । अब तुम खाण्डवप्रस्थ को जाओ। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! धृतराष्ट्र के यों कह चुकने पर महाराज युधिष्ठिर ने सभा में बैठे हुए सब लोगों से मिलकर, शिष्टाचार और बातचीत करके, द्रौपदी और भाइयों के साथ खाण्डवप्रस्थ के लिये यात्रा कर दी। पांचों पाण्डव मेघतुल्य रथों पर चढ़कर प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानी को चले। ॥१५।१८॥

सभापर्व का तिहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

॥ अथ अनुद्यूत पर्व ॥
अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

जनमेजय उवाच–अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान्धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन्दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥

चौहत्तरवां अध्याय ॥ ७४ ॥

राजा जनमेजय ने वैशम्पायन जी से पूछा–हे महाराज! जब धृतराष्ट्र के पुत्रों को यह प्रतीत हुआ, कि धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर, पांचों पाण्डव सब रत्न-धन आदि लेकर द्रौपदी के साथ इन्द्रप्रस्थ को चले गये, तब उनके मन की क्या दशा हुई ? कृपा करके कहिए। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय। बुद्धिमान् धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ जाते देख, दुःशासन को बड़ा दुःख हुआ। वह शीघ्रता से वहां पहुंचा, जहां दुर्योधन अपने मन्त्रियों-सहित बैठा हुआ था। उसने जाकर दुर्योधन

दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ! ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
दुःशासन उवाच—दुःखेनैतत्समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद्गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ! ॥ ४ ॥
अथ दुर्योधनः कर्णःशकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान्प्रतिमानिनः ॥ ५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥
दुर्योधन उवाच—न त्वयेदं श्रुतं राजन्यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शुक्रस्य नीतिं प्रवदन्विद्वान्देवपुरोहितः ॥ ७ ॥
सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ! ।
पुरा युद्धाद्बलाद्वापि प्रकुर्वन्ति तवाऽहितम् ॥ ८ ॥
ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान्संपूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान्योधयिष्यामः किं वै नःपरिहास्यति ॥ ९ ॥
अहीनाशीविषान्क्रुद्धान्नाशाय समुपस्थितान् ।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥ १० ॥
आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात ! पाण्डवाः ।

से कहा—हे महाराज ! बड़े यत्न से हमने जो धन शत्रुओं से प्राप्त किया था, उसे बूढ़े राजा ने पाण्डवों को देकर हमारे हाथ से खो दिया। यही सूचना देने मैं आपके पास आया हूँ ॥१।४॥

यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण, शकुनि तीनों पाण्डवों से बदला लेने के लिये शीघ्रता से महाराज धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। वहां पहुँचकर नम्रता-पूर्वक दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी ! आपने, जो शुक्र की कही हुई नीति, बृहस्पति जी ने देवताओं से कही थी, वह नहीं सुनी है। मनुष्य को चाहिये, कि अपने अहितकारी शत्रु को युद्ध और पराक्रम करने के पहले ही, जिस उपाय से हो सके, मार डाले ॥५।८॥

हमारी इच्छा थी, कि हम पाण्डवों के धन से सब राजाओं को अपने वश में कर लें। ऐसा करने पर, जो पाण्डवों का हम से युद्ध भी होता, तो हमारी कुछ हानि नहीं थी। भला ऐसा कौन मनुष्य होगा जो विषधारी साँपों को, अपने आप को नाश करने के लिये, अपने कन्धों और पीठ पर छोड़ेगा। इस लिये हे पिता जी ! यदि हम पाण्डवों को छोड़ देंगे तो वे लोग हाथ में शस्त्र लेकर, रथ पर चढ़कर, कुपित साँप की तरह हमारे वंश भर का नाश कर

निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ॥ ११ ॥
संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी ।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निश्वसंश्च निरीक्षते ॥ १२ ॥
गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः ।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् ॥ १३ ॥
नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत् ।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥ १४ ॥
ते त्वास्थाय रथान्सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् ।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान्सेनायोगाय निर्ययुः ॥ १५ ॥
न क्षंस्यन्ते तथाऽस्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥
पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान्वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ! ॥ १७ ॥
ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १८ ॥
त्रयोदशं सजनेन* अज्ञाताः प्रतिवत्सरम् ।

डालेंगे। देखो, अर्जुन चलते समय रथ में बैठकर, तरकसों को बांधकर, बार-बार गाण्डीव धनुष को उठाता था और चारों ओर श्वास ले-लेकर देखता था ॥९।१२॥

और भीमसेन भी अपनी भारी गदा को उठाकर रथ को जोतकर शीघ्रता से चल दिया। नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर भी ढाल और तलवार लिये, एक दूसरे की ओर देखकर इशारे करते गये हैं। उनकी चेष्टा से ऐसा जाना जाता है, कि वे रथों को दौड़ाते हुए सेना लेने को गये हैं। सेना लाकर अवश्य उत्पात करेंगे क्योंकि हमने उनके साथ जो-जो उत्पात किये है और द्रौपदी को जो क्लेश दिये है, उनको वे कभी न सह सकेंगे ॥१३।१६॥

इस लिये मेरी इच्छा यह है, कि हम लोग वनवास का दाँव लगाकर फिर उनके साथ चौसर खेलें। इस प्रकार खेल में हराकर हम उन्हें अपने वश में कर सकेंगे। अब की बार हम यह दांव लगावेंगे, कि हम में से जो कोई हारे, वह बारह वर्ष तक मृगछाला पहनकर वन में रहे और तेरहवें वर्ष अज्ञातवास करे। अज्ञातवासवाले वर्ष में छिपकर रहना होगा। उस वर्ष जो पता लगा लिया जायगा, तो फिर बारह वर्ष वन में रहकर उसी नियम पर

* सजनेन समानजनेनेत्यर्थः।

ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १९ ॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम् ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २० ॥
एतत्कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ ! ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसंपदम् ॥ २१ ॥
दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च ।
सारवद्विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥ २२ ॥
ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद्व्रतम् ।
जेष्यामस्तान्वयं राजन् ! रोचतां ते परन्तप ! ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान्कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २५ ॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥ २६ ॥
अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम् ।
अकरोत्पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़ेगा। जब तक अज्ञातवास का वर्ष पता लगाए बिना ही व्यतीत न किया जा सके, तब तक इसी प्रकार पुनः पुनः बारह वर्ष बनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़ेगा। इस तरह का दांव लगाकर चौसर खेलने के लिये आप हमें आज्ञा दे दीजिए। इस समय अपनी भलाई के लिये हमें इसी उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। मामा शकुनि पांसों की विद्या को अच्छी तरह से जानता है ॥१७।२१॥

और यदि पाण्डव तेरह वर्ष का व्रत पूरा भी कर आवेंगे, तो उतने काल में हम सब मित्रों को वश में करके और बहुत सी सेना को आदर-सहित इकट्ठी करके हाथों हाथ उनको युद्ध में जीत लेंगे। इस लिये हे पिता जी ! हमारी इस बात को स्वीकार कर लीजिए; क्योंकि इसी में आपके पुत्रों की भलाई हो सकती है। यह सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने कहा— अच्छी बात है। शीघ्र पाण्डवों को बुलाकर, चाहे वे आधे ही रास्ते में पहुँचे हों, इस शर्त पर फिर जुआ खेलें। वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! धृतराष्ट्र की यह सम्मति सुनकर द्रोणाचार्य, सोमदत्त,

बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, युयुत्सु, भूरिश्रवा, भीष्मपितामह और विकर्ण आदि ने उसका विरोध किया और कहा-हे महाराज ! अब जुआ खेलना उचित नहीं है। यद्यपि सब मित्रों की इच्छा नहीं थी, पर धृतराष्ट्र ने उनका कहा न माना; पुत्र का प्रिय करने की इच्छा से पाण्डवों को बुलाने के लिये दूत भेज दिये ॥२२।२७॥

सभापर्व का चौहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ७४ ॥

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच-अथाऽब्रवीन्महाराज ! धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद्धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्शिता ॥ १ ॥
जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिर भाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २ ॥
व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ! ।
अन्तो नूनं कुलस्याऽस्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥
मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ! ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ! ॥ ४ ॥
मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद्धमेच्छान्तं च पावकम् ॥ ५ ॥
शमे स्थितान्को नु पार्थान्कोपयेद्भरतर्षभ ! ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढं स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥
शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।

पचहत्तरवां अध्याय ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन कहते है-हे राजा जनमेजय ! यह सूचना पाकर पुत्रों का हित चाहनेवाली धर्मपरायण गान्धारी शोक से व्याकुल होकर धृतराष्ट्र के पास जाकर कहने लगी-हे महाराज ! कुलाङ्गार दुर्योधन ने जन्म लेने के समय गीदड़ के रोने का सा शब्द किया था। तब महामति विदुर ने कहा था, कि कुल के लिये यह बालक कलङ्क होगा, इसलिये इसे अभी मार डालो; क्योंकि यह जीता रहा, तो किसी समय इसके कारण कुरुकुल का नाश होगा। हे महाराज! आप विदुर के वचनों को सत्य समझ कर वह उपाय कीजिए, जिस में वंश का नाश न हो। अपने दोष से आप अपने को विपत्ति और शोक के समुद्र में मत डुबाइये। हे प्रभो ! इन बालकों की बातों में मत आइये ॥१।४॥

अपने कुल के नाश का कारण मत बनिए। आप को इस कुल के नाश होने का कारण बनकर बँधे हुए पुल को गिराना और बुझी हुई अग्नि को जलाना उचित नहीं है। भला ऐसा कौन मनुष्य

न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद्राजन्! कथंचन ॥ ७ ॥
त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात्त्यज्यतां कुलपांसनः ॥ ८ ॥
तथा ते न कृतं राजन्! पुत्रस्नेहान्नराधिप! ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥ ९ ॥
शमेन धर्मेण नयेन युक्ता या ते बुद्धिः साऽस्तु ते मा प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥
अथाऽब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तःकामं कुलस्याऽस्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥
यथेच्छन्ति तथैवाऽस्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाःपाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

होगा, जो शान्त हुए पाण्डवों को फिर कुपित करके अपना नाश कराना चाहेगा ? हे महाराज ! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी मैं फिर आपको स्मरण कराये देती हूँ । जो दुर्बुद्धि पुरुष हो, उसको शास्त्र भी ठीक राह पर नहीं लगा सकता; शास्त्र पढ़ने पर भी उसे भले या बुरे और हिताहित का ज्ञान नहीं होता । वृद्ध पुरुष को कभी बालकों की बुद्धि में न लगना चाहिये । आप ऐसा उपाय करें, जिसमें आप के पुत्र आपकी आज्ञा के अनुसार चलें । ऐसा न कीजिए, जिससे वे आपको त्याग दें और मनमाना कार्य करें । पुत्रों के और वंश के भले के लिये आप कुलाङ्गार दुर्योधन को त्याग दीजिए ॥५।८॥

उस समय पुत्र के स्नेह के कारण आपने विदुर का कहा नहीं माना, उसी का फल यह सामने आया है । वह दुष्ट अपने दुराचार से सारे वंश का नाश कराने पर उतारू है । आपकी बुद्धि पहले जैसे शान्ति, धर्म और न्याय से युक्त थी, वैसी ही बनी रहे । आप अपनी बुद्धि को असावधान न कीजिए। देखिए, कितने कष्ट उठाने से और युद्ध आदि क्रूर कर्म करने से राजलक्ष्मी प्राप्त होती है; परन्तु बहुत ही साधारण भूल मे वह हाथ से निकल जाती है। बुद्धि से काम करने पर ही वह राजलक्ष्मी पुत्रों और पौत्रों तक बनी रहती है । गान्धारी के वचन सुनकर धृतराष्ट्र ने उनपर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कहा– हे प्रिये ! यदि वंश का नाश होना ही लिखा है, तो हो । मैं दुर्योधन को हटा नहीं सकता। दुर्योधन आदि पुत्र जो चाहते हैं, वही हो । पाण्डव फिर आकर मेरे पुत्रों के साथ जुआ खेलें ॥९।१२॥

सभापर्व का पचहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७५ ॥

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥
उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ! ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाहेति भारत! ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥
अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नाऽतिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच—असंभवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥
इति ब्रुवन्निवबृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ ६ ॥
विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥

छिहत्तरवां अध्याय ॥ ७६ ॥

वैशम्पायन कहते है—हे राजा जनमेजय ! तब बहुत दूर गये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से, बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से प्रातिकामी सूत ऐसा कहने लगा—हे महाराज ! आपके पिता ने ऐसा कहा है कि सभा लगी हुई है, यहां आओ और पासे फेंक-कर जुआ खेलो । युधिष्ठिर ने कहा, कि प्रारब्ध के बल से पुरुष शुभ और अशुभ सब को प्राप्त करता है, यदि फिर हमको जुआ खेलना हो, तो यह निश्चय है, कि पुरुष शुभ और अशुभ कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता है । यदि राजा धृतराष्ट्र ने फिर जुआ खेलने के लिये बुलाया है, तो उसे नाश और अनर्थ का कारण जानकर भी मैं राजा की आज्ञा को अस्वीकार करना नहीं चाहता। जो होगा सो होगा, मै अवश्य जुआ खेलूँगा ॥१।४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! विपत्ति जब आनेवाली होती है, तब प्राय मनुष्यों की बुद्धि विपरीत हो जाया करती है । देखो, सोने के मृग का होना असम्भव जानकर भी रामचन्द्र जी उसे मारने के लिये उसके पीछे गये थे । महाराज युधिष्ठिर यह कहकर, शकुनि के छल को जानकर भी, फिर द्यूतक्रीड़ा करने के लिये, अपने भाइयों के साथ लौटकर दुर्योधन की सभा में गये । उन महारथियों को फिर जुआ खेलने के लिये आते देखकर उनके मित्रों को बड़ा दुःख हुआ । सब संसार का नाश करनेवाले महाभारत युद्ध का आरम्भ करने के लिये दैव ने प्रेरणा की और पाण्डव जुआ खेलने को

यथोपजोपमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये ।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥

शकुनिरुवाच—अमुञ्चत्स्थविरो यद्वो धनं पूजितमेव तत् ।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ! ॥ ९ ॥
वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ ११ ॥
अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १२ ॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १३ ॥
त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः* ॥ १४ ॥
अनेन व्यवसायेन सहाऽस्माभिर्युधिष्ठिर ! ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ! ॥ १५ ॥
अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा ।

अपने-अपने आसन पर जा विराजमान हुए ॥५।८॥

उन सब के बैठ जाने पर अब शकुनि ने कहा—हे महाराज ! बूढ़े राजा ने जो आपको आपका हारा हुआ धन लौटा दिया, सो अच्छा किया । अब हे भरतश्रेष्ठ ! एक सब सम्पत्ति से बढ़कर, दाव लगाकर हम लोग चौसर खेलेंगे । शर्त यह होगी, कि हम लोग हार जायँगे, तो मृगछाला पहन करके बारह वर्ष तक वन में रहेंगे और फिर एक वर्ष तक इस तरह अज्ञातवास करेंगे, कि आप लोग हमारा पता न पा सकें । जो उस वर्ष में हमारा पता लग जायगा तो हम फिर बारह वर्ष तक बनवास करेंगे । ऐसे ही जो आप हम से हार जायँगे, तो आप लोगों को भी द्रौपदी-सहित बारह वर्ष तक बनवास करने के पश्चात् एक वर्ष तक अज्ञातवास करना पड़ेगा । यदि आप का पता लग जायगा, तो फिर आपको बारह वर्ष वन में रहना पड़ेगा । इस प्रकार समय पूरा होने पर आप लोग या हम लोग अपना राज्य पा सकेंगे । आइए, हम लोग इसी शर्त के अनुसार पासे फेंकें ॥९।१५॥

* एकेन 'इतरैः' इत्यनेन पाण्डवाः परामृश्यन्ते । अपरेण 'इतरैः' इत्यनेन धार्तराष्ट्राः परामृश्यन्ते ।

ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात्सर्व एव हि ॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः–अहो धिग्बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् ।
बुद्धया बुध्येन्नवा बुध्येदयं वै भरतर्षभ ! ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच–जनप्रवादान्सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात्पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ १८ ॥
जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात्कुरूणामिति चिन्तयन् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच–कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने ! त्वया ॥ २० ॥

शकुनिरुवाच–गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः ॥ २१ ॥
एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ! ।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥ २२ ॥
त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः ! ॥ २३ ॥
समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ! ।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

शकुनि के ये वचन सुनते ही सब सभासद उद्विग्न होकर, ऊपर को हाथ उठा-उठाकर, कहने लगे—अहो, इन भाई-बन्धुओं को धिक्कार है। यदि धर्मराज अपनी बुद्धि से नहीं समझते, तो ये लोग वर्तमान महाभय की सूचना देकर, उन्हें क्यों नहीं रोकते ! वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! अपने हितचिन्तक बन्धुओं के ये वचन सुनकर भी धर्म और लोक-लाज के विचार से धर्मराज युधिष्ठिर रुके नहीं। उन्होंने सब कुछ जानकर भी फिर जुआ खेलना स्वीकार कर लिया। वे समझ गये, कि कौरवों के नाश का समय अब समीप आ गया है। युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि ! मेरे समान पुरुष अपने धर्म का विचार करके, किसी के बुलाने पर, जुआ खेलने से कैसे विमुख हो सकता है ! आ आ, मैं जुआ खेलने के लिये तैयार हूँ ॥१६।२०॥

शकुनि ने कहा—हे पाण्डव ! गायें, घोड़े, भेड़

भैंसे, हाथी, सोना, रत्न, दास, दासी, साम्राज्य आदि सब कुछ छोड़ कर, हम केवल बनवास की शर्त पर यह दाँव लगाते हैं। हम या आप जो हारे वह बारह, वर्ष बनवास करके तेरहवें वर्ष गुप्त रहे। आइए,यह दाँव लगाकर हम लोग फिर खेलें। युधिष्ठिर ने शकुनि की शर्त स्वीकार कर ली, तब शकुनि ने पाँसे फेंके और कहा-मैं जीत गया ॥२१।२४॥

सभापर्व का छिहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ७६ ॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्याय ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥ १ ॥
अजिनैः संवृतान्दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् ।
प्रस्थितान्वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥
अद्य देवाः संप्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद्वयं परैः ॥ ४ ॥
नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ५ ॥
धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान्प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ६ ॥

सतहत्तरवा अध्याय ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय। पाण्डवों ने सर्वस्व हार कर वन को जाने के लिये मृगचर्म ले लिये। उस समय उनको राज्य-हीन और मृगचर्म लिये हुए वन को जाने के लिये तैयार देखकर दुःशासन कहने लगा—आहा, अब महाराज दुर्योधन ही इस पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा हुए। पाण्डव लोग जुए में सब कुछ हार कर भारी विपत्ति में पड़ गये हैं। देवताओं ने सब ओर से हम पर कृपा की, जो आज हम अपने शत्रुओं से गुणों में अधिक और श्रेष्ठ हो गये ॥१।४॥

अब पाण्डव बहुत दिनों तक नरक भोगेंगे और सुख और राज्य से हीन होकर नष्ट होकर फिरेंगे। ये ही पाण्डव थे, जिन्होंने धन के मद से धृतराष्ट्र के पुत्रों की हसी की थी। देखो, अब ये धन और सर्वस्व हार कर वन को जाते हैं। अब इनके शरीर से विचित्र कवच, सुन्दर कपड़े और गहने उतार कर इन्हें मृगछाला पहना दो। ये लोग पहले समझते थे, कि पृथ्वी पर इनकी बराबरी करने

चित्रान्सन्नाहानवमुञ्चन्तु चैषां वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति ।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः ॥ ७ ॥
न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
ज्ञास्यन्ति तेऽस्मानमिहाऽद्य पाण्डवा विपर्यये षण्ढतिला इवाऽफलाः॥ ८ ॥
इदं हि वासो यदि वेदृशानां मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥
महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद्वै सुकृतं नेह किंचित्क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥
सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्दृष्ट्वाऽरण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
का त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि ! पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥ ११ ॥
एते हि सर्वे कुरवः समेताः क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे न त्वां नयेत्कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥
यथाऽफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा* अपि ॥ १३ ॥
किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्थानश्रावयद्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥
तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।

वाला कोई नहीं। इस समय इनका अभिमान टूट गया है। अब ये सार-हीन तिलों के समान पराक्रम-हीन हो गये हैं। इनके ये मृगछाला के वस्त्र यज्ञ में दीक्षित होकर पहनने के नहीं हैं। किन्तु ये मृगचर्म अदीक्षित मनुष्यों के से हैं ॥५।९॥

राजा द्रुपद तो बड़ा बुद्धिमान् था। उसने यह काम अच्छा नहीं किया, जो द्रौपदी सी सुन्दर कन्या को इन नपुंसक पाण्डवों को व्याह दिया। हे द्रौपदी! इन पाण्डवों के साथ वन में जाकर तुझको क्या सुख मिलेगा? ये बिचारे धन और स्थान से हीन होकर मृगछाला ओढ़े हुए आप ही दीन हो रहे हैं। इससे तू हम सब कौरवों में से, जो क्षमावान्, जितेन्द्रिय और धनवान् हैं, जिसको चाहे अपना पति कर ले, जिसमें तुझको वन का दुःख न उठाना पड़े। अब ये पाण्डव ऐसे हैं, जैसे सार-हीन तिलों को बटोरने से कुछ लाभ नहीं होता है, इसी प्रकार से इन पतित पाण्डवों की सेवा करने से तुझको कोई सुख नहीं मिलेगा। भीमसेन उस दयाहीन दुःशासन के उक्त परुष वचनों को सुनकर क्रोध से भर गया और उसके पास जाकर उसे इस प्रकार से पकड़

* काकयवा —व्रीहि क्षेत्र ब्रीहिरूपि: सद उत्पन्न नि:सार तृणधान्यम् ।

उवाच चैनं सहसैवोपगम्य सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच—क्रूरं पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥
यथा तुदसि मर्माणि वाक्छरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन्मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥
ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान्नेताऽस्मि यमसादनम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं गौर्गौरिति स्माह्वयन्मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच—नृशंस ! परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन ! त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ? ॥ २० ॥
मैव स्म सुकृताँल्लोकान्गच्छेत्पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रान्रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

कर, जैसे सिंह किसी मृग को पकड लेवे, कहने लगा ॥१०।१५॥

हे दुष्ट ! शकुनि के कपट से तू फूला नहीं समाता और इस राजसभा के बीच में पापियों के योग्य अनुचित बातें कह रहा है । इसका फल तुझे युद्ध के मैदान में अच्छी तरह दिया जायगा । जैसे यहा पर तू वचन-रूपी बाणों के प्रहार से हमारे मर्म-स्थानों को छेद रहा है, वैसे ही मैं भी युद्धभूमि में तुझे मारते समय इन बातों की याद दिलाकर पीड़ा पहुँचाऊँगा । देख, तू जिनके बल पर कूद रहा है और जो लोग क्रोध और लोभ के वश होकर तेरे पिछलग्गू हो रहे हैं, उन्हें भी मैं जीता न छोड़ूँगा । ॥१६।१८॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! धर्म के अनुरोध से भीमसेन कुछ प्रतिकार न करके उस समय वचनों से ही उसे डाटने और उसका तिरस्कार करने लगे । निर्लज्ज दुःशासन जानता था, कि धर्मपाश में बँधे रहने के कारण भीमसेन प्रहार न करेंगे; इसी से वह अत्यन्त उच्छृङ्खल होकर सब के सामने नाचने और मटकने लगा; और भीमसेन को "बैल, बैल" कहने लगा । इससे भीमसेन का क्रोध और भी प्रचण्ड हो गया । उन्होंने कहा–हे निर्लज्ज ! तू ही कपट के जुए में धन पाकर ऐसे कठोर शब्द कह सकता है और ऐसा अहङ्कार कर सकता है । और किसी मनुष्य से ऐसी निर्लज्जता नहीं हो सकती । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि यदि युद्ध में तेरी छाती फाड़ कर मै लोहू न पी लूँ, तो मुझे वे लोक न प्राप्त हों, जिनमें पुण्यात्मा लोग जाते हैं । मैं सब के सामने

शमं गन्तास्मि न चिरात्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच– तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् ।
गतिं स्वगत्याऽनुचकार मन्दो निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥
नैतावता कृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः ।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं संस्मार्याऽहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ! ॥ २४ ॥
एवं समीक्ष्याऽऽत्मनि चाऽवमानं नियम्य मन्युं बलवान्स मानी ।
राजानुगः संसदि कौरवाणां विनिष्क्रामन्वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

भीमसेन उवाच– अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः ।
शकुनिं चाऽक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥
इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः ।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥
सुयोधनमिमं पापं हन्ताऽस्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चाऽस्याऽहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥
वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाताऽस्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच– नैवं वाचा व्यवसितं भीम ! विज्ञायते सताम् ।

कहता हूँ, कि युद्ध में शीघ्र ही धृतराष्ट्र के पुत्रों का नाश करके अपने इस क्रोध को शान्त करूँगा। ॥१९।२२॥

वैशम्पायन कहते हैं-हे राजन् ! इसके पश्चात बनवास के लिये जाने को जब पाण्डव लोग सभा से निकलने लगे तब राजा दुर्योधन, सिंह के समान गतिवाले भीमसेन की चाल के समान चाल से, चलने लगा। भीमसेन ने तिरछा होके कहा-हे मूढ़ ! इस से क्या होना है, शीघ्र ही तुझे साथियों के सहित मारकर स्मरण कराऊँगा। हे राजा जनमेजय! भीमसेन ने अपना अपमान देखकर भी उस समय क्रोध को रोक लिया, क्योंकि वे महाराज युधिष्ठिर के वश में थे। किन्तु सभा से निकलते-निकलते भीमसेन ने यह अपनी प्रतिज्ञा ऊँचे स्वर से सब को सुना दी ॥२३।२५॥

कि मैं स्वयं युद्ध-भूमि में नीच दुर्योधन को मारूँगा, अर्जुन कर्ण को मारेंगे, पांसों के छली शकुनि को सहदेव मारेंगे। फिर सभा के बीच में कह देता हूँ, कि गदायुद्ध में इस पापी दुर्योधन को मारकर मैं इसके सिर पर पांव रक्खूँगा और कठोर वचन कहनेवाले, वचनवीर इस दुष्ट दुःशासन के हृदय के रक्त को मैं, सिंह की तरह गरजता हुआ अवश्य पिऊंगा। देवता लोग शीघ्र ही मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी करेंगे ॥२६।२९॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद्भविष्यति ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच—दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच—असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् ।
भीमसेन ! नियोगात्ते हन्ताऽहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥
अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥
ये चाऽन्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥
चलेद्धि हिमवान्स्थानान्निष्प्रभः स्याद्दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात्प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥ ३५ ॥
न प्रदास्यति चेद्राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद्भविष्यति ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान्माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।

इसके पीछे अर्जुन ने कहा—हे भीमसेन ! सज्जनों का यह नियम है, कि वे जो कुछ करना चाहते हैं, उसे करने के पहले अपने मुख से नहीं कहते । आज से तेरह वर्ष पूरे होने पर, चौदहवें वर्ष जो कुछ होगा, उसे सब लोग आप ही देख लेंगे । भीमसेन ने फिर कहा—उस समय पृथ्वीदेवी दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और शकुनि इन चारों दुरात्माओं का रक्त पियेगी । तब अर्जुन ने भीमसेन को प्रसन्न करने की इच्छा से प्रतिज्ञा की, कि मैं तुम्हारी आज्ञा से इस नीच और कुबुद्धि कर्ण को और इसके साथी सब राजाओं को, जो मेरे सन्मुख आवेंगे मारकर यमलोक में पहुँचाऊँगा । जो आज से चौदहवें वर्ष में यह नीच दुर्योधन हमारे राज्य को हमें न देगा, तो निःसन्देह मैं इन सब बातों को सच करके दिखाऊँगा । चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थान से हट जाय, चाहे सूर्य प्रभा-हीन हो जाय और चाहे चन्द्रमा की शीतलता जाती रहे, परन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा से नहीं हटूँगा ॥३०।३६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पीछे प्रतापवान् सहदेव क्रोध से लाल-लाल आँखें किये हुए और साँप की तरह श्वास लेता हुआ शकुनि को मारने की इच्छा से, अपनी भुजाओं को पकड़ कर कहने लगा—अरे गान्धार-राजकुल के यश को मिटानेवाले दुष्ट शकुनि ! मैं पासे, जिन के बल

क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥

सहदेव उवाच—अक्षान्यान्मन्यसे मूढ ! गान्धाराणां यशोहर ! ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥
यथा चैवोक्तवान्भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।
कर्ताऽहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥
हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ! ॥ ४१ ॥
सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

नकुल उवाच—सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन्धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान्धार्तराष्ट्रान्दुर्वृत्तान्मुमूर्षून्कालचोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥
निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि न चिरादिव ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

तू नाच रहा है, पांसे नहीं हैं, किन्तु ये तेरे प्राण को नाश करने वाले तीक्ष्ण बाण हैं । जो तू क्षत्रिय-धर्म को छोड़ कर युद्ध से भाग न जायगा, तो जैसी भीमसेन ने आज्ञा दी है उसी प्रकार से मैं तुझको तेरे भाई बन्धु और साथियों-सहित मारूँगा ॥३७।४१॥

इसके पीछे सहदेव की प्रतिज्ञा सुनकर नकुल ने कहा—इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को जिन्होंने काल से प्रेरित होकर मरने की इच्छा से द्रौपदी को कठोर वचन सुनाये हैं, मैं युधिष्ठिर की आज्ञा से मारकर यमलोक में पहुँचाऊँगा और द्रौपदी को प्रसन्न करने के लिये पृथ्वी पर धृतराष्ट्र के पुत्रों का बीज नाश कर दूँगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महाबाहु पुरुषसिंह, पाण्डव इस प्रकार शत्रुनाश की कठिन प्रतिज्ञा करके राजा धृतराष्ट्र के पास गये ॥४२।४६॥

—:x:—

सभापर्व का सतहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७७ ॥

अथ अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम् ।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १ ॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च ।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवाऽन्यान्सभासदः ।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच-न च किंचिदथोचुस्ते ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥
विदुर उवाच—आर्या पृथा राजपुत्री ! नाऽरण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥
पाण्डवा ऊचुः—तथेत्युक्त्वाऽब्रुवन्सर्वे यथा नो वदसेऽनघ !
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥
यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ।

अठहत्तरवां अध्याय ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की सभा में जाकर कहा—मैं भरतवंश के सब लोगों से विदा होता हूं । वृद्ध पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, राजा बाह्लीक, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्य राजा लोग, विदुर, राजा धृतराष्ट्र और उनके सब पुत्र, युयुत्सु, सञ्जय तथा सब सभासदगण, मैं आप लोगों से विदा होकर वन को जाता हूं । वहां से लौट कर फिर आप लोगों के दर्शन करूँगा । वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर की बात को सुनकर किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया, लज्जा से सब नीचे को मुख किये हुए बैठे रहे। परन्तु उन सबों ने मन में पाण्डवों को आशीर्वाद दिया ॥१।४॥

इसके पीछे विदुर जी ने कहा—हे युधिष्ठिर ! आर्या कुन्ती राजकुमारी हैं । वे वृद्ध हैं और सदा सुख में रही हैं। इस लिये उनका तुम्हारे साथ वन को जाना उचित नहीं । कल्याणी कुन्ती मेरे यहीं घर में, आदर-सत्कार के साथ रहेंगी । तुम लोग यह बात स्वीकार कर लो । जाओ, तुम लोगों का सदा, सब जगह, सब तरह भला हो । यह सुनकर पाण्डवों ने कहा—आप हमारे चचा और पिता के समान हैं । हम लोग सदा आप के अनुगत हैं । आप हमारे परम गुरु हैं । इस लिये आप ने जो

यच्चाऽन्यदपि कर्तव्यं तद्विधत्स्व महामते ! ॥ ८ ॥
विदुर उवाच—युधिष्ठिर ! विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ! ।
नाऽधर्मेण जितः कश्चिद्व्यथते वै पराजये ॥ ९ ॥
त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनञ्जयः ।
हन्ताऽरीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥ १० ॥
संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥ ११ ॥
अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः ।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ? ॥ १२ ॥
एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत ! ।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणाऽपि समोऽप्युत ॥ १३ ॥
हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १४ ॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शंभुना ।
अश्रौषीरसितस्याऽपि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥ १५ ॥
कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः ।

कहा, यह हमें स्वीकार है । आप और भी जो कुछ हमारा कर्तव्य समझते हों, उसका उपदेश कीजिए ॥५।८॥

यह सुनकर विदुर जी ने युधिष्ठिर से कहा— हे भरतकुल के यश को बढ़ानेवाले ! देखो, अधर्म के द्वारा जीता गया पुरुष कदापि अपनी हार से व्यथित या खिन्न नहीं होता। तुम धर्म के मर्म को विशेष रूप से जानते हो । अर्जुन सदा युद्ध में विजय प्राप्त करते हैं। भीमसेन अपने बल से शत्रुओं का नाश करते हैं । नकुल धन के संग्रह में अद्वितीय हैं । सहदेव संयमी हैं । तुम्हारे पुरोहित धौम्य ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं । पतिव्रता द्रौपदी धर्म-अर्थ के कामों में निपुण हैं और धर्म में निष्ठा रखती है । तुम सब एक दूसरे को प्यारे हो । तुमको देखकर सब लोग प्रसन्न होते है । तुम लोग सन्तोषी हो, इस लिये शत्रु लोग तुम लोगों में फूट नहीं डाल सकते । तुम्हारे मन को स्वस्थ रखनेवाले ये नियम सब प्रकार कल्याणदायक हैं। इन्द्र के समान प्रबल शत्रु भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते ॥९।१३॥

पहले हिमाचल पर मेरुसावर्णि ऋषि ने, वारणावत नगर में व्यास जी ने, भृगुतुङ्ग पर्वत पर परशुराम जी ने, दृषद्वती नदी के तट पर शिव जी ने तुमको ज्ञान और धर्म की शिक्षा दी है । तुमने अञ्जन पर्वत पर महर्षि असित के मुख से उपदेश सुना है ।

द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥
मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ! ॥ १७ ॥
शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन्धर्मोपसेवया ।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥ १८ ॥
तथा विसर्गे कौवेरे वारुणे चैव संयमे ।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥ १९ ॥
भूमेः क्षमां च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चाऽऽत्मसंपदम् ॥ २० ॥
अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रष्टास्मि पुनरागतान् ।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥
यथावत्प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ! ।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय ! स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ! ॥ २२ ॥
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
न हि वो वृजिनं किंचिद्वेद कश्चित्पुरा कृतम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थाने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

कल्माषी नदी के तट पर भृगु महर्षि ने तुमको अपना शिष्य बनाया है। देवर्षि नारद सदा तुम्हारी देखरेख रखते हैं । इनके अतिरिक्त महर्षि धौम्य तुम्हारे पुरोहित हैं । हे पाण्डव ! ऋषियों के दिये हुए पूजनीय उपदेशों को, सङ्कट या संग्राम के समय मत भूलना । तुम बुद्धि में पुरूरवा से, धर्म के आचरण में ऋषियों से, सन्तोष में इन्द्र से, शक्ति में सब राजाओं से, क्रोध के रोकने में यमराज से, उदारता और दान में कुबेर से, तथा इन्द्रिय संयम में वरुण से भी बढ़कर हो ॥१४।१८॥

तुम चन्द्रमा से शान्ति, जल से परोपकार की वृत्ति, पृथ्वी से क्षमा, सूर्य से तेज, वायु से बल और सब प्राणियों से आत्म-सम्पत्ति प्राप्त करो। तुम्हारा भला हो। कुल-देवता तुम्हें नीरोग रक्खें। फिर लौट कर जब तुम आओगे तब हम तुमको देखेंगे; क्योंकि आज तक तुमने कुछ अधर्म नहीं किया है । वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर उक्त बातों को सुनकर और 'ऐसा ही होगा' कह कर भीष्म, द्रोणाचार्य को प्रणाम करके चल दिये ॥१९।२४॥

अथ एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन उवाच– तस्मिन्संप्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम् ।
आपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चाऽन्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥
यथार्हं वन्दनाश्लेषान्कृत्वा गन्तुमियेष सा ।
ततो निनादः सुमहान्पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥
कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद्वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
वत्से ! शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञाऽसि शीलाचारवती तथा ॥ ४ ॥
न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन्प्रति शुचिस्मिते ! ।
साध्वी गुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥
सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयाऽनघे ! ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥
भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैकृतं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥
सहदेवश्च मे पुत्रः सदाऽवेक्ष्यो वने वसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नाऽयं सीदेन्महामतिः ॥ ८ ॥

उन्नासीवां अध्याय ॥ ७९ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! पाण्डवों को वन में जाने के लिये तैयार देखकर, उदास द्रौपदी यशस्विनी कुन्ती के पास गई। वहां कुन्ती को और अन्य कुल की स्त्रियों को प्रणाम करके, उनसे विदा होकर, द्रौपदी जब पतियों के साथ जाने लगी, तब पाण्डवों के महल में बड़ा भारी रोने का शब्द सुन पड़ने लगा। द्रौपदी को जाने के लिये तैयार देखकर, कुन्ती शोक से विह्वल और अचेत सी हो गई। बड़े कष्ट से अपने को सम्भाल कर उसने द्रौपदी से कहा-॥१।३॥

हे पुत्री ! दुःख में पड़ने के कारण से शोक से अत्यन्त अधीर न होना। तुम साध्वी, सुशीला और पतिव्रता हो। तुम धर्म को जानती हो और सदाचारिणी हो। तुमने अपने गुणों से पिता के और पति के कुल को उज्ज्वल किया है। पति के साथ स्त्री को कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह तुम्हें बताने की आवश्यकता नहीं। देखो पुत्री ! कौरवों का कोई बड़ा भारी पुण्य और अनिर्वचनीय सौभाग्य था, जिस से अभी तक तुम्हारे क्रोध की आग में पड़कर भस्म नहीं हुए। हे द्रौपदी ! मैं सदा तुम्हारे

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥
तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथाऽपश्यत्सुतान्सर्वान्हृताभरणवाससः ॥ १० ॥
रुरुचर्मावृततनून्ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।
परैः परीतान्संहृष्टैः सुहृद्भिश्चाऽनुशोचितान् ॥ ११ ॥
तदवस्थान्सुतान्सर्वानुपसृत्याऽतिवत्सला ।
स्वजमानाऽवदच्छोकात्तत्तद्विलपती बहु ॥ १२ ॥
कुन्त्युवाच—कथं सद्धर्मचारित्रान्वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान्दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान्सदा ॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात्कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्याऽपध्यानजं चेदमागः पश्यामि वो धिया ॥ १४ ॥
स्यात्तु मद्भाग्यदोषोऽयं याऽहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥ १५ ॥

मङ्गल की इच्छा करती हूँ। तुम प्रसन्नता से अपने पतियों के साथ जाओ। राह में तुम पर कोई विपत्ति न आवेगी। सभी स्त्रियां यह जानती हैं, कि होनहार टल नहीं सकती। हे पुत्री! तुम भी यही समझकर, सदा धर्म-मार्ग में चलती रह कर, पतियों की भलाई में अपना समय व्यतीत करती रहो। ऐसी दशा का विचार करके अपने आत्मा को क्लेश न पहुँचाना। धर्म और गुरुजन सदा तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुम्हारा कल्याण शीघ्र होगा। हे पुत्री! तुमसे और अधिक क्या कहूँ! देखो, सहदेव अभी बालक ही है। इस लिए तुम सदा उसकी देख-भाल और रक्षा करना। यह अपनी दुर्दशा का विचार करके कभी दुःखित न होने पावे। यह सुनकर द्रौपदी, जो रजस्वला थी और जिसके सिर के बाल खुले हुए थे, यह कहकर कि 'ऐसा ही होवे' रोती हुई महल से बाहर निकली। उसके पीछे-पीछे शोक से विह्वल कुन्ती भी बाहर तक आई। वहां उसने अपने पुत्रों को, जिनके सब वस्त्र और गहने उतार लिये गये थे, देखा ॥४।१०॥

कुन्ती ने उन सब को मृगछाला पहने हुए, और लज्जा से नीचे को सिर झुकाए हुए देखकर सब को छाती से लगाया और महादुःखी होकर, विलाप करती हुई कहने लगी—हाय, कैसे बुरे दिन आ गये हैं, जो भूलकर भी अधर्म की राह पर पैर नहीं रखते। सदा यज्ञ, देवताओं की पूजा आदि धर्म-कर्म करने में ही अपना समय व्यतीत करते हैं, भक्ति और श्रद्धा के साथ जो देवताओं की और गुरुजनों की पूजा करते रहते हैं, उन्हीं उदारस्वभाव,

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥ १६ ॥
यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥ १७ ॥
धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसंप्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत्प्रियाम् ॥ १८ ॥
धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥ १९ ॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाऽहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥ २० ॥
पुत्रका ! न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान्प्रियान्सतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे ! किं जहासि माम् ॥ २१ ॥
अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन्धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममाऽन्तो नैव विहितस्तेनाऽऽयुर्न जहाति माम् ॥ २२ ॥

सच्चरित्र पुरुषों में प्रधान पाण्डवों की ऐसी दुर्दशा क्यों हुई ! हाय ! मैं इस समय किसे अपराधी ठहराऊँ ! मैं अत्यन्त अभागिन और पापिन हूँ। मेरे ही भाग्य के दोष से यह सब कुछ हुआ है। ॥११।१४॥

हाय पुत्रो ! तुम क्यों इस अभागिन के पेट से पैदा हुए थे ! तुम बड़े गुणी और ज्ञानी पुरुषों में श्रेष्ठ हो; केवल इस अभागिन के गर्भ से उत्पन्न होने के दोष से ही इतना क्लेश पा रहे हो। हाय पुत्रो ! तुम लोग असाधारण बलवान् और वीर्यवान् होकर किस तरह घोर वन में अत्यन्त हीनवीर्य पुरुष की भांति समय बिताओगे। हाय ! जो मुझे ऐसा मालूम होता, कि तुमको वनवास होगा, तो शतशृंग पर्वत पर से महाराज पाण्डु के मरने पर यहां कभी न आती। हे पुत्रो ! तुम्हारे पिता धन्य हैं, क्योंकि वे स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं और उनके साथ स्वर्ग को जानेवाली माद्री भी धन्य है; क्योंकि इस अभागिन की तरह उसे न सहने योग्य क्लेश और कठिन यातना नहीं भोगनी पड़ी। मैं अत्यन्त अभागिन और पापिन हूँ। मेरे जीवन को धिक्कार है। ॥१५।२०॥

पुत्रो ! तुम मुझको अकेली छोड़ कर कहां जाओगे ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी। तुम्हें छोड़कर मैं किसी तरह जीवित न रह सकूँगी। हाय ! पुत्री द्रौपदी तुम भी क्या मुझे छोड़कर चली जाओगी ! क्या विधाता ने मेरे शरीर का अन्त नहीं लिखा है, जो ऐसी विपत्ति में भी मेरे प्राण नहीं निकलते हैं। हे कृष्ण ! हे बलदेव जी के छोटे भाई ! इस समय तुम

हा कृष्ण! द्वारकावासिन्काऽसि संकर्पणानुज! ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥ २३ ॥
अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः ।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम्॥ २४ ॥
इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नाऽर्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥ २५ ॥
सेयं नीत्यर्थविज्ञेपु भीष्मद्रोणकृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेपु कथमापदुपागता ॥ २६ ॥
हा पाण्डो! हा महाराज! क्वासि? किं समुपेक्षसे? ।
पुत्रान्विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥ २७ ॥
सहदेव! निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपि माद्रेय! मां मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥ २८ ॥
व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसन्धिनः ।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥ २९ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥
विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।

कहा हो, जो मेरी और इनकी इस दुःख से रक्षा नहीं करते हो ? यह बात विख्यात है, कि जो कोई तुमको आदि और सनातन जानकर तुम्हारा ध्यान करता है, उसको तुम अपना दर्शन देकर उसके दुःख को दूर करते हो, अब क्या कारण है, जो सहायता नहीं करते। हे द्वारकावासी! ये पाण्डव बड़े ही धर्मात्मा, महात्मा, यशस्वी और पराक्रमी हैं, दुःख सहने के योग्य नहीं हैं। इन पर अपनी दया कीजिए ॥२१।२५॥

हे भीष्म! हे द्रोण! हे कृपाचार्य! तुम्हारे रहते पाण्डवों पर ऐसी विपत्ति कैसे आई? हाय महाराज पाण्डु! तुम नहीं जानते, कि तुम्हारे प्रिय पुत्रों की कैसी दुर्दशा हो रही है! शत्रु लोग तुम्हारे निरपराध पुत्रों को कपट के जुए में हराकर निकाले दे रहे हैं। हे माद्री के पुत्र सहदेव! तुम वन को न जाओ। तुम मुझको अपने शरीर से भी अधिक प्यारे हो। कुपुत्र की तरह मुझे दुःख देकर मत जाना। तुम्हारे ये सब भाई सत्यप्रतिज्ञ हैं। इसमे तुम इनको ही जाने दो। तुम यहीं रहकर मेरे जीवन की रक्षा करो। यही करने से तुमको श्रेष्ठ धर्म प्राप्त होगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कुन्ती इस प्रकार विलाप करने लगीं। उनको प्रणाम

प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥ ३१ ॥
धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् ।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून्भृशम् ।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥ ३३ ॥
राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥
स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः संप्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥
ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत्संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

करके पाण्डव वन को चल दिये । ॥२६।३०॥

महामति विदुर जो स्वयं दुःखी थे, शोक से विह्वल बनी कुन्ती को तरह-तरह के विश्वास दिलानेवाले वाक्यों से धैर्य बँधाते हुए अपने घर ले गये। राजा धृतराष्ट्र के महल की स्त्रियां भी द्यूतसभा में द्रौपदी की वैसी दुर्दशा होने का वृत्तान्त सुनकर और यह जानकर, कि द्रौपदी भी पाण्डवों के साथ वन को गई है, व्यथित होकर, कौरवों की निन्दा करती हुई रोने लगी। अपने पुत्रों के अन्याय पर विचार करने से धृतराष्ट्र का चित्त भी बहुत चञ्चल हो उठा। उन्होंने शोक और मोह के वश होकर, जब चैन न पाई तब विदुर जी को बुला कर वे उनसे आगे के कर्तव्य के बारे में पूछने लगे ॥३१।३६॥

सभापर्व का उन्नासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७९ ॥

अथ अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

वैशम्पायन उवाच- समागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥
धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

विदुर उवाच—वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहू विशालौ संपश्यन्भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥
कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥
धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशांपते ! ।
गायन्गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः ।
तन्ममाऽऽचक्ष्व विदुर ! कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ९ ॥
विदुर उवाच—निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥
योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत ! ।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥ ११ ॥

अस्सीवां अध्याय ॥ ८० ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! अत्यन्त भय से व्याकुल धृतराष्ट्र ने विदुर को आया हुआ जानकर पूछा—हे विदुर ! पाण्डव लोग द्रौपदी और धौम्य के साथ वन को किस तरह जा रहे हैं ! विदुर ने कहा—हे महाराज ! युधिष्ठिर अपने मुख को कपड़े से ढके हुए, भीमसेन अपनी भुजाओं को देखता हुआ, अर्जुन बालू को पृथ्वी पर फेंकता हुआ, सहदेव मुख पर भस्म लगाता हुआ, नकुल अपने शरीर में धूल मलता हुआ, द्रौपदी अपने खुले हुए बालों से मुख को ढके हुए और रोती हुई, और धौम्य पुरोहित हाथ में कुशा लिये हुए सामवेद के उन मन्त्रों को पढ़ते हुए, जिनके देवता यम और रुद्र हैं, जा रहे हैं। युधिष्ठिर सब के आगे हैं और युधिष्ठिर के पीछे और सब हैं ॥१।८॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा—पाण्डव लोग इस प्रकार से नाना प्रकार के रूप बना कर क्यों जा रहे हैं ? विदुर ने कहा—हे राजन् ! यद्यपि आप के पुत्रों ने युधिष्ठिर का धन और राज्य छल करके ले लिया है, परन्तु युधिष्ठिर अपने धर्म को छोड़ना नहीं चाहते हैं। इससे उन्होंने तुम्हारे पुत्रों पर दया करके इस विचार से कि जो मैं अपनी क्रोध भरी हुई आँखें खोल दूंगा, तो घोर कर्म करनेवाले दुर्योधन आदि

नाऽहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद्गच्छति पाण्डवः ।
यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु ॥ १२ ॥
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ! ।
बाहू विशालौ कृत्वाऽसौ तेन भीमोऽपि गच्छति ॥ १३ ॥
बाहू विदर्शयन्राजन् ! बाहुद्रविणदर्पितः ।
चिकीर्षन्कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ॥ १४ ॥
प्रदिशञ्छरसंपातान्कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ।
सिकता वपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ॥ १५ ॥
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ! ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १६ ॥
न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखमद्येति भारत ! ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १७ ॥
नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ! ।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।

भस्म हो जायेंगे, अपने मुख को कपड़े से ढक लिया है ॥९।१२॥

भीमसेन यह सोचकर कि "बाहु बल में मेरे समान और कोई नहीं है" युद्ध में घोर कर्म करने के इरादे से बार बार भुजाओं को ताकते जा रहे हैं। अर्जुन जो बालू उड़ाते जा रहे हैं, उसका अभिप्राय यही है कि वे युद्ध में उसी तरह शत्रुओं पर बाणों की वर्षा करेंगे। सहदेव ने इस लिये मुख में भस्म लगा ली है, कि उन्हें कोई पहचान न सके। नकुल बहुत ही सुन्दर पुरुष हैं; राह में उनको देखकर स्त्रियां मोहित न हो जायँ, इस विचार से वन जाते समय उन्होंने सारे शरीर में मिट्टी लगा ली है। लोहू से भरी हुई, एक ही वस्त्र पहने, रोती हुई रजस्वला द्रौपदी दुःशासन के पकड़े हुए बालों को खोले यह कहती जा रही है, कि जिनके कारण मुझे यह दुःख प्राप्त हुआ है उनकी स्त्रियां चौदहवें वर्ष पुत्र, पति, बन्धुजन आदि के मरने से शोक में पीड़ित और लोहू से तर होकर, मिट्टी से भरी हुई,

हतपत्न्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ २० ॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः ।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २१ ॥
कृत्वा तु नैर्ऋतान्दर्भान्धीरो धौम्यः पुरोहितः ।
सामानि गायन्याम्यानि पुरतो याति भारत ! ॥ २२ ॥
हतेषु भरतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥ २३ ॥
हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक्कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः ॥ २५ ॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥
एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥ २७ ॥
एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।
अनभ्रे विद्युतश्चाऽऽसन्भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥

बाल खोले, मेरी तरह रोती हुई, भाई-बन्धुओं को तिलोदक देकर हस्तिनापुर में जायँगी ॥१३।२१॥

पुरोहित धौम्य नैर्ऋतनाम कुशा हाथ में लिये भयङ्कर याम्य साम पढ़ते जो जा रहे हैं उसका अभिप्राय यही है कि कौरवों के मारे जाने पर उनके पुरोहित भी, इसी तरह, घोर साम-मन्त्रों का पाठ करते हुए आगे-आगे चलेंगे। सब नगर के रहने वाले अत्यन्त दुःखित होकर आपस में कह रहे हैं कि हाय, देखो, हमारी रक्षा करने वाले पाण्डवों को कपट से कौरवों ने राज्य से भ्रष्ट कर दिया है। पाण्डव लोग उनके अन्याय से वन को चले जा रहे हैं। कुरु वंश के वृद्ध लोग चुपचाप यह देख रहे हैं। अहो उन बालकों की सी बुद्धि रखनेवाले वृद्धों को धिक्कार है। महाराज पाण्डु के उत्तराधिकारियों को लोभ के कारण राज्य से भ्रष्ट करनेवाले कौरवों को बार बार धिक्कार है। पाण्डवों के वियोग से हम लोग अनाथ हुए जा रहे हैं। लोभी और घमण्डी कौरवों पर हमें तनिक भी प्रेम नहीं है। हे महाराज! नगर-वासी लोग इस तरह कहकर विलाप कर रहे हैं। वे पाण्डव उक्त रीति से अपने मन की बात को रूप और चिह्नों से दर्शाते हुए वन की ओर चले गये। हे राजा धृतराष्ट्र! पाण्डवों के हस्तिनापुर से

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २९ ॥
प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ ३० ॥
एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन्दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन्! दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशांपते! ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२ ॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ ३३ ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥
इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद्देवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥
ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥ ३६ ॥
अथाऽब्रवीत्ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।

निकलते ही बिना बादल के आकाश से पानी की वर्षा हुई, पृथ्वी में भूकम्प हुआ, राहु ने बिना पर्व के सूर्य को ग्रस लिया और नगर के दहिनी ओर उल्कापात हुआ। और देवताओं के मन्दिर, अटारिया और यज्ञस्थान की सीवों के वृक्षों पर मास खाने वाले गृद्ध और काग आदि पक्षी और गीदड़ बोलने लगे। इसलिये हे राजा धृतराष्ट्र! ये सम्पूर्ण उत्पात तुम्हारे खोटे मंत्र के कारण से भरतकुल के नाश होने के निमित्त हुए हैं ॥२२।३१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! जिस समय विदुर जी धृतराष्ट्र से उक्त प्रकार से कह रहे थे उसी समय उन कौरवों की सभा में नारद जी महाऋषियों को साथ लिये हुए आये और कहने लगे, कि आज से चौदहवें वर्ष में दुर्योधन के अपराध के कारण से भीमसेन, अर्जुन के बल से सब कौरवों का नाश होगा। यह कहकर नारद जी ब्राह्मी कान्ति को धारण किये हुये शीघ्र आकाशमार्ग में जाकर अन्तर्द्धान हो गये। उनके ये वचन सुनकर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि बहुत ही भयभीत हुए। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को ही अपनी रक्षा करनेवाला समझ कर, यह सत्कार आदि से उन्हें सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करने लगा ॥३२।३६॥

दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥ ३७ ॥
अवध्यान्पाण्डवान्प्राहुर्देवपुत्रान्द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान्वर्तमानो यथाबलम् ॥ ३८ ॥
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान्सराजकान् ।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥ ३९ ॥
धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ४० ॥
चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद् दुःखाय पाण्डवाः ॥ ४१ ॥
मया च भ्रंशितो राजन्द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद्राजा वधाय मम भारत ! ॥ ४२ ॥
याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात्सुमध्यमाम् ॥ ४३ ॥
धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः संबन्धतो मतः ।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥
ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान्कवची शरी ।

तब द्रोणाचार्य ने दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण और सब भरतवंशियों से कहा—ब्राह्मणों का कहना है, कि देवपुत्र पाण्डव अवध्य हैं, किन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि मैं शरणागत धृतराष्ट्र और उनके पुत्रों को नहीं छोड़ सकता। मैं यथाशक्ति राजभक्ति से विमुख न होऊँगा। परन्तु होनहार बड़ी बलवान् है; जो होना है सो अवश्य होगा। धर्म से जीते गये पाण्डव धर्मपालन के लिये वन को चले जा रहे हैं। ब्रह्मचर्य धारण करके वे बारह वर्ष तक वन में रहेंगे। इसके पश्चात् जब लौटेंगे तब इस वैर का बदला अवश्य लेंगे ॥३७।४०॥

देखो, मेरे मित्र राजा द्रुपद ने जब मेरा अपमान किया था, तब बदला लेने के लिये मैंने भी इन्हें अर्जुन के द्वारा हराकर राज्य से भ्रष्ट कर दिया था। इस पर कुपित होकर राजा द्रुपद ने मुझे मारनेवाला पुत्र पैदा होने की इच्छा करके एक घोर यज्ञ किया। याज और उपयाज ऋषियों की तपस्या के प्रभाव से द्रुपद के पुत्र हुआ। अग्निकुण्ड से एक पुत्र धृष्टद्युम्न और एक कन्या द्रौपदी निकली। धृष्टद्युम्न पाण्डवों का साला है। इसे पाण्डव बहुत प्यारे हैं। इसी से मुझे भय है। उसका रंग अग्नि की ज्वाला सा ऐसा है। वह देवताओं का दिया हुआ धृष्टद्युम्न कवच, धनुष, बाण आदि लिये हुए पैदा हुआ है। मनुष्यमात्र मृत्यु से बच नहीं सकते। मैं भी मनुष्य

मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥ ४५ ॥
गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥
सुदृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत्संगमो मम ।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ! ॥ ४७ ॥
धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाऽप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥
सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥ ४९ ॥
मुहूर्तं सुखमेवैतत्तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत्प्राप्स्यथ वैशसम् ।
द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥
सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥८०॥

हूँ, अतएव मुझे धृष्टद्युम्न के हाथ से अपनी मृत्यु का डर है। यह बात प्रसिद्ध है कि धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य का काल है। वह पाण्डवों की ओर से अवश्य युद्ध करेगा, इसलिये तुम सब सावधान हो जाओ। देखो, अर्जुन का नाम महारथी और रथी पुरुषों में सब से पहले लिया जाता है। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है, किन्तु तुम्हारे लिये मुझे उस अर्जुन से भी युद्ध करना पड़ेगा, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है? तथापि मैं तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा और धृष्टद्युम्न के हाथ में यदि मृत्यु लिखी है तो वह भी सत्य होगी। हे दुर्योधन! तुम्हारा यह राज्य और सुख-सम्पत्ति सब शीतकाल की ताड़ के पेड़ की छाया के समान है। तुमने अपने हाथों अपना नाश कर लिया है। अच्छा, अब तुम यज्ञ करो, दान दो और सुख भोगो। अब से तेरह वर्ष व्यतीत होने पर तुम्हारा नाश हो जायगा। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! आचार्य ठीक कहते हैं। तुम जल्दी से जाकर पाण्डवों को लौटा लाओ। और यदि वे वन से लौटने के लिये सम्मत न हों तो धन आदि देकर उनका सत्कार

करो और हाथी, घोड़े, पैदल हथियारबन्द सिपाही आदि उनके साथ कर दो, जिसमें उन्हें कुछ कष्ट न मिले ॥ ४१।५२॥

— * —

सभापर्व का अस्सीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८० ॥

अथ एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन उवाच-वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज ! तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥
तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥
सञ्जय उवाच—अवाप्य वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिप ! ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्राज्याद्राजन् ! किमनुशोचसि ?॥ ३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥
सञ्जय उवाच—तवेदं सुकृतं राजन्महद्वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥
वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥

इक्यासीवां अध्याय ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उधर कपट के जुए में हार कर, पाण्डव वन को गये, और इधर धृतराष्ट्र अत्यन्त खिन्न होकर अकेले में बैठा लम्बी सांसें लेने लगा। वह गहरी चिन्ता में डूबा हुआ था। इसी समय उसके पास सञ्जय आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—हे राजन् ! पाण्डवों को वनवास देकर इस समय तो तुम समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के अद्वितीय स्वामी बन चुके हो। अब तुम किस बात की चिन्ता कर रहे हो ! ॥१।३॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—महारथी, बलवान् और चतुर पाण्डवों के साथ जो शत्रुता कर चुका है, वह क्योंकर निश्चिन्त और सुखी हो सकता है ? सञ्जय ने कहा, हे महाराज ! तुम्हारी ही कृपा से इस घोर शत्रुता का आरम्भ हुआ है। [यदि तुम इस द्यूतक्रीड़ा का अनुमोदन न करते, तो कभी यह स्थिति न आती] पाण्डवों के साथ शत्रुता करने का फल यही होगा, कि सब लोग अकाल में ही मारे जावेंगे। देखो, तुम्हारे निर्लज्ज और मन्दबुद्धि

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नाऽपसर्पति ॥ ९ ॥
अनर्थाश्चाऽर्थरूपेण अर्थाश्चाऽनर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥
न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥
आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥
अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत्सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राऽथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवेक्षत ।
हृतस्वान्हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान्हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान्सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।

पुत्र दुर्योधन ने भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुर जी के मना करने पर भी प्रातिकामी को भेजकर धर्मचारिणी द्रौपदी को सभा में बुलवाया। सत्य है, जिसको देवता लोग नष्ट करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि पहले ही से हर लेते हैं ॥४।८॥

और जब नाश का समय सिर पर आ जाता है, तब बुद्धि के पापरूप हो जाने से अनीति ही नीति जान पड़ती है। और हित अनहित और अनहित हित दिखाई देता है, और वही उसको अच्छा जान पड़ता है। काल, दण्ड उठाकर, किसी के सिर को नहीं फोड़ता। काल का बल यही है, कि वह विपरीत बातें सुझाता है। सभा में पतिव्रता, धर्मपरायणा द्रौपदी को खींच लाकर दुर्योधन आदि ने यह भयानक अनर्थ खड़ा कर लिया है ॥९।१२॥

दुष्टमति, जुआरी नीचों के सिवा, और कौन अयोनिजा, रूपवती, अग्निकुण्ड में से प्रकट हुई और सब धर्मों को जाननेवाली यशस्विनी द्रौपदी को इस तरह बाल पकड़कर सभा में घसीट लाने का साहस कर सकता है? इसके सिवा, जब वह द्रौपदी अपने रजस्वला धर्म में रुधिर से भरी हुई, एक वस्त्र पहने हुए अपने पतियों को, जो धन, राज्य और वस्त्रों को हार जाने के कारण से, दास होकर धर्म-

धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥
क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभापताम् ॥ १७ ॥
इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।

धृतराष्ट्र उवाच—तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥ १८ ॥
अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ! ।
भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह सङ्गताः ॥ १९ ॥
प्राक्राशन्भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥ २० ॥
प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाऽहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥
ब्राह्मणाः कुपिताश्चाऽऽसन्द्रौपद्याः परिकर्षणे ।
आसीन्निष्ठानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२ ॥
दिव उल्काश्चाऽपतन्त राहुश्चाऽर्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन्भयम् ॥ २३ ॥
तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥

पाश में बँधे होने के कारण से, पराक्रम भी प्रकट नहीं कर सकते थे, देख रही थी। उस समय दुर्योधन और कर्ण ने उस दुखिया से, जो अनादर करने के योग्य नहीं थी, कड़वे वचन कहे। हे महाराज ! मुझे तो ये सब कौरवों के नाश के ही लक्षण देख पड़ते हैं ॥१३।१७॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! तुम सत्य कहते हो, कि वह द्रौपदी अपनी क्रोधभरी हुई आंखों से देखकर पृथ्वी को भी भस्म कर सकती है। मुझे जान पड़ता है, कि मेरे पुत्र भी इस कुकर्म का फल अवश्य भोगेंगे—उनका नाश हो जायगा। देखो, जब सब भरतवंश की स्त्रियां गांधारी-सहित उस धर्मिष्ठा, युवति, धर्मपत्नी और स्वरूपवती द्रौपदी को सभा में आई हुई देखकर रो रहीं थीं, और ब्राह्मणों ने उसके सभा में लाने को देखकर क्रोध किया था और सायंकाल को अग्निहोत्र भी नहीं किया था, तब प्रचण्ड आंधी चलने लगी, वज्र के गिरने का सा शब्द हुआ, दिन में उल्कापात होने लगे, और पर्व न होने पर भी राहु ने सूर्य को ग्रस लिया। इसी प्रकार से रथशालाओं में अपने आप आग लग गई ॥१८।२३॥

ध्वजाएँ टूट-टूट कर गिरने लगीं, और दुर्योधन

दुर्योधनस्याऽग्निहोत्रे प्राक्रोशन्भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥
प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ! ।
कृपश्च सोमदत्तश्च वाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥
ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद्यदिच्छति ॥ २७ ॥
अवृणोत्तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम् ।
सरथान्सधनुष्कांश्चाऽप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥ २८ ॥
अथाऽब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् ।
एतदन्तास्तु भरता यद्वः कृष्णा सभां गता ॥ २९ ॥
यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा ।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान्दैवसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥
तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पञ्चाला वा महारथाः ॥ ३१ ॥
तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
आगमिष्यति बीभत्सुः पञ्चालैः परिवारितः ॥ ३२ ॥

की यज्ञशाला के पास सियार बड़े भयानक शब्द से बोलने लगे, चारों ओर गधे कठोर स्वर से रेंकने लगे। यह देखकर भीष्म, द्रोणाचार्य, बाह्लीक, सोमदत्त और कृपाचार्य आदि धर्मात्मा लोग सभा से उठकर चल दिये, तब विदुर जी के कहने से मैंने द्रौपदी से वरदान मांगने के लिये कहा। पतिव्रता द्रौपदी ने शस्त्र-सहित पाण्डवों को दास-भाव से छुटकारा ही मुझसे मांगा और मैंने वह वर उसे दे दिया। इसके पश्चात् सब धर्मों के ज्ञाता विदुर ने मुझसे कहा था—हे राजन् ! पाञ्चालराज की पुत्री साक्षात् लक्ष्मी है। वह सभा में इस तरह लाई गई और उसका अपमान किया गया। इसमे निश्चय समझिए कि भरतवंशियों का अन्त यहीं से आरम्भ हुआ। देखो, पाञ्चाली पाण्डवों के साथ वन को जा रही है। इसके ऐसे अपमान और क्लेश को पाण्डव कभी नहीं सह सकते ॥२४।३०॥

द्रौपदी के अपमान को महारथी राजा द्रुपद और वृष्णिवंशी लोग सहन करने के नहीं। पाण्डवों के रक्षक तथा सहायक स्वयं श्रीकृष्ण हैं। जिस समय अर्जुन पाञ्चाल देश की सेना लेकर आवेगा, और भीमसेन उस सेना में अपनी गदा को घुमाता हुआ युद्ध के लिये खड़ा होगा, उस समय कोई राजा अर्जुन के गाण्डीव धनुष के शब्द को सुनकर, भीमसेन की गदा के वेग को न सह सकेगा। इसलिये

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः ।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवाऽन्तकः ॥ ३३ ॥
ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ! ॥ ३४ ॥
तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान्बलवत्तरान् ॥ ३५ ॥
तथा हि बलवान्राजा जरासन्धो महाद्युतिः ।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३६ ॥
तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ! ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ॥ ३७ ॥
एवं कृते महाराज ! परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि ।
एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ।
उक्तवान्न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥
समाप्तं च अनुद्यूत पर्व । इति सभापर्व समाप्तम् ॥

मैं पाण्डवों के साथ विग्रह करना अच्छा नहीं समझता हूं। मेरी समझ में पाण्डवों से द्रोह न करके मेल ही करना अच्छा है ॥३१।३४॥

मैं पाण्डवों को कौरवों से सदैव अधिक बलवान् जानता हूँ। देखो, राजा जरासन्ध जो बड़ा तेजस्वी और बलवान् था भीमसेन के हाथों से मारा गया। इसलिये पाण्डवों से तुम्हारा मेल ही रहे, तो अच्छा है। तुम दोनों ओर के बलाबल को विचारकर शंका छोड़कर जैसा उचित समझो, वैसा करो। हे महाराज ! ऐसा करने से ही तुम्हारा कल्याण होगा। इसलिये हे सञ्जय ! विदुर जी ने यों धर्मार्थयुक्त वचन कहकर मुझे बहुत समझाया था; परन्तु मैंने अपने पुत्रों का हित करने के लिये उनकी सलाह को अङ्गीकार नहीं किया ॥३५।३८॥

सभापर्व का इक्यासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८१ ॥

सभापर्व समाप्त हुआ ।

पृष्ठ १४२७ तक ।





श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम

महाभारतम् ।

अथ वनपर्व ।

आरण्यपर्व ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

जनमेजय उवाच- एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम ! ॥ १ ॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम् ।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः ॥ २ ॥
कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमीयुषः ।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः ॥ ३ ॥
के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान्व्यसनमुत्तमम् ।
किमाचाराः किमाहाराः क्व च वासो महात्मनाम् ॥ ४ ॥
कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने ! ।

पहला अध्याय ॥ १ ॥

सभा में पाण्डवों को वनवास दिये जाने का हाल सुनकर राजा जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन जी! दुरात्मा धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हमारे पितामह पाण्डवों को इस तरह कपट के जुए में हराकर, कठोर वचनों से निन्दा करके, जब शत्रुता पैदा कर ली, तब पाण्डवों ने क्या किया? इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली पाण्डव अकस्मात् ऐश्वर्य से भ्रष्ट और दारुण दुर्दशा को पहुंच कर, किस तरह वन में विचरे? महात्मा पाण्डवों के साथ वन में कौन-कौन गया? वहां उन्होंने क्या क्या काम किये, कहां-कहां रहे और क्या क्या खाते-पीते रहे? ॥१।४॥

हे महाराज! उन्होंने किस तरह वन में बारह वर्ष बिताये? श्रेष्ठ, पतिव्रता, सत्यवादिनी, राजपुत्री द्रौपदी ने, सर्वथा सुख के योग्य होकर भी, किस

व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ ! शूराणामरिघातिनाम् ॥ ५ ॥
कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम् ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी सत्यवादिनी ॥ ६ ॥
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन ! ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ॥ ९ ॥
वर्धमानपुरद्वारेणाऽभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ १० ॥
इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परिचतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ ११ ॥
व्रजतस्तान्विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद्भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ॥ १२ ॥
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ।
पौरा ऊचु.—नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ।

तरह वनवास के दारुण दु.ख सहे ? आप यह सब विस्तारपूर्वक कहिए। उन पराक्रमी पाण्डवों का चरित्र सुनने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥५।८॥

वैशम्पायन जी ने कहा–हे राजा जनमेजय ! दुर्योधन और उसके मन्त्रियों से कुपित किये हुए पाण्डव जुए में हारकर, अपने शस्त्र लिये हुए, द्रौपदी-सहित हस्तिनापुर के बाहर निकलकर, उत्तर दिशा की ओर चल दिये। इन्द्रसेन आदि चौदह सेवक अपनी-अपनी स्त्रियों-सहित रथों पर चढ़कर शीघ्र उनके पीछे-पीछे हो लिये ॥९।११॥

पाण्डवों के वन जाने का समाचार सुनकर नगर के रहने वाले लोग शोक से दुःखी हो गये। वे सब मिलकर निर्भय होकर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि को बार-बार दोष देते हुए कहने लगे, कि दुष्ट दुर्योधन ने शकुनि की सम्मति और कर्ण तथा दुःशासन की सहायता से राज्य के लोभ में पड़कर, हम लोगों का सत्यानाश कर डाला। जिस देश का राज्य यह लोभी, अभिमानी, नीच और निर्दयी दुर्योधन, जो गुरुजन से द्वेष रखनेवाला और सुहृद और आचार विचार को त्यागनेवाला है, शकुनि, कर्ण और दुःशासन आदि अपने पापी

यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेयेन पालितः ॥ १३ ॥
कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥ १४ ॥
न तत्कुलं न चाऽऽचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ॥ १५ ॥
दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचार-सुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥ १६ ॥
नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥ १७ ॥
सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशात्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वाऽनुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान्समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे तान्कुन्तीमाद्रिनन्दनान् ॥ १९ ॥
क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वाऽस्मान्दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥ २० ॥
अधर्मेण जिताञ्छ्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नाऽस्मान्हातुमिहाऽर्हथ ॥ २१ ॥
भक्तानुरक्तान्सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ॥ २२ ॥

साथियों से रक्षित होकर करना चाहता है। उस देश में धर्म के नाश होने से हम लोगों को सुख क्योंकर मिल सकता है। यह कौरवों का कुल भी नष्ट होगा। इससे यह सब से अच्छा है, कि हम लोग भी इस के राज्य को छोड़ कर उन पाण्डवों के साथ चले चलें, जो दयावान्, उदार, शत्रु और इन्द्रियों को जीतनेवाले, कीर्तिमान् और धर्मात्मा हैं ॥१२।१८॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! इस प्रकार सम्मति करके सब पुरवासी पाण्डवों के पास पहुंचे और हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे–आपका कल्याण हो। हम सब दुःखियाओं को छोड़कर आप लोग कहां जाते हैं? हम सब भी आप ही के साथ चलेंगे। हम लोग यह सुनकर, कि आपको निर्दयी शत्रुओं ने अधर्म से जीत लिया है, महादुःखी हैं। आप को हम लोगों को छोड़ना उचित नहीं है। हम आपके बड़े ही भक्त और भलाई चाहने-वाले हैं। इसलिये आप हमें इस उच्छृङ्खल, अधर्मी, पापबुद्धि, दुराचारी दुर्योधन के हाथ में न सौंपियेगा। जो आप ऐसा करेंगे, तो जड़ मूल से हमारा नाश हो जायगा। हे पाण्डवो! अच्छी और बुरी सङ्गति

श्रूयतां चाऽभिधास्यामो गुणदोषान्नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥ २३ ॥
वस्त्रमापस्तिलान्भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ २४ ॥
मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ २५ ॥
तस्मात्प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च शुद्धभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥ २६ ॥
येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
तान्सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २७ ॥
निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाऽऽप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ २८ ॥
असतां दर्शनात्स्पर्शात्संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिध्यन्ति च न मानवाः ॥ २९ ॥
बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥
अनीचैर्नाऽप्यविषयैर्नाऽधर्मिष्ठैर्विशेषतः ॥ ३० ॥

से ही मनुष्य की प्रकृति में गुण और दोष आ जाते हैं ॥१९।२३॥

क्योंकि जैसे फूलों की गन्ध अपने सङ्ग से पृथ्वी, जल और वस्त्रादि को गन्धित कर देती है, उसी प्रकार से मनुष्य जैसी सगत में बैठता है, वैसे ही उससे गुण हो जाते है। मूढ़ पुरुष की सगत से मोह और साधु की सङ्गत से धर्म उत्पन्न होता है ॥२४।२५॥

इसलिये महात्माओ! गुणी, सत्यवादी और धर्मात्मा लोगों के साथ रहना ही उचित है, और जिनके कर्म, कुल और ज्ञान तीनों अत्यन्त पवित्र हैं, उन्हीं की सेवा करनी चाहिए। शास्त्र का मनन न करने पर भी उनके सङ्ग से ही तरह-तरह का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आप पुण्यात्मा हैं; आप लोगों का स्वभाव अत्यन्त पवित्र है। यदि हम लोग सर्वथा अच्छे काम न कर सकेंगे, तो भी आपके साथ रहने से बहुत कुछ पुण्य कर लेंगे। किन्तु जो उस अधर्मी पापी दुर्योधन की सेवा में लगे रहेंगे, तो हमें पाप में फँसना पड़ेगा। जिन्हें देखने, छूने, बात करने और पास बैठने से भी पाप होता है, उनकी सेवा करने से मङ्गल की आशा कहां है! जैसे सङ्ग में रहा जाता है, वैसीही बुद्धि वृत्ति होती है॥२६।३०॥

ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसंभवाः ।
लोकाचारेषु संभूता वेदोक्ताः शिष्टसंमताः ॥ ३१ ॥
ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच—धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥ ३३ ॥
तदहं भ्रातृसहितः सर्वान्विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ ३४ ॥
भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ ३५ ॥
ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसंतापविह्वलाः ॥ ३६ ॥
निवर्ततागता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥ ३७ ॥
एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम् ।
कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च कृतो भवेत् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच-तथाऽनुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।

शास्त्र में जो गुण धर्म-अर्थ काम से उत्पन्न, आचारों से नियन्त्रित और साधु सम्मत कहे गये हैं, वे सब सद्गुण आप लोगों में है। इसलिये हम अपनी भलाई के लिये, आप के पास ही रहना चाहते हैं। युधिष्ठिर ने कहा—हम धन्य हैं; क्योंकि ब्राह्मण आदि हमारी प्रजा हम पर इतनी भक्ति, आदर और स्नेह रखती है, कि वास्तव में जो गुण हममें नहीं हैं, उनको भी हममें बताती है। जो हो, मैं आपसे जो प्रार्थना करता हूँ, उसे सुनिए, और मुझ पर स्नेह तथा कृपा करके किसी तरह उसके विरुद्ध करने का निश्चय न कीजिएगा ॥३१।३४॥

भीष्म पितामह, बुद्धिमान् विदुर, माता कुन्ती और अन्य अनेक भाई-बन्धु हस्तिनापुर में विद्यमान् हैं। वे हमारे विरह से अधीर होकर बड़े कष्ट से, प्राण धारण कर रहे हैं। आप लोग यदि मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो ऐसा कीजिए, जिसमें वे अत्यन्त शोकाकुल न हों। मैं उनको आप लोगों के हाथ में सौंप जाता हूँ। आप लोग शीघ्र लौटकर उनकी देखभाल करें, इसी में मेरा हित होगा ॥३५।३८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! युधिष्ठिर के उक्त प्रकार से समझाने पर सब पुरवासी [illegible] राजन्! ऐसा कहकर महादुःखी पाण्डवों से पूछकर

चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥ ३९ ॥
गुणान्पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः ।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याऽथ पाण्डवान् ॥ ४० ॥
निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः ।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ४१ ॥
ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ॥ ४२ ॥
उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्शिताः ।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान्स्नेहात्केचिद् द्विजातयः ॥ ४३ ॥
साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः ।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥ ४४ ॥
तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे ।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः सञ्जल्पः समजायत ॥ ४५ ॥
राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः ।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यपर्वणि पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अनिच्छा से युधिष्ठिर के गुणों को स्मरण करते हुए लौट आये। सब पुरवासियों के लौट आने पर पाण्डव लोग अपने-अपने रथों में सवार होकर, प्रमाण नाम एक बड़ के पेड़ के समीप, जो गंगा जी के किनारे था, पहुँचे। और जब थोड़ा सा दिन रह गया, तब उस वृक्ष के नीचे गंगा के पवित्र जल को स्पर्श करके डेरा किया। उस दिन रात्रि में पाण्डवों ने दुःख के कारण से सिवा जल के कुछ आहार नहीं किया। उसी समय वहां स्नेह के कारण से कुछ ब्राह्मण लोग अपनी स्त्री, भाई-बन्धु और शिष्यों-सहित पाण्डवों के पास चले आये। युधिष्ठिर उन लोगों के आने से अत्यन्त सुशोभित हो गये। और उन लोगों ने सन्ध्या के आने पर, उस रमणीक स्थान पर राक्षसों के फिरने की वेला में अग्नि प्रज्वलित की और श्रुतियों का प्रमाण दे-देकर अनेक संवादों से राजा को धैर्य दिया और आनन्दपूर्वक वह रात को व्यतीत किया ॥३९।४६॥

वनपर्व का पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रभातायां तु शर्वर्यां तेपामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः ॥ १ ॥
तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः ॥ २ ॥
फलमूलामिपाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः ।
वनं च दोपबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ॥ ३ ॥
परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत् ।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः—गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः ।
नाऽर्हस्यस्मान्परित्यक्तुं भक्तान्सद्धर्मदर्शिनः ॥ ५ ॥
अनुकम्पां हि भक्तेपु देवता ह्यपि कुर्वते ।
विशेपतो ब्राह्मणेपु सदाचाराऽवलम्बिपु ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेपु सदा द्विजाः ।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम् ॥ ७ ॥

दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जब प्रातःकाल हुआ और पाण्डव वन को चलने लगे, तब वे सब ब्राह्मण, जो भिक्षा भोजन करनेवाले थे, पाण्डवों के आगे चलने को खड़े हो गये। उनको देखकर धर्मराज ने उनसे कहा—हे ब्रह्मर्षियो ! आप लोग हमारे साथ कहां जायेंगे ? हमारा राज्य और सर्वस्व हर लिया गया है। इस समय श्री भ्रष्ट होकर हम वन को चले जा रहे हैं। वहां फल मूल खाकर हमें रहना पड़ेगा। वह वन, सर्प, कछुए आदि जीवों से भरा हुआ होने के कारण से बड़ा दूषित है। आप लोगों को वहां जाने से बड़ा क्लेश होगा। ब्राह्मणों के दुःखी होने से देवता भी दुःखी होते हैं, मैं तो मनुष्य हूँ, आपका क्लेश देखकर मुझसे सहा न जायगा, इससे आप लौट जाइए ॥१।४॥

यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा—हे महाराज ! आप लोगों ने जिस राह में पांव रक्खा है, उसी राह में चलने के लिये हम भी तैयार हैं। हम लोग धर्म मार्ग के दिखलानेवाले और आप लोगों के शुभ चिन्तक हैं। हमें लौटाने की चेष्टा करना आपको किसी प्रकार उचित नहीं। देवता भी अनुयायी व्यक्ति के ऊपर दया दिखलाते हैं। विशेष कर ब्राह्मण के ऊपर स्नेह और आदर का भाव कौन नहीं रखता ? इसलिये महाराज ! हमारा त्याग आप क्यों करेंगे ? ॥५।६॥

आहरेयुर्हि मे येऽपि फलमूलमृगांस्तथा ।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ॥ ८ ॥
द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च ।
दुःखार्दितानिमान्क्लेशैर्नाऽहं योक्तुमिहोत्सहे ॥ ९ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः—अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत्ते हृदि पार्थिव ! ।
स्वयमाहृत्य चाऽन्नानि त्वाऽनुयास्यामहे वयम् ॥ १० ॥
अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव ।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच—एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः ।
न्यूनभावात्तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवाऽऽत्मनः ॥ १२ ॥
कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान्स्वयमाहृत्य भोजिनः ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान्धिक्पापान्धृतराष्ट्रजान् ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा स नृपः शोचन्निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वाञ्छौनको नाम वै द्विजः ।
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १४ ॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

युधिष्ठिर ने कहा—मै भी ब्राह्मणों पर सच्ची भक्ति और श्रद्धा रखता हूँ। परन्तु मै अब सहायहीन हूँ। क्योंकि मेरे ये भाई, जो फल-मूल लाते, सब शोक के मारे महादुःखी हो रहे हैं और मै उनको राज्य के जाने और सभा में द्रौपदी के बाल खींचे जाने के महाक्लेश से पीड़ित होने के कारण, किसी काम को करने की आज्ञा भी नहीं दे सकता हूँ ॥७।९॥

तब ब्राह्मणों ने कहा—आप हम लोगों के खाने-पीने की ओर से चिन्ता न कीजिए। हम लोग आप भीख लाकर आपके साथ रहेंगे और आपके कल्याण की चिन्ता में रहकर आपको सुन्दर-सुन्दर उपाख्यान सुनाया करेंगे। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा, कि आप लोग सत्य कहते हैं, मै भी ब्राह्मणों का सत्संग चाहता हूँ। परन्तु मैं अपनी निर्धनता को देखकर अपने को धिक्कार देता हूँ। भला यह कैसे हो सकता है, कि मेरे स्नेह के कारण से आप इतना क्लेश सहें और मेरे पास रह कर अपने आप भोजन लाकर खावें। आप इस क्लेश को सहने के योग्य नहीं हैं और न मुझसे आपका क्लेश देखा जायगा। हाय ! इन धृतराष्ट्र के पापी पुत्रों को धिक्कार है ॥१०।१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर उक्त रीति से कहकर वहीं बैठ गये और शोक के मारे व्याकुल हो गये। उस समय शौनक नाम ब्राह्मण,

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १५ ॥
न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १६ ॥
अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोऽभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् ! सा त्वय्यवस्थिता ॥ १७ ॥
अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥ १८ ॥
श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ॥ १९ ॥
मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥ २० ॥
व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः संप्रवर्तते ॥ २१ ॥
तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।

जो ब्रह्मज्ञानी योग और सांख्य शास्त्रों का ज्ञाता था, युधिष्ठिर से कहने लगा, कि संसार में मनुष्य को अनेक प्रकार के दुःख और भय प्राप्त होते हैं, परन्तु इनके कारण से दुःख उन्हीं को होता है जो मूढ होते हैं। आप जैसे बुद्धिमान् को ऐसे कामों को, जो कल्याण, ज्ञान और मोक्ष के विरुद्ध हैं और जिनमें बहुत से दोष हैं, करना उचित नहीं है। क्योंकि आपको संयम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि आदि आठों अंगों सहित ब्रह्मज्ञान प्राप्त है। जो अज्ञान को दूर करने वाला श्रुति स्मृतियों के अनुसार सिद्ध है॥१४।१७॥

इसलिये आप जैसे मनुष्यों को धन नाश आदि बड़े-बड़े दुःख और अपने स्वजनों की आपत्ति को देखकर शारीरिक और मानसी व्यथा से दुःखी न होना चाहिये। पहले समय में राजा जनक ने कुछ मन को धैर्य देनेवाले श्लोक कहकर लोगों के शारीरिक और मानसिक दुःखों का जिस तरह वर्णन किया है, और जिस उपाय से उनका प्रतिकार किया जा सकता है, सो कहता हूँ। एकाग्र होकर सुनिए ॥१८।२०॥

इस जगत् में सब मनुष्यों को दो प्रकार के दुःख होते हैं एक शारीरिक दूसरा मानसिक। इन में से शरीर सम्बन्धी दुःख के होने के चार कारण हैं व्याधि १, इष्टवियोग २, श्रम ३ और दुष्ट का संयोग ४ सो ये चारों औषधी आदि के सेवन से और मानसी दुःख चिन्ता के छोड़ने से शान्त रहते हैं। जो विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्य होते हैं, वे अपने मन को रोक कर, मानसी दुःख को मनोहर कथाओं

आधिव्याधिप्रशमनं क्रिया–योगद्वयेन तु ॥ २२ ॥
मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः संभोगोपनयैर्नृणाम् ॥ २३ ॥
मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ २४ ॥
मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाऽग्निमिवाऽम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥ २५ ॥
मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात्तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २६ ॥
स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात्प्रवर्तते ॥ २७ ॥
स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २८ ॥
कोटराग्निर्यथाऽशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ॥ २९ ॥
विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।

के सुनने और शरीर के दुःखों को अच्छे भोग भोगने से दूर कर देते हैं। बहुधा शरीर में कष्ट मानसी दुःख होने से ही होता है। जैसे जल के भरे हुए घड़े में गरम लोहे का गोला डाल देने से सब जल गरम हो जाता है ॥२१।२४॥

इससे मनुष्य को चाहिए कि ज्ञानरूपी जल से मानसी दुःखरूपी अग्नि को ठण्डा करके अपने शरीर के कष्ट को शान्त करे। इसके सिवा स्नेह भी मानसी दुःख होने का कारण है और भय, शोक,हर्ष और क्लेश भी स्नेह ही से होते हैं ॥२५।२७॥

विषय में स्नेह रखने से भाव और अनुराग प्रकट होते हैं,ये दोनों ही अकल्याणकारी हैं। परन्तु इन में भी भाव का हो जाना बड़ा भारी दोष है, क्योंकि वह धर्म और अर्थ को इस प्रकार से नाश कर देता है, जैसे वृक्ष के कोटर में से लगी हुई अग्नि उस वृक्ष को जड़ पेड़ से जलाकर भस्म कर देती है ॥२८।२९॥

विषय के न मिलने से भी सब कोई त्यागी स्वरूप होते हैं। परन्तु त्यागी वही है, जो विषय को पाकर वैर और विग्रह को छोड़, सब विषयों में अपने मन को न फँसावे। इस कारण से धन और मित्र पाकर मनुष्य को उसमें स्नेह करना उचित नहीं है। और जो स्नेह उत्पन्न भी हो, तो उसे ज्ञान से दूर कर दे। जो मनुष्य ज्ञानी, शास्त्री और आत्मा को

विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ॥ ३० ॥
तस्मात्स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात् ।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत् ॥ ३१ ॥
ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥ ३२ ॥
रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते ॥ ३३ ॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥ ३४ ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ३५ ॥
अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि अयो निज इवानलः ॥ ३६ ॥
यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति ।
तथाऽकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ॥ ३७ ॥
राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ ३८ ॥

वश में रहनेवाले होते हैं, उनके चित्त में स्नेह इस प्रकार से नहीं घुसता है, जैसे कमल के पत्तों में पानी नहीं जाता है। जो मनुष्य विषयों में लिप्त होता है, उसे अनेक प्रकार की कामनाएँ घेर लेती हैं, उन कामनाओं से वह मिलने और न मिलनेवाली वस्तुओं की इच्छा करने लगता है, और उस इच्छा से तृष्णा बढ़ती चली जाती है। इसलिये वह तृष्णा ही उद्वेग, पाप और अधर्म की जड़ और प्राणों का कालरूपी रोग है। दुष्ट मनुष्य उस तृष्णा को नहीं छोड़ सकते हैं। और जो बुढ़ापे और मृत्यु के वश में हो रहे हैं, वे इस तृष्णा को कम नहीं कर सकते हैं ॥३०।३५॥

हे युधिष्ठिर ! मनुष्य को तृष्णा के छोड़ने ही से सुख होता है और जो नहीं छोड़ते हैं, उनको वह तृष्णा जिसका आदि और अन्त नहीं है, इस प्रकार से नाश कर देती है, जैसे लोहजन्य अग्नि उसी लोहे का नाश कर स्वयं नष्ट हो जाती है। अथवा जैसे काष्ठजन्य अग्नि स्वाश्रय काष्ठ को भस्म कर देती है, उसी प्रकार से मनरूपी इन्धन में लोभरूपी अग्नि के लगने से शरीर का नाश हो जाता है। धनी मनुष्यों को राजा, जल, अग्नि, चोर और स्वजनों से उसी प्रकार का भय रहता है, जैसे सब मनुष्यों को मृत्यु का भय होता है। और ये लोग

आधिव्याधिप्रशमनं क्रिया—योगद्वयेन तु ॥ २२ ॥
मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः संभोगोपनयैर्नृणाम् ॥ २३ ॥
मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ २४ ॥
मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाऽग्निमिवाऽम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ॥ २५ ॥
मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहाच्च सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २६ ॥
स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात्प्रवर्तते ॥ २७ ॥
स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २८ ॥
कोटराग्निर्यथाऽशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ॥ २९ ॥
विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।

के सुनने और शरीर के दुःखों को अच्छे भोग भोगने से दूर कर देते हैं। बहुधा शरीर में कष्ट मानसी दुःख होने से ही होता है। जैसे जल के भरे हुए घड़े में गरम लोहे का गोला डाल देने से सब जल गरम हो जाता है ॥२१।२४॥

इससे मनुष्य को चाहिए कि ज्ञानरूपी जल से मानसी दुःखरूपी अग्नि को ठण्डा करके अपने शरीर के कष्ट को शान्त करे। इसके सिवा स्नेह भी मानसी दुःख होने का कारण है और भय, शोक, हर्ष और क्लेश भी स्नेह ही से होते हैं ॥२५।२७॥

विषय में स्नेह रखने से भाव और अनुराग प्रकट होते हैं, ये दोनों ही अकल्याणकारी हैं। परन्तु इन में भी भाव का हो जाना बड़ा भारी दोष है, क्योंकि वह धर्म और अर्थ को इस प्रकार से नाश कर देता है, जैसे वृक्ष के कोटर में से लगी हुई अग्नि उस वृक्ष को जड़ पेड़ से जलाकर भस्म कर देती है ॥२८।२९॥

विषय के न मिलने से भी सब कोई त्यागी स्वरूप होते हैं। परन्तु त्यागी वही है, जो विषय को पाकर वैर और विग्रह को छोड़, सब विषयों में अपने मन को न फँसावे। इस कारण से धन और मित्र पाकर मनुष्य को उसमें स्नेह करना उचित नहीं है। और जो स्नेह उत्पन्न भी हो, तो उसे ज्ञान से दूर कर दे। जो मनुष्य ज्ञानी, शास्त्री और आत्मा को

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान्क्लेशान्सहेत च ।
न हि संचयवान्कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैः पुम्भिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ४७ ॥
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य वरमस्पर्शनं नृणाम् ॥ ४८ ॥
युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि ।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवाऽर्थतः ॥ ४९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—आत्मोपभोगलिप्सार्थं नेयमर्थेप्सुता मम ।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् ! काङ्क्षे न लोभतः ॥ ५० ॥
कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् ! वर्तमानो गृहाश्रमे ।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५१ ॥
संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते ।
तथैवाऽपचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५२ ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५३ ॥
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।

मित्रों के साथ रहना आदि सुखों को अनित्य जानकर, उनके होने की इच्छा नहीं करते हैं। इससे मनुष्य को उचित है, कि धन को जोड़ना छोड़ दे, और उसके नाश होने के दुःख को सहकर, संतोष करे, क्योंकि कोई धन को रखनेवाला उपद्रवों से खाली नहीं है। मनुष्य उसी धन को श्रेष्ठ जानते हैं जो दैवइच्छा से मिल जाँय ॥४४।४७॥

जो मनुष्य धर्म के करने की इच्छा से धन चाहे, उसको ऐसी इच्छा न करना ही अच्छा है, क्योंकि कीचड़ से दूर रहना, कीचड़ में फस कर फिर कीचड़ को धोने से अच्छा है। इससे राजा युधिष्ठिर ! आपको धन की इच्छा करना उचित नहीं है। यदि आप धर्म करना चाहते है, तो धन की इच्छा को छोड़ दीजिये। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं स्वयं सुख से रहने के लिये धनोपार्जन करना नहीं चाहता, मैं लोभवश होकर भी धन की इच्छा नहीं करता। मुझे तो ब्राह्मणों का पालन-पोषण करने को ही धन चाहिये ॥४८।५०॥

विचार करके देखिये, हम गृहस्थी हैं। अनुगत व्यक्तियों को पालन पोषण किये बिना भला हम कैसे रह सकते हैं। देखिये न, प्रायः सभी प्राणी सभी को बांटकर भोजन करते हैं। जो लोग अपने लिये भोजन नहीं बना सकते, उन यती और ब्रह्मचारियों को भोजन कराना गृहस्थी का धर्म है। जो सत्पुरुष

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ ३९ ॥
अर्थ एव हि केषां चिदनर्थं भजते नृणाम् ।
अर्थश्रेयसि चाऽऽसक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ॥ ४० ॥
तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ॥ ४१ ॥
अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम् ।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये ॥ ४२ ॥
सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थऽकारणात् ।
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः ॥ ४३ ॥
दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत् ।
असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ॥ ४४ ॥
अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ।
तस्मात्संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ४५ ॥
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥ ४६ ॥

उनको इस प्रकार से निर्धन कर देते हैं, जैसे मास को आकाश में पक्षी, पृथ्वी पर कुत्ते और गीदड़ और जल में मछलिया नहीं छोड़ती हैं ॥३८।३९॥

यह अर्थ किसका अनर्थ नहीं करता है ? इसके एकत्र करनेवाले का कल्याण कभी नहीं होता है। क्योंकि इसके आने से लोभ और मोह की वृद्धि होती है और मनुष्य सदैव कार्पण्य अर्थात् कृपणता से उचित धन को खर्च करके धन की रक्षा करने की इच्छा से दूसरे का बुरा चेतना, अपने को बड़ा मानना और भय और शङ्का से चित्त का डावाडोल रहना आदि अनेक धन होने के दुःखों से दुःखी रहता है। ज्ञानी लोग कहते हैं, कि धन के उत्पत्ति, रक्षा और नाश होने में देहधारियों को बड़ा दुःख होता है, क्योंकि प्रथम तो धन दुःख ही से इकट्ठा होता है, फिर इस धन के कारण से मनुष्य एक दूसरे को मार डालता है और जिनको दुःख के दूर करने के लिये मनुष्य पालता है, वही धन के लोभ से उसके वैरी हो जाते है ॥४०।४३॥

इससे धन के नाश होने पर अज्ञानी लोग चिन्ता में डूबे रहते हैं, और पण्डित लोग संतोष करते हैं। इस संसार में तृष्णा किसी की नहीं मिटती है; बढ़ती ही चली आती है। इससे पण्डित लोग संतोष ही को अच्छा कहते हैं। और यौवन, रूप, जीविका, रत्नों का सञ्चय, ऐश्वर्य और

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान्क्लेशान्सहेत च ।
न हि संचयवान्कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैः पुम्भिरनीहार्थः प्रशस्यते ॥ ४७ ॥
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य वरमस्पर्शनं नृणाम् ॥ ४८ ॥
युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि ।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवाऽर्थतः ॥ ४९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—आत्मोपभोगालिप्सार्थं नेयमर्थेप्सुता मम ।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन्! काङ्क्षे न लोभतः ॥ ५० ॥
कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन्! वर्तमानो गृहाश्रमे ।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५१ ॥
संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते ।
तथैवाऽपचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५२ ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५३ ॥
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।

मित्रों के साथ रहना आदि सुखों को अनित्य जानकर, उनके होने की इच्छा नहीं करते हैं। इससे मनुष्य को उचित है, कि धन का जोड़ना छोड़ दे, और उसके नाश होने के दुःख को सहकर, संतोष करे, क्योंकि कोई धन को रखनेवाला उपद्रवों से खाली नहीं है। मनुष्य उसी धन को श्रेष्ठ जानते हैं जो दैवइच्छा से मिल जावे ॥४४।४७॥

जो मनुष्य धर्म के करने की इच्छा से धन चाहे, उसको ऐसी इच्छा न करना ही अच्छा है, क्योंकि कीचड़ से दूर रहना, कीचड़ में फंस कर फिर कीचड़ को धोने से अच्छा है। इसमें राजा युधिष्ठिर! आपको धन की इच्छा करना उचित नहीं है। यदि आप धर्म करना चाहते हैं, तो धन की इच्छा को छोड़ दीजिये। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा–हे ब्रह्मन्! मैं स्वयं सुख से रहने के लिये धनोपार्जन करना नहीं चाहता, मैं लोभवश होकर भी धन की इच्छा नहीं करता। मुझे तो ब्राह्मणों का पालन-पोषण करने को ही धन चाहिये ॥४८।५०॥

विचार करके देखिये, हम गृहस्थी हैं। अनुगत व्यक्तियों को पालन पोषण किये बिना भला हम कैसे रह सकते हैं। देखिये न, प्रायः सभी प्राणी सभी को बांटकर भोजन करते हैं। जो लोग अपने लिये भोजन नहीं बना सकते, उन यती और ब्रह्मचारियों को भोजन कराना गृहस्थी का धर्म है। जो सत्पुरुष

तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥ ५४ ॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्यात्सुभाषिताम् ।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ॥ ५५ ॥
प्रत्युत्थायाऽभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ।
अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः ॥ ५६ ॥
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ।
आत्मार्थं पाचयेन्नाऽन्नं न वृथा घातयेत्पशून् ।
न च तत्स्वयमश्नीयाद्विधिवद्यन्न निर्वपेत् ॥ ५७ ॥
श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चाऽऽवपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातश्च दीयते ॥ ५८ ॥
विघसाशी भवेत्तस्मान्नित्यं चाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ ५९ ॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६० ॥
यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायाऽदृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ६१ ॥
एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।

होते हैं, उनके यहां तृण (आसन) जल, स्थान और मीठे वचनों की कभी कमी नहीं रहती ॥५१।५३॥

गृहस्थी को रोगी के लिये शय्या, चलने से थके हुए के लिये आसन; प्यासे को पानी और भूखों को भोजन देना पड़ता है। नेत्र, मन, और मधुर वचन का प्रयोग करना, उठकर आसन देना, दूसरे के उठते ही खड़े हो जाना, तथा अतिथियों की यथोचित सेवा करना गृहस्थियों का सनातन धर्म है। क्योंकि अग्निहोत्री, रथ के बैल, अतिथि, स्वजाती, भाई-बन्धु, पुत्र, स्त्री और भृत्य आदि यथायोग्य आदर-सत्कार न पाने पर मनुष्य को जला देते हैं। केवल अपना ही उदर भरने के लिये भोजन न करना चाहिये। वृथा पशुओं की हिंसा करना किसी तरह ठीक नहीं। देव, पितर, भूत और मनुष्यों के लिये जो अन्न नहीं दिया जाता उसको स्वयं न खाना चाहिये ॥५४।५७॥

सायंकाल और प्रातःकाल के समय कुत्ते, चाण्डाल और पक्षियों के लिये पृथ्वी पर अन्न रखकर वैश्वदेव-बलि करना चाहिये। जो मनुष्य प्रतिदिन पितर, देवता और अतिथि को भोजन कराने के पश्चात् यज्ञ से बचा भोजन करता है, वही मनुष्य अमृत भोजन करता है। इस यज्ञ में अतिथि को

तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र ! मन्यसे ॥ ६२ ॥

शौनक उवाच—अहो वत महत्कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।
येनाऽपत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६३ ॥
शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६४ ॥
ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः ।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६५ ॥
षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा ।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ॥ ६६ ॥
मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान्याति सेवितुम् ।
तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६७ ॥
ततः संकल्पवीजेन कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात्पतङ्गवत् ॥ ६८ ॥
ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया ।
महामोहे सुखे मग्नो नाऽऽत्मानमवबुध्यते ॥ ६९ ॥
एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु ।

स्नेह-भरी दृष्टि से देखना, मन की प्रसन्नता से और मीठी वाणी से प्रसन्न करना, अतिथि के पीछे जाना, अन्न आदि से अतिथि की सेवा करना यह पाच प्रकार की दक्षिणा देनी चाहिये ॥५८।६०॥

जो गृहस्थी राह चलते हुए, थके हुए, अपरिचित अतिथि को उदारता के साथ भोजन देता है, उसे महापुण्य मिलता है। पण्डित लोग कहते हैं, कि जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर, इस प्रकार से आचार का पालन करते हैं, उन्हीं का धर्म (आचार) श्रेष्ठ माना जाता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! इस विषय में आप का मन्तव्य क्या है ? उसे प्रकाश कीजिये। यह सुनकर शौनक ने कहा—हा ! बड़े कष्ट की बात है, इस जगत् में सब उलटा ही देख पड़ता है। देखिए भले मनुष्य जिस कार्य से लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्य उसी से प्रसन्न होते हैं। अज्ञानी मनुष्य इन्द्रिय और पेट के कारण मे वैश्वदेवकर्म बहुत करता, परन्तु मोह, राग और ऐश्वर्य की इच्छा में फंसा रहकर इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रहता है। और वह इन्द्रिया ज्ञानी को भी इस प्रकार से इधर-उधर डावाडोल करती रहती हैं, जैसे जिस रथ के घोड़े दुष्ट और चपल होते हैं, उसके सारथी को घोड़े विपरीत-मार्ग में ले जाते हैं ॥६१।६५॥

हे राजा युधिष्ठिर ! जब इन्द्रियां विषय की चाहना करती हैं, तब उस चाहना से मन में विषय

अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ७० ॥
ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते ।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः ॥ ७१ ॥
अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ७२ ॥
तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
तस्माद्धर्मानिमान्सर्वान्नाऽभिमानात्समाचरेत् ॥ ७३ ॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ ७४ ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः ।
कर्तव्यमिति यत्कार्यं नाऽभिमानात्समाचरेत् ॥ ७५ ॥
उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७६ ॥

भोगने की इच्छा हो जाती है। उस इच्छा से फिर उस विषय के मिलने का उपाय मनुष्य करने लगता है और फिर उन विषयों में प्रवृत्त होकर लिप्त हो जाता है। इसके पीछे मनुष्य विषयरूपी कामदेव के बाणों से बेधित होकर, इस प्रकार से लोभ में पड़ जाता है, जैसे दीपक की ज्योति में पतंग उजाले के लोभ से आकर गिर पड़ता है ॥६६।६८॥

अन्त में यह होता है कि वह मनुष्य फिर केवल अच्छा खाने-पीने और अच्छा विहार करने के उद्यम में लगे रहकर, मोह के मुख में पड़ा हुआ आत्मा को नहीं पहचान सकता है, और अविद्या अर्थात् अज्ञान के कारण से ब्रह्मा से लेकर तृण आदि तक पृथ्वी, आकाश और जल की अनेक-अनेक योनियों में जन्म ले-लेकर चक्र के समान घूमा करता है। हे महाराज युधिष्ठिर! हमने यह अज्ञानियों की गति बतलाई है। अब हम आपको उन ज्ञानियों की भी गति बतलाते हैं, जो नित्य मोक्ष चाहा करते हैं और जिनकी प्रीति भी मोक्षधर्म में ही लगी रहती है ॥६९।७२॥

देखिये, वेद का यह वाक्य है, कि जो कर्म करो सो निष्काम होकर करो। इसी कारण से मनुष्य को चाहिये कि जो कार्य करे, उसके करने का अभिमान कभी न करे। यज्ञ करना, वेद पढ़ना, दान करना, तप करना, सत्य बोलना, क्षमा करना, इन्द्रियों को जीतना और लोभ न करना, ये आठ धर्म के मार्ग हैं। इनमें से यज्ञ करना, वेद पढ़ना, दान करना, तप करना, ये पहले चार पितृ लोक जाने के उपाय हैं। सत्य बोलना, क्षमा करना, इन्द्रियों को जीतना और लोभ न करना, ये पिछले चार देवलोक के देनेवाले हैं। मनुष्य को उचित

सम्यक्संकल्पसंबन्धात्सम्यगिन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक्च गुरुसेवनात् ॥ ७७ ॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक्चाऽध्ययनागमात् ।
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात्सम्यक्चित्तनिरोधनात् ॥ ७८ ॥
एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ॥ ७९ ॥
रुद्राः साध्यास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथ तथाऽश्विनौ ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ८० ॥
तथा त्वमपि कौन्तेय ! शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ॥ ८१ ॥
पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥ ८२ ॥
सिद्धा हि यद्यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वाऽऽत्ममनोरथम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि पाण्डवानां प्रव्रजनं नाम द्वितीयेऽध्यायः ॥ २ ॥

है कि इन कर्मों को अभिमान से न करे। इन आठों धर्म के मार्गों पर वही मनुष्य चलते हैं, जिनकी आत्मा शुद्ध होती है ॥७३।७६॥

और जो मनुष्य इस संसार को जीतना चाहते हैं, वे ये कर्म करते हैं —प्रत्येक कार्य को संकल्प करके करना, इन्द्रियों को रोकना, विधिपूर्वक व्रत करना, हिंसा को त्यागना, गुरु की सेवा करना, अच्छी तरह से आहार करना, वेद पढ़ना, किये हुए कर्मों के फल को त्यागना और चित्त को चलायमान न होने देना। देखिये, देवताओं को भी राग और द्वेष के छोड़ने ही से ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। और साध्यगण, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और दोनों अश्विनीकुमार, ये सब देवता निर्दिष्ट योगसाधन के द्वारा ही सारी प्रजा का पालन कर रहे हैं ॥७७।८०॥

हे महाराज युधिष्ठिर! इसी प्रकार से आपको भी समता धारण करके तपस्या करके अपने काम की सिद्धि करना उचित है। आप अपने कर्मों से पितृ लोक को तो जीत ही चुके हैं। अब तपस्या करके ब्राह्मणों के पालने के लिये सिद्धि प्राप्त कीजिए। देखिये, सिद्ध लोग जो चाहते हैं, वही तपस्या करके ले लेते हैं। उसी प्रकार से आप भी तपस्या करके अपने मनोरथ को सिद्ध कीजिए ॥८१।८३॥

वनपर्व का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—प्रस्थितं माऽनुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
न चाऽस्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः ॥ २ ॥
परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दानशक्तिश्च नास्ति मे ।
कथमत्र मया कार्यं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणाऽन्विष्य तां गतिम् ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥

धौम्य उवाच—पुरा सृष्टानि भूतानि पीडयन्ते क्षुधया भृशम् ।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा ॥ ५ ॥
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः ।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः ॥ ६ ॥
क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः ।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा ॥ ७ ॥
निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः ।

तीसरा अध्याय ॥ ३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! शौनक ऋषि के उक्त उपदेश को सुनकर युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाइयों के सामने धौम्य पुरोहित से कहा—हे महाराज ! वेद-वेदाङ्ग के पूरे पण्डित ये ब्राह्मण किसी तरह नहीं मानते । इन्होंने मेरे साथ चलने का निश्चय कर लिया है । मेरे पास धन भी नहीं है, जो मैं इनका भरण-पोषण कर सकूँ? परन्तु इन्हें छोड़ने की भी मुझे इच्छा नहीं है । अब मुझे क्या करना चाहिये ! मैं इस बारे में आपका उपदेश सुनना चाहता हूँ ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यह सुनकर धौम्य ऋषि ने एक मुहूर्त भर तो ध्यान किया उपरान्त धर्म की गति को याद करके कहने लगे—हे युधिष्ठिर ! पहले समय में जब सब जीव उत्पन्न हुए थे, तब भूख से बहुत ही व्याकुल हुए । यह देखकर सब प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले सूर्यनारायण ने, दया के मारे उत्तरायण होकर, किरणों के द्वारा तेज और रस को निकाला, फिर वे दक्षिणायन होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए ॥४।६॥

सूर्य जब क्षेत्र बने तब चन्द्रमा ने आकाश से तेज निकालकर जल के द्वारा उस क्षेत्र में ओषधियों को उत्पन्न किया । उन ओषधियों के अंकुर उत्पन्न हो जाने

ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि ॥ ८ ॥
एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात्तं शरणं व्रज ॥ ९ ॥
राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः ।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम् ॥ १० ॥
भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च ।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः ॥ ११ ॥
तथा त्वमपि धर्मात्मन्! कर्मणा च विशोधितः ।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन्भर भारत! ॥ १२ ॥
जनमेजय उवाच—कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः ।
विप्रार्थमाराधितवान्सूर्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच—शृणुष्वाऽवहितो राजञ्छुचिर्भूत्वा समाहितः ।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र! संप्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १४ ॥
धौम्येन तु यथापूर्वं पार्थाय सुमहात्मने! ।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ॥ १५ ॥
धौम्य उवाच—सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषाऽर्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥ १६ ॥

पर सूर्य उनमें षड्रस उत्पन्न कर देते हैं और उन्हीं में यह प्राणियों का आधार अन्न उत्पन्न हो जाता है। इससे सम्पूर्ण अन्न सूर्यरूप है। सूर्य ही सब का पिता, अर्थात् पालनकर्ता है। इसलिये हे युधिष्ठिर! तुम सूर्य ही की शरण लो ॥७।९॥ महात्मा राजा लोगों का यही धर्म है, तप करके और अपनी आत्मा को शुद्ध करके प्रजा का पालन करते हैं। देखो, राजा भीम, कार्तवीर्य अर्जुन, वैन्य और नहुष आदि ने तपस्या करके ही अपनी प्रजा के दुःखों को दूर किया था। इसलिये हे युधिष्ठिर! तुम भी शुद्धात्मा होकर धर्म करो और ब्राह्मणों का पालन करो ॥१०।१२॥

इतनी कथा सुनकर राजा जनमेजय ने पूछा—हे वैशम्पायन जी! उन ब्राह्मणों के लिये राजा युधिष्ठिर ने सूर्य का आराधन किस प्रकार से किया? वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मैं सब कथा कहता हूँ। तुम पवित्र और सावधान होकर सुनो। महात्मा धौम्य ने युधिष्ठिर को, जो सूर्य के एकसौ आठ नाम बताये थे, वे तुमसे कहता हूँ ॥१३।१५॥

धौम्य पुरोहित ने कहा—सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि, गभस्तिमान, अज, काल, मृत्यु, धाता, प्रभाकर, पृथ्वी, जल तेज, आकाश, वायु, सोम, बृहस्पति, शुक्र, बुध,

पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १७ ॥
इन्द्रो विवस्वान्दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वैश्रवणो यमः ॥ १८ ॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।
धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥ १९ ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः ।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च क्षपा यामस्तथा क्षणः ॥ २० ॥
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥ २१ ॥
कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोंऽशश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥ २२ ॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्याऽऽदिरलोलुपः ॥ २३ ॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः ।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ॥ २४ ॥
मनः सुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारकः ।

अङ्गारक, इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचि, शौरि, शनैश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, स्कन्द, वैश्रवण, यम, वैद्युताग्नि, जठराग्नि, ऐन्धनाग्नि, तेजपति, धर्मध्वज, वेदकर्त्ता, वेदाङ्ग, वेदवाहन, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, कला, काष्ठा, मुहूर्त्त, क्षपा, याम, क्षण, संवत्सरकर, अश्वत्थ, कालचक्र, विभावसु, व्यक्ताव्यक्त पुरुष, शाश्वतयोगी, कालाध्यक्ष, प्रजाध्यक्ष, विश्वकर्मा, तमोनुद, वरुण, सागर, अंश, जीमूत, जीवन, अरिहा, भूताश्रय, भूतपति, स्रष्टा, संवर्त्तक, वह्नि, सर्वादि, अलोलुप, अनन्त, कपिल, भानु, कामद, सर्वतोमुख, जय, विशाल, वरद, मन, सुपर्ण, भूतादि, शीघ्रग, धन्वन्तरि, धूमकेतु, आदिदेव, अदितिसुत, द्वादशात्मा, अरविन्दाक्ष, पिता, माता, पितामह, स्वर्गद्वार, प्रजाद्वार, मोक्षद्वार त्रिविष्टप, देहकर्त्ता, प्रशान्तात्मा, विश्वात्मा, विश्वतोमुख, चराचरात्मा, सूक्ष्मात्मा और मैत्रेय, ये सूर्य के एक सौ आठ नाम स्वयंभू ब्रह्मा ने कहे हैं। हम यक्ष, पिता, देवता और दानवों के द्वारा सेवित और सुवर्ण तथा अग्नि के समान तेजस्वी सूर्यदेव को, मङ्गल के लिये बार बार प्रणाम करते हैं। जो कोई सूर्योदय के समय शुद्ध चित्त से

धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥ २५ ॥
द्वादशात्माऽरविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥
देहकर्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ॥ २७ ॥
एतद्वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्याऽमिततेजसः ।
नामाष्टशतकं चेदं प्रोक्तमेतत्स्वयं भुवा ॥ २८ ॥
सुरगणपितृयक्षसेवितं ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ॥ २९ ॥
सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्स पुत्रदारान्धनरत्नसञ्चयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरःसदा धृतिं च मेधां च स विन्दते पुमान् ॥ ३० ॥
इमं स्तवं देववरस्य मानवः प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः ।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागराल्लभेत कामान्मनसा यथेप्सितान ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः ।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ॥ ३२ ॥
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम् ।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ॥ ३३ ॥
सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत् ।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ॥ ३४ ॥

इन एक सौ आठ नामों का पाठ करता है वह पुत्र स्त्री, धन-रत्न, धृति और मेधा पाता है । उसे दूसरे जन्म में पूर्व-जन्म का ज्ञान बना रहता है । एकाग्र मन से देवाधिदेव दिवाकर के इस स्तोत्र का पाठ करने से मनुष्य का शोक (दावानल) रूप भवसागर से छुटकारा हो जाता है, जिस से उसका मनोरथ सिद्ध होता है ॥१६।३१॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! धौम्य ऋषि से इस स्तोत्र को सुनकर राजा युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों का पालन करने के लिये सावधानी से आत्मा को शुद्ध और व्रत में दृढ़ता करके, विधिपूर्वक पुष्प और बलि आदि से सूर्य की पूजा की । उपरान्त गंगा जी के जल में भीतर जाकर सूर्य के सम्मुख खड़े हो गये और योग की रीति से आचमन प्राणायाम करके जितेन्द्रिय और वायुभक्षी होकर सूर्य की तपस्या करने लगे ॥३२।३४॥

गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान्　।
शुचिः प्रयतवाग्भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः　॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—त्वं भानो ! जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्　।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्　॥ ३६ ॥
त्वं गतिः सर्वसाङ्ख्यानां योगिनां त्वं परायणम्　।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्　॥ ३७ ॥
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते　।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया　॥ ३८ ॥
त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः　।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणाऽर्चितम्　॥ ३९ ॥
तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः　।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः　॥ ४० ॥
त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः　।
सोपेन्द्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः　॥ ४१ ॥
उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः　।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः　॥ ४२ ॥
गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः　।

पहले तो उन्होंने उक्त स्तोत्र का जप किया, उपरान्त सूर्य की स्तुति करने लगे। हे सूर्यदेव ! तुम जगत् की आत्मा और नेत्र हो। सब जगत् आपही से उत्पन्न है। आप सब जीवों के कर्मों के जाननेवाले हैं। आप ही सब ज्ञानी, योगी और मोक्ष चाहनेवालों की गति और परायण हैं, और ऐसे द्वार हैं, जिनके बंद करने की कोई कुंजी नहीं है। इन सब लोकों को आप ही धारण, प्रकाशित, पवित्र और पालन करते हैं ॥३५।३८॥

हे महाराज ! वेदपाठी ब्राह्मण और ऋषिलोग आपका पूजन समय पर अपनी-अपनी शाखा के मंत्रों से किया करते हैं, जो आपसे वर पाने की चाहना करते हैं, वे जिधर-जिधर आकाश में आपका रथ जाता है, उधर ही उधर फिर-फिर कर आप के पीछे रहते हैं। आपका ही पूजन करके सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक और पन्नगगण, तैंतीस देवता, विमानवासी देवगण, इन्द्र और महाइन्द्र ने सिद्धि पाई है ॥३९।४१॥

विद्याधर लोग मन्दार पर्वत के फूलों से आप की पूजा करके अपने मनोरथ को पाते हैं। गुह्यक, दिव्य और मानुष, सात पितृगण, वसु, मरुत्, रुद्र, साध्यगण और किरणें पीनेवाले वालखिल्य आदि सिद्धों ने आप की ही आराधना करके संसार में प्रधानता

ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ॥ ४३ ॥
वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः ।
वालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ॥ ४४ ॥
सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च ।
न तद् भूतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ॥ ४५ ॥
सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ॥ ४६ ॥
ज्योतींषि त्वयि सर्वाणि त्वं सर्वज्योतिषां पतिः ।
त्वयि सत्यं च सत्त्वं च सर्वे भावाश्च सात्त्विकाः ॥ ४७ ॥
त्वत्तेजसा कृतं चक्रं सुनाभं विश्वकर्मणा ।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ॥ ४८ ॥
त्वमादायांऽशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।
सर्वौषधिरसानां च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ॥ ४९ ॥
तपन्त्यन्ये दहन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये तथा घनाः ।
विद्योतन्ते प्रवर्षन्ति तव प्रावृषि रश्मयः ॥ ५० ॥
न तथा सुखयत्यग्निर्न प्रावारा न कम्बलाः ।
शीतवातार्दितं लोकं यथा तव मरीचयः ॥ ५१ ॥

पाई है ॥४३।४४॥

ब्रह्मलोक सहित सातों लोकों में ऐसा कोई प्राणी नहीं, जो आपकी पूजनीय ज्योति से अलग होवे। यद्यपि और भी प्राणी पराक्रमी और बड़े हैं, परन्तु आपके तेज के समान किसी का प्रकाश नहीं है। सब ज्योति आप ही में है। आप सब ज्योतियों के स्वामी हैं और आप ही में सत्य, सत्त्व और सम्पूर्ण सात्त्विकी भाव है ॥४५।४७॥

आप ही के तेज से विश्वकर्मा ने सुदर्शन नाम का चक्र बनाया था, जिससे शार्ङ्ग धनुषधारी विष्णु भगवान् ने देवताओं के शत्रुओं का नाश किया। आप गर्मी की ऋतु में सब प्राणियों के तेज और सब ओषधियों के रस को अपनी किरणों से खींचते हैं और फिर वर्षा ऋतु में छोड़ देते हैं। इस ऋतु में आप की कोई किरणें संसार को तपाती हैं, कोई भस्म करती हैं और कोई बादल होकर वर्षती हैं, गर्जती और प्रकाश करती हैं। ॥४८।५०॥

जिस समय शीत पड़ता है और वायु ठण्डी चलती है उस समय अग्नि और कम्बल आदि वस्त्रों से प्राणी को इतना सुख नहीं मिलता है, जितना आपकी किरणों से होता है। आप अपनी

त्रयोदशद्वीपवतीं गोभिर्भासयसे महीम् ।
त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्तसे ॥ ५२ ॥
तव यद्युदयो न स्यादन्धं जगदिदं भवेत् ।
न च धर्मार्थकामेषु प्रवर्तेरन्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
आधानपशुबन्धेष्टिमन्त्रयज्ञतपःक्रियाः ।
त्वत्प्रसादादवाप्यन्ते ब्रह्मक्षत्रविशां गणैः ॥ ५४ ॥
यदहर्ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्रयुगसंमितम् ।
तस्य त्वमादिरन्तश्च कालज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ५५ ॥
मनूनां मनुपुत्राणां जगतो मानवस्य च ।
मन्वन्तराणां सर्वेषामीश्वराणां त्वमीश्वरः ॥ ५६ ॥
संहारकाले संप्राप्ते तव क्रोधविनिःसृतः ।
संवर्तकाग्निस्त्रैलोक्यं भस्मीकृत्वावतिष्ठते ॥ ५७ ॥
त्वद्दीधितिसमुत्पन्ना नानावर्णा महाघनाः ।
सैरावताः साशनयः कुर्वन्त्याभूतसंप्लवम् ॥ ५८ ॥
कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानं द्वादशादित्यतां गतः ।
संहृत्यैकार्णवं सर्वं त्वं शोषयसि रश्मिभिः ॥ ५९ ॥
त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।

किरणों से इस सम्पूर्ण पृथ्वी को, जिसमें सात द्वीप और छः अवान्तरद्वीप हैं, प्रकाशित करते हैं और तीनों लोकों का हित करने के लिये प्रवृत्त रहते हैं। जो आपका उदय न हो, तो सारे संसार में अँधेरा फैला रहे। कोई भी धर्म-अर्थ काम के चिन्तन में मन न लगा सके। आप ही की कृपा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग गर्भाधान आदि संस्कार पशु-बन्ध, इष्टि, मन्त्र, यज्ञ, तप, और अनेक कर्म करते हैं ॥५१।५४॥

शास्त्रकार महापुरुषों ने आप ही को सहस्र-युग-परिमित ब्रह्मा के दिन का आदि और अन्त कहा है। आप चौदह मनु, मनु के पुत्र, जगत्, मनुष्य, ईश्वर और सब मन्वन्तरों के ईश्वर है। जब प्रलयकाल आता है, तब आप ही की संवर्तक नाम क्रोधाग्नि तीनों लोकों को भस्म कर डालती है। ॥५५।५७॥

और आप ही की किरणों मे नाना प्रकार के बादल उत्पन्न होकर बिजली-सहित सम्पूर्ण पृथ्वी के चारों प्रकार के जीवों को जल से पूर्ण कर देते हैं। आप ने अपने बारह रूप बनाकर बारह नाम पाये हैं और अपनी किरणों से आप सब पृथ्वी को सुखा देते हैं। आप इन्द्र हैं, रुद्र हैं, विष्णु हैं,

त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६० ॥
त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः ।
विवस्वान्मिहिरः पूषा मित्रो धर्मस्तथैव च ॥ ६१ ॥
सहस्ररश्मिरादित्यस्तपनस्त्वं गवांपतिः ।
मार्तण्डोऽर्को रविः सूर्यः शरण्यो दिनकृत्तथा ॥ ६२ ॥
दिवाकरः सप्तसप्तिर्धामकेशी विरोचनः ।
आशुगामी तमोघ्नश्च हरिताश्वश्च कीर्त्यसे ॥ ६३ ॥
सप्तम्यामथ वा षष्ठ्यां भक्त्या पूजां करोति यः ।
अनिर्विण्णोऽनहंकारी तं लक्ष्मीर्भजते नरम् ॥ ६४ ॥
न तेषामापदः सन्ति नाऽऽधयो व्याधयस्तथा ।
ये तवाऽनन्यमनसः कुर्वन्त्यर्चनवन्दनम् ॥ ६५ ॥
सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिताः ।
त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः ॥ ६६ ॥
त्वं ममाप्यन्नकामस्य सर्वातिथ्यं चिकीर्षतः ।
अन्नमन्नपते दातुमभितः श्रद्धयाऽर्हसि ॥ ६७ ॥
ये च तेऽनुचराः सर्वे पादोपान्तं समाश्रिताः ।

प्रजापति हैं, अग्नि है, मन हैं, सूक्ष्म हैं, सनातन ब्रह्म हैं ॥५८।६०॥

हंस अर्थात् विश्व के हर्ता हैं, सविता अर्थात् उत्पन्न करनेवाले हैं, भानु हैं, किरणों की मालाएँ रखने वाले हैं, वृषाकपि अर्थात् हर वा हरि है, विवस्वान हैं, मिहर है, पूषा है, मित्र हैं, धर्म हैं, सहस्र किरणों के स्वामी हैं, आदित्य हैं, तपन है, मार्तण्ड हैं, अर्क हैं, रवि हैं, सूर्य हैं, शरण योग्य है, दिनकर है, दिवाकर हैं, सात घोड़े रखनेवाले है, धामकेशी अर्थात् ज्योतिमय किरण रखनेवाले है, विरोचन हैं, शीघ्रगामी हैं, अन्धकार-नाशक हैं और हरे रङ्ग के घोड़े रखनेवाले है ॥६१।६३॥

जो मनुष्य अहङ्कार को छोड़ कर षष्ठी या सप्तमी को आप का पूजन भक्तिपूर्वक करता है, वह लक्ष्मी पाता है । और जो आपके अनन्य भक्त होकर आपको दण्डवत करते हैं, उनको कोई आपत्ति नहीं व्यापती है और उनको मानसी और शारीरिक रोग भी नहीं होते हैं। और जो मनुष्य आप में यह भाव मानते हैं, कि सूर्य ही सर्वव्यापी है, वह रोग और पाप रहित होकर सुखपूर्वक चिरञ्जीवी होकर रहते हैं ॥६४।६६॥

इसलिये हे महाराज ! हे अन्न के स्वामी ! आप मुझ कामना रखनेवाले को अन्न दीजिए । मैं श्रद्धा से अतिथियों को भोजन कराना चाहता हूँ ।

माठरारुणदण्डाद्यास्तांस्तान्वन्देऽशनिक्षुभान् ॥ ६८ ॥
क्षुभया सहिता मैत्री याश्चान्या भूतमानरः ।
ताश्च सर्वा नमस्यामि पान्तु मां शरणागतम् ॥ ६९ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवं स्तुतो महाराज भास्करो लोकभावनः ।
ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम् ।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः ॥ ७० ॥
विवस्वानुवाच–यत्तेऽभिलषितं किंचित्तत्त्वं सर्वमवाप्स्यसि ।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः ॥ ७१ ॥
गृह्णीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्तं नराधिप ! ।
यावद्वत्स्यति पाञ्चाली पात्रेणाऽनेन सुव्रत ! ॥ ७२ ॥
फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे ।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति ॥ ७३ ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि ।
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७४ ॥
इमं स्तवं प्रयतमनाः समाधिना पठेदिहान्योऽपि वरं समर्थयन् ।
तत्तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं तदाप्नुयाद्यद्यपि तत्सुदुर्लभम् ७५ ॥
यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद्वाप्यभीक्षणशः ।

मैं आपके माठर, अरुण और दण्ड आदि सेवकों को जो आपके चरणों की सेवा किया करते हैं, दण्डवत् करता हूँ। क्षुधा और मैत्री आदि भूत-माताओं को भी मैं प्रणाम करता हूँ। मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए ॥६७।६९॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! सूर्यदेव युधिष्ठिर की उक्त स्तुति सुनकर प्रसन्न हुए, और अपने अग्नि के समान ज्वालामान शरीर से दर्शन देकर कहने लगे–हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे सब मनोरथ सिद्ध होंगे। मैं तुमको बारह वर्ष तक नित्य अन्न दूँगा ॥७०।७२॥

लो यह तांबे का पिठर अर्थात् परोसने का पात्र लो, इससे द्रौपदी घर में बनाए हुए फल-मूल, मांस और शाक आदि जिस पदार्थ को जबतक परोसा करेगी तब तक वह पदार्थ नहीं घटेगा। और अब से लेकर चौदहवें वर्ष में तुमको फिर राज्य मिलेगा। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! सूर्यदेव उक्त रीति से कहकर वहीं अन्तर्द्धान हो गये। इस स्तुति को, जो कोई दूसरा मनुष्य भक्तिपूर्वक मनको रोक कर पाठ करेगा, सूर्य देवता उसकी दुर्लभ मनोकामना को भी पूरा करेंगे ॥७३।७५॥

और जो मनुष्य इसको नित्य पढ़ेगा या सुनेगा

पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ॥ ७६ ॥
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोप्यथवा स्त्रियः ।
उभे सन्ध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि ॥ ७७ ॥
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
एतद् ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ॥ ७८ ॥
शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद्युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान्कामानवाप्तवान् ॥ ७९ ॥
संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलं चाप्नुयाद्वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ॥ ८० ॥
वैशम्पायन उवाच—लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातॄंश्च परिषस्वजे ॥ ८१ ॥
द्रौपद्या सह संगम्य वन्द्यमानस्तया प्रभुः ।
महानसे तदानीं तु साधयामास पाण्डवः ॥ ८२ ॥
संस्कृतं प्रसवं याति स्वल्पमन्नं चतुर्विधम् ।
अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥ ८३ ॥
भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वाऽनुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद्भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

उसके सब मनोरथ पूरे होंगे। पुत्र चाहनेवाले को पुत्र, धनार्थी को धन, विद्यार्थी को विद्या इसके नित्य पढ़ने और सुनने से मिलती है, चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री। और स्त्री पुरुष में से जो कोई इस स्तोत्र का पाठ दोनों सन्ध्याओं में करेगा, वह आपत्ति से छूट जावेगा और जो बन्धन अर्थात् कैद में पड़ गया होगा तो कैद से भी छूट जायगा। यह स्तोत्र पूर्व समय में ब्रह्मा जी ने इन्द्र को दिया था, इन्द्र ने नारद जी को दिया, नारद जी ने धौम्य ऋषि को दिया और धौम्य ऋषि ने राजा युधिष्ठिर को दिया कि जिससे उसकी मनोकामना पूरी हुई। इसका पाठ करनेवाला संग्राम में नहीं हारता है और धन-धान्य से युक्त रहकर सब पापों से छूटकर सूर्यलोक में जाता है ॥७६।८०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पीछे राजा युधिष्ठिर सूर्यदेव से वर पाकर जल से बाहर निकले। और धौम्य ऋषि के चरणों को छूकर और भाइयों को प्यार करके द्रौपदी से मिले और चारों प्रकार का थोड़ा-थोड़ा अन्न द्रौपदी से तैयार करवाया। वह चारों प्रकार के अन्न अक्षय हो जाते थे। उसी में से युधिष्ठिर पहले ब्राह्मणों को भोजन कराते, फिर छोटे भाइयों को खिलाकर, विघस

युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ॥ ८५ ॥
एवं दिवाकरात्प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ।
कामान्मनोऽभिलषितान्ब्राह्मणेभ्योऽददात् प्रभुः ॥ ८६ ॥
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥ ८७ ॥
ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः ।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अर्थात् बचे हुए अन्न को आप खाते थे और युधिष्ठिर के भोजन कर लेने पर द्रौपदी भोजन करती थी। द्रौपदी के भोजन कर चुकने पर वह आहार की सामग्री चुक जाती थी॥८१।८५॥

सो हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर ने उक्त प्रकार से सूर्य से वर पाकर ब्राह्मणों के मनोरथ पूरे किये। पाण्डव हर बात में पुरोहित को आगे कर लेते थे और जब-जब कोई तिथि, नक्षत्र या पर्व आन पड़ता था, तब तब विधि और मन्त्र के प्रमाण से यज्ञ के योग्य वस्तुएँ आ जाती थीं। इसके पीछे पाण्डव धौम्य ऋषि से स्वस्त्ययन सुनते हुए ब्राह्मणों-सहित गङ्गातट से काम्यक वन को चले गये ॥८६।८८॥

वनपर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच- वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा! ॥ १ ॥
धृतराष्ट्र उवाच प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम् ।
समश्च त्वं संमतः कौरवाणां पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि ॥ २ ॥
एवं गते ! विदुर यदद्य कार्यं पौराश्चेमे कथमस्मान्भजेरन् ।

चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! पाण्डवों के वन को चले जाने पर, सुखपूर्वक बैठे हुए राजा धृतराष्ट्र ने दु खी होकर विदुर जी से, जो बड़े बुद्धिमान् थे, कहा—हे विदुर ! तुम शुक्राचार्य के समान निर्मल बुद्धिवाले और सूक्ष्म धर्म के विशेष जानकार हो। सब कुरुवंशियों के ऊपर तुम्हारी समान दृष्टि है। इसलिये बताओ, क्या करने से हमारा उपकार हो सकता है ! व्यतीत हुई बात के लिये मैं कुछ नहीं कहता। इस समय जो करने योग्य हो और जिस उपाय से सब पुरवासी हम से

ते चाप्यस्मान्नोद्धरेयुः समूलांस्तत्त्वं ब्रूयाः साधु कार्याणि वेत्सि ॥ ३ ॥

विदुर उवाच–त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र ! राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति ।
धर्मे राजन्वर्तमानः स्वशक्त्या पुत्रान्सर्वान्पाहि पाण्डोः सुतांश्च ॥ ४ ॥
स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः ।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां पराजैषीत्सत्यसन्धं सुतस्ते ॥ ५ ॥
एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राजञ्छेषस्याहं परिपश्याम्युपायम् ।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य ! पापान्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ॥ ६ ॥
तद्वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां यत्तद्राजन्नभिसृष्टं त्वयासीत् ।
एष धर्मः परमो यत्स्वकेन राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत् ॥ ७ ॥
यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम् ।
एतत्कार्यं तव सर्वप्रधानं तेषां तुष्टिः शकुनेश्चाऽवमानः ।
एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्यादेतद्राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व ।
तथैतदेवं न करोषि राजन्ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ॥ ९ ॥
न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके ।
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् ॥ १० ॥
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा तेषां लोके किंनु न प्राप्यमस्ति ।

प्रीति करने लगें और हमारी जड़ को न काटें, सो तुम हमसे कहो । कर्त्तव्य के बारे में तुम विशेष रूप से जानकार हो ॥१।३॥

यह सुनकर विदुर ने कहा, कि धर्म-अर्थ-काम और राज्य इन सब का मूल धर्म है । इससे आपको अपने और पाण्डु के पुत्रों की रक्षा धर्म-पूर्वक करनी चाहिये । उस धर्म को शकुनि आदि पापात्माओं ने सभा में अधर्म रूप कर दिया, जो सत्य-प्रतिज्ञ युधिष्ठिर को बुला कर छल से जुए में जीत लिया। मेरी समझ में युधिष्ठिर के इस अपमान को शान्त करने के लिए यह उपाय आता है, कि आप सब जीते हुए धन को पाण्डवों को दे दीजिए, क्योंकि दूसरे के धन का लोभ न करके अपने धन से सन्तुष्ट रहना बड़ा धर्म है ॥४।७॥

ऐसा करने से आपको केवल धर्म ही होगा, आपका यश न मिटेगा और स्वजातियों में फूट न होगी, पाण्डव इस बात से प्रसन्न हो जायेंगे और शकुनि का अपमान होगा । यह काम सब से श्रेष्ठ है, इसके करने से आप के सब पुत्र बचे रहेंगे, नहीं तो सब कौरव कुल का नाश हो जायगा । भीमसेन और अर्जुन के क्रोध करने पर क्षत्रियों की सेना नहीं बच सकती है । अस्त्रज्ञ अर्जुन और बाहुबलशाली भीमसेन जिस पक्ष के योद्धा हैं, जगत् प्रसिद्ध गाण्डीव जिनका धनुष है, उनके लिये

उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते मया यत्ते हितमासीत्तदानीम् ॥ ११ ॥
पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य हितं परं न च तत्त्वं चकर्थ ।
इदं च राजन्हितमुक्तं न चेत्त्वमेवं कर्ता परितप्तासि पश्चात् ॥ १२ ॥
यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते संप्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम् ।
तापो न ते भविता प्रीतियोगान्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय ॥ १३ ॥
दुर्योधनं त्वहितं वै निगृह्य पाण्डोः पुत्रं प्रकुरुष्वाधिपत्ये ।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ! ॥ १४ ॥
ततो राजन् ! पार्थिवाः सर्व एव वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः ।
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः प्रीत्या राजन् ! पाण्डुपुत्रान्भजन्तु ॥ १५ ॥
दुःशासनो याचतु भीमसेनं सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च ।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ।
त्वया पृष्टः किमहमन्यद्वदेयमेतत्कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन् ! ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्र उवाच श्रुतं वाक्यं विदुर ! यत्ते सभायामिह प्रोक्तं पाण्डवान्प्राप्य मां च ।
हितं तेषामहितं मामकानामेतत्सर्वं मम नावैति चेतः ॥ १७ ॥
इदं त्विदानीं कुत एव निश्चितं तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् ॥ १८ ॥

संसार में असाध्य कुछ नहीं। पहले दुर्योधन के पैदा होते ही मैंने आप से जो कहा था, उसे उसी समय कर डालना अच्छा था। मैंने उसका त्याग करने के लिये कहा था; किन्तु आपने वह नहीं किया। इस समय भी मैंने आपको यह हित का उपदेश किया है। इसके अनुसार काम करने से अन्त को किसी तरह का सन्ताप होने की आशङ्का नहीं है ॥८।१२॥

जो आप का पुत्र सन्तुष्ट होकर, पाण्डवों से मिलकर, एक साथ राज्य भोग करने में सहमत हो, तो आपके लिये सब तरह मङ्गल है, नहीं तो उसे गृहण अर्थात् कैद करके कुरुवंश का भला कीजिए। दुर्योधन को कैद करके पाण्डवों को राज्य देने से अवश्य ही सन्तुष्ट हो कर युधिष्ठिर धर्म के अनुसार पृथ्वी का शासन करेंगे। ऐसा होने से सब राजा लोग बनियों की तरह हमारी सेवा करेंगे। इसलिए दुर्योधन, कर्ण, और शकुनि पाण्डवों की शरण में जायें। आप का पुत्र दुःशासन, अपने कुकर्म के प्रायश्चित्त के तौर पर, भरी सभा में द्रौपदी और भीमसेन से, क्षमा की प्रार्थना करे। आप दुःख को मीठी बातों से शान्त करके युधिष्ठिर को राज तिलक दे दीजिए। ऐसा करने से आप कृतकृत्य हो जायेंगे। जो कुछ आपने हित की बात पूछी वह मैंने कह सुनाई। अब जो कुछ आप और पूछें

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा दुर्योधनस्तु मम देहात्प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति को नु ब्रूयात्समतामन्ववेक्ष्य ॥ १९ ॥
स मां जिह्मं विदुर! सर्वं ब्रवीषि मानं च तेऽहमधिकं धारयामि।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ॥२०॥
वैशम्पायन उवाच एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्यदन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन्!
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः संप्राद्रवद्यत्र पार्था बभूवुः ॥ २१ ॥
इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि विदुरवाक्यप्रत्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

यह कहूँ ॥१३।१७॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! तुमने जब सभा में हम दोनों के सामने ऐसा कहा था, तब तुम्हारा कहना पाण्डवों के लिये हितकर और हमारे लिये अनिष्टकारी, मुझे नहीं जान पड़ा था; किन्तु आज मैं निश्चितरूप से समझ गया, कि तुम पाण्डवों का बड़ा पक्ष करते हो। हमारी भलाई पर तुम्हें तनिक भी ध्यान नहीं है। जो हो, धर्म के अनुसार पाण्डव मेरे पुत्र है सही; किन्तु दुर्योधन मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है। इस कारण पाण्डवों के उपकार के लिये मैं अपने पुत्र को किस तरह छोड़ सकता हूँ! हे विदुर! दूसरों के लिये ऐसा उपदेश करना बुद्धिमान् का काम नहीं। मैं तुम्हारा यथोचित सम्मान करता हूँ, किन्तु तुम मुझे बुरी सम्मति देकर, मेरे बुरे का उपाय करते हो। इस कारण तुम चाहे यहां रहो, चाहे और कहीं चले जाओ, उससे मैं अपनी कुछ हानि नहीं समझता। जो स्त्री बुरे चलन की होती है, वह बहुत समझाने पर भी अपने पति को छोड़ देती है। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धृतराष्ट्र उक्त प्रकार से कहकर उठ खड़े हुए, और महल के भीतर चले गये। विदुर जी भी यह सोचते हुए कि इनका नाश होने को है, पाण्डवों के पास जाने को चल दिये ॥१८।२१॥

वनपर्व का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच-पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात्कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥ १ ॥
सरस्वतीदृषद्वत्यौयमुनां च निषेव्य ते ।

पांचवां अध्याय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! पाण्डव लोग काम्यक वन को जाने के लिये अनुचरों के साथ गंगातट से चलकर कुरुक्षेत्र में पहुँचे। यमुना, सरस्वती और दृषद्वती (घग्घर) नाम की नदियों में स्नान करके, पश्चिमाभिमुख हो, वे एक वन से दूसरे वन में पहुँचने लगे। इस तरह अनेक वनों को लाँघते हुए वे सरस्वती के तट पर स्थित मरु-स्थली में पहुँचे। वहां पर उन्होंने काम्यक वन को

यमुनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥
ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥
तत्र ते न्यवसन्वीरा वने बहुमृगद्विजे ।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ! ॥ ४ ॥
विदुरस्त्वपि पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः ।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥
ततो गत्वा विदुरः काम्यकं तच्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन ।
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ ६ ॥
ततोऽपश्यद्विदुरं तूर्णमाराद्भ्यायान्तं सत्यसन्धः स राजा ।
अथाब्रवीद्भ्रातरं भीमसेनं किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ ७ ॥
कच्चिन्नायं वचनात्सौबलस्य समाह्वाता देवनायोपयातः ।
कच्चित्क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि जेष्यत्यस्मान्पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ८ ॥
समाहूतः केनचिदाद्रवेति नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम् ।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः प्रत्यगृह्णन्नृपते ! सर्व एव ।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो यथोचितं पाण्डुपुत्रान्समेयात् ॥ १० ॥

देखा जिसमें बहुत से मुनि लोग रहते थे। इसके पश्चात् मृगों और पक्षियों से भरे हुए उस रमणीय वन में रहने का निश्चय करके पाण्डव वहीं रहने लगे। मुनि लोग उनको सान्त्वना देने लगे ॥१।४॥

इसी समय पाण्डवों से मिलने की इच्छा रखनेवाले विदुर जी, शीघ्रगामी घोड़े जिसमें जुते हुए थे, उस रथ पर सवार हो कर समृद्धियुक्त काम्यक वन में पहुँचे। उन्होंने वहां पहुँच कर देखा, कि द्रौपदी, चारों भाइयों और ब्राह्मणों के बीच में धर्मराज बैठे हुए हैं। सत्यसन्ध युधिष्ठिर ने दूर से ही विदुर को रथ पर शीघ्र आते हुए देखकर, भीमसेन से कहा—हे भाई ! न जाने विदुर जी यहां आकर हमसे क्या कहेंगे। ये क्या शकुनि के कहने से फिर हमें जुआ खेलने को बुलाने आ रहे हैं ? दुरात्मा शकुनि क्या हमारे अस्त्र-शस्त्रों को भी जीत लेने की इच्छा रखता है ? अब हमें फिर चलना ही पड़ेगा, क्योंकि मैं बुलाये जाने पर रुक नहीं सकता हूँ। जो हो, यदि गाण्डीव धनुष हमारे हाथ से जाता रहा, तो राज्य की प्राप्ति हमारे लिये असम्भव हो जायगी ॥५।९॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! अब सब पाण्डव लोग आदर का भाव दिखलाते हुए

समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभास्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम् ।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥ ११ ॥
विदुर उवाच—अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्तमजातशत्रो! परिगृह्याभिपूज्य ।
एवं गते समतामभ्युपेत्य पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ॥ १२ ॥
मयाऽप्युक्तं यत्क्षमं कौरवाणां हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव ।
तद्वै तस्मै न रुचामभ्युपैति ततश्चाहं क्षममन्यन्न मन्ये ॥ १३ ॥
परं श्रेयः पाण्डवेया! मयोक्तं न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः ।
यथातुरस्येव हि पथ्यमन्नं न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ॥ १४ ॥
न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो! स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥
ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति ।
यथा च पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं जलं न तिष्ठेत्पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥ १६ ॥
ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां यस्मिञ्छ्रद्धा भारत तत्र याहि ।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥ १७ ॥

उठ खड़े हुए। स्वागत सम्भाषण आदि के द्वारा उन्होंने विदुर जी का यथोचित सम्मान किया और उन्हें सुन्दर आसन पर बिठाया। इसके पीछे जब विदुर जी विश्राम कर चुके, तब युधिष्ठिर ने उनसे आने का कारण पूछा। अब विदुर जी विस्तार के साथ धृतराष्ट्र का आचार सुनाने लगे ॥१०।११॥

विदुर ने कहा—हे युधिष्ठिर! राजा धृतराष्ट्र ने एकान्त में बुलाकर मुझ से कहा कि हे विदुर! जो होना था, सो हो गया। बतलाओ, अब इस अवस्था में क्या किया जावे, जिससे हमारे और पाण्डु के पुत्रों का कल्याण हो। मैंने उन्हें उनके और सब कौरवों के हित की बात कही; किन्तु मेरे उपदेश के वाक्य उन्हें बिल्कुल ही नहीं रुचे। हितकारी होने पर भी मेरा उपदेश उनको इस प्रकार से नहीं रुचा जैसे रोगी को पथ्य का अन्न नहीं अच्छा लगता। हे युधिष्ठिर! श्रोत्रिय ब्राह्मण के घर रहने वाली बुरे चरित्र की स्त्री जैसे कुल के लिये कलङ्क रूप होती है, वैसे ही अम्बिका के पुत्र धृतराष्ट्र भरत-वंश के नाश का कारण होंगे। नवयुवती स्त्री जैसे वृद्ध पति की चाह नहीं करती, वैसे ही मेरे वचनों पर धृतराष्ट्र की श्रद्धा नहीं हुई। कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल बिन्दु की तरह मेरे उपदेश के वचन धृतराष्ट्र के हृदय में नहीं ठहरे, इससे स्पष्ट जान पड़ता है, कि यह भरतवंश बहुत शीघ्र निर्मूल हो जायगा ॥१२।१६॥

मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करना तो दूर रहा, धृतराष्ट्र ने 'दूर हो' कह कर मुझे अपने यहां से निकाल दिया है। उन्होंने क्रोध करके मुझसे

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र ! ।
तद्वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां तद्धार्यतां यत्प्रवक्ष्यामि भूयः ॥ १८ ॥
क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः क्षमां कुर्वन्कालमुपासते यः ।
संवर्धयन्स्तोकमिवाग्निमात्मवान्स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥ १९ ॥
यस्याऽविभक्तं वसु राजन्सहायैस्तस्य दुःखेऽप्यंशभाजः सहायाः ।
सहायानामेष संग्रहणेऽभ्युपायः सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ॥ २० ॥
सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव! विप्रलापं तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य एवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच–एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं तद्वै वाच्यं तत्करिष्यामि कृत्स्नम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते सभापर्वणि आरण्यकपर्वणि विदुरनिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

कहा–मैं पृथ्वी के शासन या प्रजा के पालन के बारे में अब तुम्हारी सम्मति नहीं सुनूँगा। सो हे युधिष्ठिर! मैं धृतराष्ट्र से त्यागे जाने के कारण मे तुमको शिक्षा करने के लिये आया हूँ। तुम को चाहिए, कि जो मैंने तुम्हें सभा में उपदेश दिया था और अब जो कुछ कहूँ, उसके अनुसार चलो। जो मनुष्य शत्रु के क्लेश से दुःखी होने पर क्षमापूर्वक रहकर समय को देखा करता है, वह इस प्रकार से बढ़कर जैसे थोड़ी भी अग्नि सुलग-सुलग कर सब भस्म कर देती है, धीरे-धीरे बढ़कर अकेला सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य करता है ॥१७।१९॥

सम्पत्ति के समय जो अपने सहायकों के साथ समान रूप से सम्पत्ति का भोग करता है, उसे विपत्ति के समय सब क्लेश अकेले नहीं सहने पड़ते। सहायक पाने का यही उपाय है। और सहायक मिल गया तो सब कुछ मिल गया। इसलिये सहायकों को समान रूप से सम्पत्ति बाँट कर उस का उपभोग करना ही अच्छा है। उनके आगे अपने मुख अपनी बड़ाई न करनी चाहिये। ऐसा व्यवहार करने से राजाओं की वृद्धि होती है। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा–हे विदुर जी! मैं बड़े यत्न और परिश्रम के साथ आप का कहा करूँगा। इस समय देश-काल के अनुकूल जो कुछ उत्तम उपदेश आप देना चाहें, वह दें। मैं उसे मानने और करने को प्रस्तुत हूँ ॥२०।२२॥

—.*—

वनपर्व का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच–गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान्प्रति ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ! ॥ १ ॥

विदुरस्य प्रभावं च सन्धिविग्रहकारितम् ।
विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ॥ २ ॥
स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः ।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ ३ ॥
स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात् ।
समीपोपस्थितं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥
भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद्धर्म इवापरः ।
तस्य स्मृत्वाऽद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ५ ॥
तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै ।
इति ब्रुवन्स नृपतिः कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥
पश्चात्तापाऽभिसंतप्तो विदुरस्मारमोहितः ।
भ्रातृस्नेहादिदं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
गच्छ सञ्जय ! जानीहि भ्रातरं विदुरं मम ।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ ८ ॥
न हि तेन मम भ्रात्रा सुसूक्ष्ममपि किंचन ।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनाऽमितबुद्धिना ॥ ९ ॥

छठवां अध्याय ॥ ६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! विदुर जी के पाण्डवों के पास चले जाने पर, उस ज्ञानी राजा धृतराष्ट्र को बड़ा दुःख हुआ। और वह विदुर जी के प्रभाव और संधि और विग्रह आदि नीति की निपुणता पाण्डवों का भविष्यकाल में उदय जानकर, महादुःखी होकर, सभा के द्वार पर निकल आये और यह समझ कर, कि मैंने विदुर जी के साथ वृथा द्वेष किया और मूर्च्छित होकर, सब राजाओं के सामने पृथ्वी पर गिर पड़े। कुछ देर के पश्चात् होश आई और वे उठ बैठे। सञ्जय को अपने पास पाकर धृतराष्ट्र कहने लगे—हे सञ्जय ! मैं अपने भाई विदुर को, जो साक्षात् दूसरे धर्मराज के समान है, याद कर-करके महादुःखी हो रहा हूँ। उनके वियोग से मेरा हृदय फटा जा रहा है ॥१।५॥

इसलिये तुम मेरे भाई, धर्म के ज्ञाता विदुर को तुरन्त यहा ले आओ। यह कहकर धृतराष्ट्र विलाप करने लगे और पछतावा कर-करके अपने द्वेष को याद करके भाई के स्नेह की फांसी में बँधे हुए, सञ्जय से फिर कहने लगे—हे सञ्जय ! तुम जाकर मेरे भाई विदुर को ढूंढो। मुझ पापी ने क्रोध में उसे निकाल दिया है। देखो वह जीता है, या नहीं ! मेरे

स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान् ।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ ! तं गच्छानय सञ्जय ! ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च ।
सञ्जयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत्काम्यकं प्रति ॥ ११ ॥
सोऽचिरेण समासाद्य तद्वनं यत्र पाण्डवाः ।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
भ्रातृभिश्चाऽभिसंगुप्तं देवैरिव पुरन्दरम् ॥ १३ ॥
युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास सञ्जयः ।
भीमार्जुनयमांश्चापि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥
राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च सञ्जयः ।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाऽब्रवीद्वचः ॥ १५ ॥
सञ्जय उवाच—राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं सञ्जीवय च पार्थिवम् ॥ १६ ॥
सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान्पाण्डवान्कुरुनन्दनान् ।
नियोगाद्राजसिंहस्य गन्तुमर्हसि सत्तम ! ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान्स्वजनवत्सलः ।

भाई विदुर ने, जो बड़ा बुद्धिमान् और ज्ञानी है, मेरा किसी समय में थोड़ा सा भी अप्रिय नहीं किया। हाय, मैंने उसका बड़ा भारी अपमान किया है। हे सञ्जय ! तुम शीघ्र विदुर को ढूँढकर यहां ले आओ; नहीं तो मैं अपने प्राण दे दूँगा ॥६।१०॥

यह सुनकर सञ्जय वहां से धृतराष्ट्र को प्रणाम करके 'बहुत अच्छा' कहकर काम्यक वन को चल दिया। और थोड़े ही समय में पाण्डवों के आश्रम में पहुंचकर उसने देखा, कि मृगचर्म ओढ़े हुए युधिष्ठिर, देवताओं की मण्डली में इन्द्र के समान, विदुर-समेत हजारों ब्राह्मणों और चारों भाइयों के बीच में शोभायमान हैं। सञ्जय ने पहले युधिष्ठिर को प्रणाम किया। फिर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को प्रणाम करके वह आसन पर बैठ गया ॥११।१४॥

इसके पीछे संजय युधिष्ठिर के कुशल पूछने पर, अपने आने का कारण कहकर, विदुर जी से कहने लगा–राजा धृतराष्ट्र आपको याद कर रहे हैं। आप शीघ्र जाकर उन्हें दर्शन दीजिए और उनके प्राणों की रक्षा कीजिए। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! बुद्धिमान् विदुर संजय की उक्त बात को सुनकर धर्मराज की अनुमति से फिर हस्तिनापुर को लौट आये ॥१५।१८॥

युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद्गजाह्वयम् ॥ १८ ॥
तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ ! दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ !॥ १९ ॥
अद्य चाहं दिवा रात्रौ त्वत्कृते भरतर्षभ ! ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥ २० ॥
सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याघ्राय चैव ह ।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयाऽनघ ! ॥ २१ ॥
विदुर उवाच—क्षान्तमेव मया राजन्गुरुर्मे परमो भवान् ।
एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥ २२ ॥
भवन्ति हि नरव्याघ्र ! पुरुषा धर्मचेतसः ।
दीनाभिपातिनो राजन्नात्र कार्या विचारणा ॥ २३ ॥
पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत ! ।
दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाऽद्य तान्प्रति ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि विदुरप्रत्यागमनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

महातेजस्वी धृतराष्ट्र ने विदुर को आया हुआ जानकर कहा—हे निष्पाप ! मेरा बड़ा सौभाग्य है जो तुम मुझे याद करके फिर हस्तिनापुर में आ गये। हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे शोक में मुझ को रात्रि भर निद्रा नहीं आई। जागते जागते मेरे शरीर का रङ्ग पलट गया है। यह कह कर अब धृतराष्ट्र ने विदुर जी को अपनी गोद में बैठा लिया और फिर उनका माथा सूँघकर वे कहने लगे—हे निष्पाप ! जो कुछ मैंने तुमसे कहा है, उसको क्षमा करो ॥१९।२१॥ यह सुनकर विदुर जी ने कहा—हे महाराज ! मैं सदा ही क्षमायुक्त रहता हूँ। आप तो मेरे परम गुरु हैं। मैं आपके दर्शनों की इच्छा से शीघ्र चला आया हूँ। हे महाराज ! धर्मात्मा लोग सदा दुःखी मनुष्यों का पक्ष लेते हैं, इस में कुछ सन्देह करने की बात नहीं है। निस्सन्देह मेरे लिये जैसे आपके पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी हैं, परन्तु पाण्डव दुःखी हैं, इससे मेरा मन उनकी ओर विशेष है। इसके पीछे वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पीछे वह दोनों भाई परस्पर मिलकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ॥२२।२५॥

वनपर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच–श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ १ ॥
स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा ।
अब्रवीद्वचनं राजा प्रविश्याऽबुद्धिजं तमः ॥ २ ॥
एष प्रत्यागतो मन्त्री धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद्विद्वान्हिते रतः ॥ ३ ॥
यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नाऽपकर्षति ।
पाण्डवाऽऽनयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम ॥ ४ ॥
अथ पश्याम्यहं पार्थान्प्राप्तानिह कथंचन ।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः ॥ ५ ॥
विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम् ।
करिष्ये न हि तानृद्धान्पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ ६ ॥
शकुनिरुवाच–किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशांपते ! ।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति ॥ ७ ॥
सत्यवाक्ये स्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ ! ।
पितुस्ते वचनं तात ! न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित् ॥ ८ ॥

सातवाँ अध्याय ॥ ७ ॥

वैशम्पायन कहते हैं–हे राजा जनमेजय ! विदुर जी के लौट आने की और धृतराष्ट्र के द्वारा विदुर को सान्त्वना मिलने की सूचना पाकर, दुर्बुद्धि दुर्योधन को बड़ा दुःख हुआ । अज्ञान के अँधेरे में अन्धा हो रहा दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासन को बुलाकर उनसे कहने लगा–देखो, राजा धृतराष्ट्र के बुद्धिमान् मन्त्री विदुर फिर आ गये । वे पाण्डवों के सुहृद हैं और सदैव उनके हित में प्रीति रखते हैं । इसलिए विदुर, जब तक पिता जी को पाण्डवों को फिर बुलाने की सलाह नहीं देते, तबतक उससे पहले ही तुम मेरी भलाई का उपाय करो । यदि पाण्डव किसी तरह फिर आ गये, तो मैं फिर दुर्बल और उदास हो जाऊँगा । मैं खाना पीना छोड़ दूँगा । तब मैं विष खा लूँगा, या ग्रीवा में फाँसी लगाकर मर जाऊँगा अथवा आग में जल मरूँगा, किन्तु पाण्डवों की समृद्धि को देख न सकूँगा ॥१।६॥

यह सुनकर शकुनि ने कहा–हे राजन् ! तुम किसलिये मूढ़ पुरुष की तरह चिन्ता कर रहे हो ? पाण्डव तो समय की अवधि करके वन को गये हैं ।

अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम् ।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति ॥ ९ ॥
सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः ।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः ॥ १० ॥
दुःशासन उवाच—एवमेतन्महाप्राज्ञ ! यथा वदसि मातुल ! ।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्हि रोचते ! ॥ ११ ॥
कर्ण उवाच—काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन ! तवेप्सितम् ।
ऐकमत्यं हि नो राजन्सर्वेषामेव लक्षये ॥ १२ ॥
नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम् ।
आगमिष्यन्ति चेन्मोहात्पुनर्द्यूतेन ताञ्जय ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नाऽतिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत्स पराङ्मुखः ॥ १४ ॥
उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे ।
रोषाद्दुःशासनं चैव सौबलं च तमेव च ॥ १५ ॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना ।
अथो मम मतं यत्तु तन्निबोधत भूमिपाः ! ॥ १६ ॥
प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किंकरपाणयः ।

इसलिए तुम जैसा विचार कर रहे हो, वैसा होना असम्भव है। हे भरतश्रेष्ठ ! पाँचों पाण्डव सत्य-परायण हैं। सत्य को छोड़ कर वे कभी धृतराष्ट्र की बात न मानेंगे; अथवा यदि वे अपनी प्रतिज्ञा छोड़ कर चले भी आवेंगे, तो भी कुछ चिन्ता की बात नहीं है। हम फिर उनको जुए में जीत लेंगे और तुम्हारा हित करने के लिये पाण्डवों के दोषों को देखकर, अपने दृढ़ मंत्र को छिपा कर, धृतराष्ट्र की आज्ञापूर्वक मध्यस्थ हो जायेंगे। यह सुनकर दुःशासन ने कहा—हे मामा जी ! आप बड़े ज्ञानी हैं। आपने ठीक-ठीक कहा है। मुझे आप की बुद्धि सदैव रुचती है ॥७।११॥

इसके पीछे कर्ण ने कहा—हे राजन् ! हम लोग एकमत होकर, सदा तुम्हारा हित सोचा करते है। पाण्डव समय को बिताये बिना कभी नहीं आवेंगे और जो आवेंगे भी, तो उनको हम सब फिर जुए में जीत लेंगे ॥१२।१३॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय ! कर्ण की बात को सुनकर दुर्योधन ने अप्रसन्नता से अपना मुख फेर लिया। यह देखकर कर्ण दुर्योधन के मन की बात को पहिचान गया और क्रोध से नेत्र फाड़ कर शकुनि और दुःशासन से कहने लगा—राजा का

न चाऽस्य शक्नुमः स्थातुं प्रियं सर्वे ह्यतन्द्रिताः ॥ १७ ॥
वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः ।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान्वनगोचरान् ॥ १८ ॥
तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम् ।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम् ॥ १९ ॥
यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः ।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥ २० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः ।
बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥ २१ ॥
एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक् ।
निर्ययुः पाण्डवान्हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः ॥ २२ ॥
तान्प्रस्थितान्परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ २३ ॥
प्रतिषिध्याथ तान्सर्वान्भगवाँल्लोकपूजितः ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि व्यासागमने नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

प्रिय करना अनुचरों का प्रधान कर्त्तव्य है । हम लोग दुर्योधन का हित करना चाहते हैं; किन्तु राजा धृतराष्ट्र हम लोगों को रोके हुए है ॥१४।१७॥

इस लिये मेरी समझ में हम सब शस्त्र लिये हुए रथों पर चढ़-चढ़कर, वन को चलें और पाण्डवों को मार डालें, उनके मरने पर ये सब धृतराष्ट्र के पुत्र और हम सब बेखटके हो जायेंगे । क्योंकि जब तक पाण्डव दुःखी और मित्रहीन है, तब तक उनको जीत लेना बड़ी बात नहीं है ॥१८।२०॥

यह सुन करके सब के सब कर्ण की प्रशंसा करने लगे और 'बहुत अच्छा' कहकर, क्रोध कर-करके, अलग-अलग रथों में चढ़-चढ़कर, पाण्डवों को मारने के लिये नगर से बाहर निकले । उन्हें पाण्डवों को मारने के लिये जाते देखकर, लोकपूजित भगवान् वेदव्यास ने, दिव्यदृष्टि से अच्छी तरह सब देख भालकर, रास्ते से ही उन्हें लौटा दिया । इसके पश्चात् वे उस अन्ध राजा धृतराष्ट्र के पास गये और कहने लगे ॥२१।२४॥

वनपर्व का सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

व्यास उवाच—धृतराष्ट्र ! महाप्राज्ञ ! निबोध वचनं मम ।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ॥ १ ॥
न मे प्रियं महाबाहो ! यद्गताः पाण्डवा वनम् ।
निकृत्या निकृताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ॥ २ ॥
ते स्मरन्तः परिक्लेशान्वर्षे पूर्णे त्रयोदशे ।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ! ॥ ३ ॥
तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः ।
पाण्डवान्नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥ ४ ॥
वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः ।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन्प्राणान्विमोक्ष्यति ॥ ५ ॥
यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम् ।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि ॥ ६ ॥
विग्रहो हि महाप्राज्ञ ! स्वजनेन विगर्हितः ।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन् ! प्रतिपद्यताम् ॥ ७ ॥
समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान्प्रति भारत ! ।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन् ! महान्तमनयं स्पृशेत् ॥ ८ ॥

आठवा अध्याय ॥ ८ ॥

व्यास जी ने कहा—हे राजा धृतराष्ट्र ! मैं सब कौरवों की भलाई के लिये तुमसे जो कहता हूँ, सो एकचित्त होकर सुनो । दुर्योधन आदि तुम्हारे पुत्रों ने बड़ा भारी छल करके पाण्डवों को वनवास दे दिया है, यह सुनकर मैं अत्यन्त दुःखित हुआ हूँ। हे भरतश्रेष्ठ ! पाण्डव लोग वनवास में रहकर जो क्लेश सह रहे हैं, वह निःसन्देह उन्हें स्मरण रहेगा । तेरह वर्ष व्यतीत होने पर वे अवश्य बदला चुकाने का उपाय करेंगे । अत्यन्त कुबुद्धि पापी दुर्योधन ऐश्वर्य के लोभ से बहुत ही उतावला होकर सदा पाण्डवों के नाश की चेष्टा किया करता है । इस लिये जो तुम पुत्र का भला चाहते हो, तो दुर्बुद्धि दुर्योधन को इस बुरी चेष्टा से रोको । वनवासी पाण्डवों को मारने जाकर वह आप ही अपने प्राण खो बैठेगा ॥१-५॥

हे महाराज ! महाप्राज्ञ विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि हम लोगों के समान तुम भी सज्जन पुरुष हो । हे महाप्राज्ञ ! भाई-बन्धुओं के साथ विरोध करना निन्दित अधर्मरूप और अयश का करनेवाला है । इसलिए उस अधर्मयुक्त काम में

अथवाऽयं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः ।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवाऽसहायवान् ॥ ९ ॥
ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः ।
यदि स्यात्कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर ! ॥ १० ॥
अथवा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते ।
श्रूयते तन्महाराज ! नामृतस्यापसर्पति ॥ ११ ॥
कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोऽपि वा ।
भवान्वाऽत्रक्षमं कार्यं पुरा, वोऽर्थो निवर्तते ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि व्यासवाक्यं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

हाथ न लगाना । हे कौरवो ! पाण्डवों के प्रति इस दुर्योधन की जिस प्रकार की कुबुद्धि है, वह छोड़ देनी चाहिए, नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ हो जावेगा। मेरी सम्मति है, कि तुम्हारा दुराचारी पुत्र असहाय होकर पाण्डवों के साथ वन को जावे । यदि पास रहने के कारण, पाण्डवों के लिये उसके हृदय में स्नेह उत्पन्न हो जाय, तो तुम्हें अपने काम में सफलता प्राप्त हो सकती है, अर्थात् तुम्हारे पुत्रों का भला हो सकता है । अथवा जिस मनुष्य का जैसा स्वभाव जन्म के समय होता है, प्राणान्त होने तक नहीं जा सकता। इसलिये वैसा होने की सम्भावना कहा है ? जो हो, भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर और तुम इस विषय में क्या सोचते हो ? तुम लोगों की क्या सम्मति है ? जिससे अन्त में कुछ अनिष्ट न हो, वैसा उचित उपाय करना हम सब का कर्त्तव्य है, नहीं तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी ॥६।१२॥

वनपर्व का आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८

अथ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—भगवन्नाहमप्येतद्रोचये द्यूतसम्भवम् ।
मन्ये तद्विधिनाऽऽकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने ! ॥ १ ॥
नैतद्रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च ।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तत्र मोहात्प्रवर्तितम् ॥ २ ॥
परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम् ।

नवमां अध्याय ॥ ९ ॥

व्यास जी की उक्त बात को सुनकर धृतराष्ट्र कहने लगे—हे महाराज ! द्यूतक्रीड़ा के लिये मेरी इच्छा न थी । दैव ही की प्रेरणा से मैंने उसका अनुमोदन कर दिया था । भीष्म, विदुर, द्रोणाचार्य और गान्धारी ने भी उसका विरोध किया था । हे महाराज ! मैं सब दोषों को जानता हूँ, परन्तु क्या

पुत्रस्नेहेन भगवञ्जानन्नपि प्रियव्रत ! ॥ ३ ॥

व्यास उवाच—वैचित्रवीर्य ! नृपते ! सत्यमाह यथा भवान् ।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते ॥ ४ ॥
इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः ।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम् ॥ ५ ॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशांपते ! ॥ ६ ॥
त्रिविष्टपगता राजन्सुरभी प्रारुदत्किल ।
गवां माता पुरा तात ! तामिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच—किमिदं रोदिषि शुभे ! कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम् ।
मनुष्येष्वथ नागेषु नैतदल्पं भविष्यति ॥ ८ ॥

सुरभिरुवाच—विनिपातो न ते कश्चिद्दृश्यते त्रिदशाऽधिप ! ।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ! ॥ ९ ॥
पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम् ।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीडितम् ॥ १० ॥
निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराऽधिप ! ।

करूं, पुत्र के स्नेह से मैं अपने अज्ञानी पुत्र दुर्योधन को त्याग नहीं सकता हूँ ॥१।३॥

यह सुनकर व्यास जी ने कहा—हे धृतराष्ट्र ! तुम सत्य कहते हो । संसार में पुत्र से बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं । परन्तु जिस पुत्र के कारण से शोक उत्पन्न हो, उस पुत्र को मैं शत्रु के समान जानता हूँ । अब मैं तुमको इन्द्र और कामधेनु का उपाख्यान सुनाता हूँ, जिसमें इन्द्र ने कामधेनु को रोते हुए देखकर और-और कारणों से यह समझ लिया, कि पुत्र से अधिक कुछ नहीं है । एक समय ऐसा हुआ, कि स्वर्ग में गौओं की माता कामधेनु रो रही थी । उसी समय वहां इन्द्र भी आ गया और उसे रोती हुई देखकर कहने लगा—हे कल्याणी ! तुम किसलिए रोती हो ? देवलोक, मनुष्यलोक, और नागलोक में तो कुछ अनिष्ट नहीं हुआ ? ॥४।८॥

यह सुनकर कामधेनु ने कहा—हे देवेन्द्र ! मैं तो पुत्र-शोक से खिन्न होकर रो रही हूँ । देखो, यह नीच किसान मेरे दुर्बल पुत्र को, जो अपने बल के अनुसार हल को खींच रहा है, कोड़ों से मार रहा है और बड़ा कष्ट दे रहा है । मुझसे वह दुःख देखा नहीं जाता । मेरा पुत्र व्याकुल होकर बार-बार बैठ जाता है, तो पीटा जाता है । इन दोनों मेरे पुत्रों में एक बलवान् है, इसी कारण अधिक बोझ लाद सकता है । दूसरा दुर्बल है । उसके शरीर में हड्डियां

कृपाऽऽविष्टास्मि देवेन्द्र ! मनश्चोद्विजते मम ॥ ११ ॥
एकस्त्वत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ।
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसन्ततः ।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ! ॥ १२ ॥
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ! ॥ १३ ॥
ततोऽहं तस्य शोकार्ता विरौमि भृशदुःखिता ।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥ १४ ॥
शक्र उवाच—तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने ! ।
किं कृपायितवत्यत्र पुत्र एकत्र हन्यति* ॥ १५ ॥
सुरभिरुवाच—यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे ।
दीनस्य तु सतः शक्र ! पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ॥ १६ ॥
व्यास उवाच–तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः ।
जीवितेनापि कौरव्य ! मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥ १७ ॥
प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम् ।
कर्षकस्याचरन्विघ्नं भगवान्पाकशासनः ॥ १८ ॥
तद्यथा सुरभिः प्राह समवेतास्तु ते तथा ।

ही हड्डियाँ देख पड़ती हैं। इसी कारण वह अधिक बोझ नहीं लाद सकता। हे इन्द्र ! देखो, बार-बार, कोड़े की मार खाकर भी वह अधिक परिश्रम नहीं कर सकता। इस कारण मैं अत्यन्त दुःखित और शोकाकुल होकर आंसू बहाती हुई करुण स्वर से रो रही हूँ ॥९।१४॥

यह सुनकर, इन्द्र ने कहा—हे शोभने ! तुम्हारे हज़ारों पुत्र पीड़ित हो रहे हैं, फिर तुम केवल एक को ही ऐसी दशा में देखकर दुःखित क्यों हो रही हो ? कामधेनु ने कहा—हे इन्द्र ! हां, मेरे हज़ारों पुत्र हैं और उनपर मेरा स्नेह भी समान है। परन्तु जो पुत्र परोपकारी है, उसे दीन देखकर मेरे हृदय में अत्यन्त करुणा होती है। व्यासजी कहते हैं, कामधेनु के ये वचन सुनकर इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने समझ लिया कि संसार में पुत्र प्राणों से भी बढ़कर प्यारा होता है। इसके पश्चात् उस किसानके उक्त निष्ठुर कार्य में विघ्न डालने के लिये इन्द्र ने लगातार मूसलाधार वर्षा की ।१५।१८।

हे धृतराष्ट्र ! जैसा कामधेनु ने कहा था उसी प्रकार यद्यपि कई पुत्र मनुष्य के हों परन्तु जो दीन और दुखी होता है उस पर विशेष प्रीति होती है। मेरा पुत्र जैसा पाण्डु था वैसा ही तुम और

* हन्यति- हन्यमाने इत्यर्थः। कृपायितवती-कृपां कृतवतीत्यर्थः।

सुतेषु राजन् ! सर्वेषु हीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥ १९ ॥
यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक ! ।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥
चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत ! ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः ॥ २१ ॥
कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते ॥ २२ ॥
यदि पार्थिव ! कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ॥ २३ ॥
इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि सुरभ्युपाख्यानं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

विदुर हो, मेरे लिये सभी एक जैसे है । परन्तु तुम्हारे तो एक सौ एक पुत्र हैं और पाण्डु के, केवल पाच ही पुत्र हैं और वे पाच भी अत्यन्त दु:खी हैं । उनकी ऐसी दशा देखकर दिन-रात इसी चिन्ता से मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है, कि किस तरह वे जीवित रहेंगे और किस उपाय से उनकी उन्नति होगी । इसलिये हे राजा धृतराष्ट्र ! यदि तुम कौरवों को जिलाना चाहते हो, तो अपने पुत्र दुर्योधन और पाण्डवों का मिलाप करा दो ॥१९।२३॥

वनपर्व का नवमां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—एवमेतन्महाप्राज्ञ ! यथा वदसि नो मुने ! ।
अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ॥ १ ॥
भवांश्च मन्यते साधु यत्कुरूणां महोदयम् ।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने ! ॥ २ ॥
यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि ।
अनुशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ॥ ३ ॥

दसवां अध्याय ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महामुनि ! आप सत्य कहते हैं । मैं भी ऐसा ही जानता हूँ और ये सब राजा लोग और भीष्म, विदुर और द्रोणाचार्य भी कौरवों का उदय ही चाहते है । परन्तु जो आपका मेरे ऊपर अनुग्रह है, कौरवों पर दया है, तो आप मेरे दुष्ट पुत्र को शिक्षा दीजिए । यह सुनकर व्यास जी ने कहा—हे कौरव ! आज मैत्रेय ऋषि पाण्डवों के पास होते हुए हम लोगों को देखने आ रहे हैं ।

व्यास उवाच—अयमायाति वै राजन्! मैत्रेयो भगवानृषिः ।
अन्विष्य पाण्डवान्भ्रातॄनिहैत्यस्मद्दिदृक्षया ॥ ४ ॥
एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन्! महानृषिः ।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च ॥ ५ ॥
ब्रूयाद्यदेष कौरव्य! तत्कार्यमविशङ्कया ।
अक्रियायां तु कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ॥ ७ ॥
अर्घाद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम् ।
प्रश्रयेणाब्रवीद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ८ ॥
सुखेनाऽऽगमनं कच्चिद्भगवन्! कुरुजाङ्गलान्? ।
कच्चित्कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः? ॥ ९ ॥
समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च भरतर्षभाः? ।
कच्चित्कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति? ॥ १० ॥
मैत्रेय उवाच—तीर्थयात्रामनुक्रामन्प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान् ।
यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान्काम्यके वने ॥ ११ ॥
तं जटाऽजिनसंवीतं तपोवननिवासिनम् ।

वह तेरे पुत्र को न्याय के अनुसार कुल की शांति के लिये शिक्षा करेंगे ॥१।५॥

सो तुम को जो कुछ वह कहें, शंका रहित करना उचित है और जो तुम अवश्य करने के योग्य काम को न करोगे, तो मैत्रेय जी तुम्हारे पुत्र को शाप दे देंगे। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! व्यास जी उक्त प्रकार से कहकर चले गये और मैत्रेय ऋषि ने आकर दर्शन दिये। राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र सहित उनको बड़े आदर-सत्कार से लिया और विधि के अनुसार अर्घ आदि से उनकी पूजा की। इसके पश्चात् विश्राम कर चुकनेपर राजा धृतराष्ट्र कहने लगे—हे महाराज! कुरु जङ्गल से यहां आते समय आप को कुछ दुःख तो नहीं हुआ! पांचों पाण्डव कुशल से है न! वे अपने प्रण को पूरा करना चाहते हैं न! कुरुवंशियों की भ्रातृ सम्बन्धी प्रीति तो नाश न होगी! ॥६।१०॥

यह सुनकर मैत्रेय जी ने कहा—हे महाराज! मैं तीर्थयात्रा करता हुआ अकस्मात् काम्यक वन में जा निकला था और वहां मैंने धर्मराज युधिष्ठिर को देखा। उस वन में उन महात्मा युधिष्ठिर को देखने की इच्छा से बहुत से मुनि लोग आये थे। मैंने वहां पर तुम्हारे पुत्र के जुआरूपी अनर्थ और अनीति और बड़े भय का हाल सुना था। यह सुनकर मैं

समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ! ॥ १२ ॥
तत्राश्रौषं महाराज ! पुत्राणां तव विभ्रमम् ।
अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ॥ १३ ॥
ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो ! ॥ १४ ॥
नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योऽन्येन ते पुत्रा विरोध्यन्ते कथंचन ॥ १५ ॥
मेढीभूतः स्वयं राजन् ! निग्रहे प्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ॥ १६ ॥
दस्यूनामिव यद्वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ! ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्पणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ॥ १८ ॥
मैत्रेय उवाच—दुर्योधन ! महाबाहो ! निबोध वदतांवर ! ।
वचनं मे महाभाग ! ब्रुवतो यद्धितं तव ॥ १९ ॥
मा द्रुहः पाण्डवाराजन् ! कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ ! ॥ २० ॥
ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥ २१ ॥

तुम्हारी प्रीति और स्नेह के कारण से कौरवों को देखने को यहां चला आया हूँ। सो मुझको बड़ा आश्चर्य है, कि तुम्हारे और भीष्म के जीते जी तुम्हारे पुत्रों में क्योंकर विरोध हुआ ॥११।१५॥

तुम को दण्ड देने और अनुग्रह करने का सब अधिकार था, फिर क्या कारण है, जो तुमने ऐसी अनीति होने दी। तुम्हारी सभा में चोरों की सी जो-जो बातें हुईं, वह तुम जस तपस्वियों की मण्डली में शोभा नहीं देती हैं। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् भगवान् मैत्रेय जी ने सम्मुख होकर मधुर वाणी से दुर्योधन से कहा—हे महाबाहो ! हे महाभाग दुर्योधन ! मैं तुम्हारे हित के लिये जो कहता हूं, सो सुनो। तुम पाण्डवों से विरोध मत करो। हे भाई ! ऐसा काम करो, जिसमें तुम, पाण्डव, कौरव और सब संसार प्रसन्न हो। हे भाई ! पाण्डव बड़े शूरवीर, बड़े पराक्रमी

सत्यव्रत-धराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ॥ २२ ॥
हिडिम्ब-वकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ।
इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ॥ २३ ॥
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
तं भीमः समरश्लाघी वलेन वलिनां वरः ॥ २४ ॥
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।
पश्य दिग्विजये राजन् ! यथा भीमेन पातितः ॥ २५ ॥
जरासन्धो महेष्वासो नागाऽयुतवलो युधि ।
सम्बन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ॥ २६ ॥
कस्तान्युधि समासीत जरामरणवान्नरः ।
तस्य ते शम एवाऽस्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ! ॥ २७ ॥
कुरु मे वचनं राजन् ! मा मन्युवशमन्वगाः ।
वैशम्पायन उवाच–एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशांपते ! ॥ २८ ॥
ऊरुं गजकराकारं करेणाऽभिजघान सः ।
दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन्महीम् ॥ २९ ॥

बड़े योद्धा, दस दस हजार हाथियों के समान बड़े बली, वज्र रूपी देहधारी और बड़े दृढ़ हैं ॥१६।२१॥

इस के सिवा, वे सत्यप्रतिज्ञ हैं; उन्हें अपने पौरुष का अभिमान है । देखो, उन्होंने हिडिम्ब, बक, किर्मीर आदि कामचारी देवशत्रु राक्षसों को मारा है । एक दिन, रात्रि के समय, महात्मा पाण्डवों को देखकर निशाचर किर्मीर पर्वत की तरह अचल भाव से उनकी राह रोककर खड़ा हो गया । समर में बड़ाई पाने वाले, श्रेष्ठ बली भीमसेन ने बाघ जैसे साधारण पशु को मार डालता है, वैसे खेलते खेलते उस निशाचर को मार डाला । इसके सिवा, उन्हीं भीमसेन ने दिग्विजय के लिये निकल कर, हजार हाथियों का बल रखनेवाले जरासन्ध को बाहु-युद्ध में मारा है । वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवों के परम-मित्र हैं और राजा द्रुपद के पुत्र उनके साले हैं । ॥२२।२६॥

इसलिये बुढ़ापे और मरण के वशवर्ती मनुष्यों में कौन ऐसा साहसी और बलवान् है, जो पाण्डवों से युद्ध करने की इच्छा करे ? हे दुर्योधन ! मेरी बात मानकर शीघ्र पाण्डवों से मेल कर लो । वैरविरोध मत बढ़ाओ । वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! महर्षि मैत्रेय यह कहकर चुप होगये । दुर्बुद्धि दुर्योधन, हाथी की सूँड़ सी, अपनी जाँघ पर हाथ मारकर मुसकराता हुआ पाँव के अंगूठे से पृथ्वी खोदने लगा । वह कुछ भी न कहकर

न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ।
तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुन्धराम् ॥ ३० ॥
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन्! मैत्रेयं कोप आविशत् ।
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥
विधिना संप्रणुदितः शापायाऽस्य मनो दधे ।
ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ॥ ३२ ॥
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद् दुष्टचेतसम् ।
यस्मात्त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याऽभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ३३ ॥
त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥ ३४ ॥
इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भवेदिति ॥ ३५ ॥
मैत्रेय उवाच—शमं यास्यति चेत्पुत्रस्तव राजन् यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच—*विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।

सिर झुकाये बैठा रहा। वह अपमान देखकर, मैत्रेय जी क्रोधित हो गये और शाप देने की इच्छा से लाल-लाल नेत्र किये हुए, दैव की प्रेरणा से आचमन कर शाप देने लगे ॥२७।३२॥

हे दुर्योधन! जो तूने अभिमान से अन्धा होकर मेरा अपमान किया है, मेरी बात नहीं मानी है, इस कारण तू शीघ्र ही इसका फल पावेगा। इस द्रोह के कारण पाण्डवों के साथ जो तेरा युद्ध होगा, उसमें महाबाहु भीमसेन गदा के प्रहार से तेरी इस जांघ को तोड़ डालेंगे। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने मैत्रेय जी को प्रसन्न किया और कहा, कि महाराज ऐसा कीजिये, जिसमें यह बात न होवे। यह सुनकर मैत्रेय जी ने कहा—यदि तुम्हारा पुत्र दुर्योधन पाण्डवों से मिलाप कर लेगा, तो यह शाप नहीं लगेगा; नहीं तो जैसा हमने कहा है, वैसा ही होगा ॥३३।३६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पीछे राजा धृतराष्ट्र ने भीमसेन के बल का स्मरण करके मैत्रेय जी से पूछा—हे महाराज! भीमसेन ने किस तरह किर्मीर राक्षस को मारा था? यह सुनकर मैत्रेय जी ने कहा—जो मेरा कथन तुमको अच्छा नहीं मालूम पड़ता और तुम्हारा पुत्र सुनना नहीं चाहता, इससे मैं नहीं कहूँगा। मेरे जाने पर ये

* विलक्षयन् इत्यस्य भीमबलं कियदधिकमिति विशेषेण बुभुत्समान इत्यर्थः।

मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥ ३७ ॥

मैत्रेय उवाच—नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।

एप ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥ ३८ ॥

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथागतम् ।

किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि आरण्यकपर्वणि मैत्रेयशापे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

समाप्तं च आरण्यकपर्व ॥

विदुर जी किर्मीर के मारे जाने का सब वृत्तान्त कहेंगे । यह कहकर मैत्रेय जी तो चले गये और दुर्योधन किर्मीर दैत्य का वध सुनकर व्याकुल हो कर बाहर को चला गया ॥३७।३९॥

वनपर्व का दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

अथ किर्मीरवधपर्व ।

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—किर्मीरस्य वधं क्षत्तः ! श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।

रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत्समागमः ॥ १ ॥

विदुर उवाच—शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुपकर्मणः ।

श्रुतपूर्वं मया, *तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥ २ ॥

इतः प्रयाता राजेन्द्र ! पाण्डवाद्यूतनिर्जिताः ।

जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद्वनं ॥ ३ ॥

रात्रौ निशीथे× स्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप ! ।

ग्यारहवां अध्याय ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा–हे विदुर ! भीमसेन के साथ किर्मीर राक्षस का युद्ध किस तरह हुआ ? भीमसेन ने किस तरह उस राक्षस को मारा ? यह वृत्तान्त सुनने की मुझे बड़ी इच्छा है । विदुर ने कहा–हे राजन् ! उस अमानुष कर्म करनेवाले भीमसेन के कार्यों का वर्णन प्रायः कथाओं के प्रसङ्ग में हुआ करता है । इसी तरह मैंने कथा के प्रसङ्ग में यह किर्मीर-वध सम्बन्धी भीमसेन का काम सुना है । सुनिए–पाण्डव लोग जुए में हारकर, यहां से चलकर, तीन दिन और तीन रात चलते-चलते, भयानक आधी रात के समय–मनुष्यों के मांस और लोहू को खाने पीनेवाले क्रूर-कर्मा राक्षसों के रहने के स्थान-काम्यक वन में पहुँचे ॥१।३॥

सब वनचारी और तापस लोग राक्षसों के भय

*तेषां कथान्तेषु-पाण्डवानां कथाप्रसंगेषु । ×स्वाभीले भयानक ।

॥ ४ ॥
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ।
तद्वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ॥ ५ ॥
दूरात्परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात्किल ।
तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत ! ॥ ६ ॥
दीप्ताक्षं भीषणं रक्ष सोल्मुकं प्रत्यपद्यत
बाहू महान्तौ कृत्वा च तथाऽऽस्यं च भयानकम् । ॥ ७ ॥
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ।
स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ॥ ८ ॥
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ।
सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ॥ ९ ॥
मुञ्चन्तं विपुलान्नादान्सतोयमिव तोयदम् ।
तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतो दिशम् ॥ १० ॥
विमुक्तनादाः संपेतुः स्थलजाः जलजैः सह ।
संप्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ॥ ११ ॥
तद्वनं तस्य नादेन संप्रस्थितमिवाभवत् ।
तस्योरुवाताभिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः ॥ १२ ॥
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् ॥ १२ ॥

से उस वन को दूर से ही छोड़ जाते थे । पाण्डव लोग उसी वन में प्रवेश करने लगे । इसी समय उन्होंने देखा, कि चमकती हुई आँखोंवाला एक राक्षस हाथ में जलती हुई मशाल लिये, दोनों हाथ फैलाये, राह रोके, उनके सामने चला आ रहा है । उसका मुख भयानक है । उसकी आठों लम्बी-लम्बी श्वेत दाढ़ें दिल दहला देनेवाली हैं । आँखें तांबे के रङ्ग की हैं । खड़े हुए सिर के बाल चमक रहे हैं । वह सूर्य की किरणों से रञ्जित, बिजली और बगलों से शोभित, काले बादल के समान जान पड़ता है । पाण्डवों के सामने आते ही राक्षसी माया फैलाकर वह वर्षाकाल के बादलों के समान भयानक शब्द करके गरजने लगा ॥४।९॥

उसके भयानक शब्द से सब बनवासी पक्षी डर गये और जलचारी जीव भयभीत होकर अपनी-अपनी बोली में आर्त्त शब्द करने लगे । उस समय मृग, भैंसे, शेर, रीछ आदि जीवों के इधर से उधर और उधर से इधर भागने के कारण से, वह वन ऐसा दीखने लगा, मानों वन चलता है । और उस वन के लाल लाल पत्ते रखनेवाले वृक्ष, जो दूर-दूर पर भी थे, उस राक्षस की आँधी के चलने की हवा से उखड़-उखड़ कर दूसरे वृक्षों पर जा-जा पड़े । उसी समय

तस्मिन्क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ॥ १३ ॥
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।
पञ्चानामिन्द्रियार्थानां शोकावेश इवातुलः ॥ १४ ॥
स दृष्ट्वा पाण्डवान्दूरात्कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोत्तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ॥ १५ ॥
तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥ १६ ॥
दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाऽऽकुलतां गता ॥ १७ ॥
मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ॥ १८ ॥
अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान् ॥ १९ ॥
स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ।

उस वन में वायु बड़े वेग से चलने लगी, जिसके कारण से आकाशमण्डल में धूल छा गई और चारों ओर अँधेरा हो गया ॥१०।१३॥

पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ जिस तरह, अपने शत्रुशोक के वेग को नहीं जान सकतीं, उसी तरह पांचों पाण्डव उस राक्षस को नहीं जानते थे, कि वह उनका परम शत्रु है । काली मृगछाला पहने हुए पाण्डवों को दूर से देखकर, मैनाक पर्वत के समान, उस राक्षस ने वन के द्वार को रोक लिया । और द्रौपदी पहले कभी किसी दैत्य को न देखने के कारण से भयभीत हो गई, और उसने अपनी दोनों आंखें बन्द कर लीं । उस समय यह द्रौपदी जिसके बाल बिखरे हुए थे, उन पांचों पाण्डवों के बीच में इस प्रकार से व्याकुल हो गई, मानों पाँच पहाड़ों के बीच में होकर, नदी व्याकुलता से बह रही है ॥१४।१७॥

पाण्डवों ने द्रौपदी को अचेत देखकर इस प्रकार से पकड़ लिया, जैसे विषयों में लगी हुई इन्द्रियां रति को ग्रहण करती हैं। उस समय धौम्य ऋषि ने राक्षसों को नाश करनेवाले मन्त्रों से उस राक्षस की सब माया पाण्डवों के देखते-देखते दूर कर दी, और वह राक्षस माया के नष्ट होने पर नेत्र फाड़े हुए काल के समान दीखने लगा । अब युधिष्ठिर ने उस से कहा—आप कौन हो ? और किस के पुत्र हो ? हम आपका क्या कार्य करें ? यह सुन-

कामसूर्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत ॥ २० ॥
तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ।
को भवान्कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम् ॥ २१ ॥
प्रत्युवाचाऽथ तद्रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः ॥ २२ ॥
वनेऽस्मिन्काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ।
युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ॥ २३ ॥
के यूयमभिसंप्राप्ता भक्ष्यभूता ममाऽन्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान्भक्षयिष्ये गतज्वरः ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ! ॥ २५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥ २६ ॥
हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥ २७ ॥
विदुर उवाच—किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ॥ २८ ॥
भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।

कर दैत्य ने कहा—मैं किर्मीर नाम का दैत्य बकासुर का भाई हूँ और इस काम्यक वन में निर्भय रहता हूँ और आये हुए मनुष्यों को युद्ध में जीतकर भक्षण किया करता हूँ। तुम बताओ कौन हो? तुम सब को अब मैं जीतकर भक्षण करूँगा ॥१८।२४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर उस दुरात्मा दैत्य की बात को सुनकर उसे अपना गोत्र और नाम बताने लगे, कि मैं पाण्डु का पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर हूँ और ये चारों भीमसेन अर्जुन, नकुल, सहदेव नाम के मेरे भाई हैं। शायद तुमने मेरा नाम सुना होगा। इस समय राज्य छिन जाने से बनवास का विचार करके, मैं तुम्हारे निवास-स्थान इस घोर वन में आया हूँ। यह सुनकर उस राक्षस ने कहा—देवताओं की कृपा और मेरे भाग्य से आज मुझे इच्छा के अनुसार भोजन मिला है। ॥२५।२८॥

मैं भीमसेन को मारने की इच्छा से शस्त्र लिये हुए बहुत दिनों से उसे ढूँढता फिरता हूँ। परन्तु मुझे

चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनं चाऽऽसादयाम्यहम् ॥ २९ ॥
सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा काङ्क्षितश्चिरम्।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ॥ ३० ॥
वैत्रकीयवने राजन् ! ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ॥ ३१ ॥
हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनाऽनेन स्वसा चाऽस्य हृता पुरा ॥ ३२ ॥
सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे स्थिते समे ॥ ३३ ॥
अद्याऽस्य पातयिष्यामि तद्वैरं चिरसंभृतम् ।
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ॥ ३४ ॥
अद्याऽहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ॥ ३५ ॥
यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ! ॥ ३६ ॥
एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।
संभक्ष्य जरयिष्यामि यथाऽगस्त्यो महासुरम् ॥ ३७ ॥
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ।
नैतदस्तीति संक्रुद्धो भर्त्सयामास राक्षसम् ॥ ३८ ॥

यह कहीं नहीं मिला। आज दैवयोग से मिला है। इसी ने मेरे प्यारे भाई बक को वैत्रकीय वन में कपट रूप ब्राह्मण के वेष से विद्याबल के द्वारा मारा था। इसी भीमसेन ने पहले मेरे हिडिम्ब नाम के मित्र को मारा था और उसकी बहन [illegible] ली थी। आहा! आज यह वही भीमसेन मेरे इस गहन वन में आधी रात को मेरे यहाँ होते हुए आया है ॥२९।३३॥

अब मैं इससे अपना पुराना वैर लेकर इसके लोहू से बक दैत्य को तृप्त करूँगा और इस राक्षसों के काँटे को उखाड़ कर अपने भाई और मित्र से अऋण होकर बैठूँगा। हे युधिष्ठिर! पहले यह भीमसेन बकासुर के हाथ से बच गया था, अब मैं इसे मारकर तुम्हारे सामने भक्षण करूँगा और इस प्रकार से इसको पचाऊँगा, जैसे अगस्त्य जी ने बड़े दैत्य वातापि को पचाया था ॥३४।३७॥

महात्मा युधिष्ठिर किर्मीर की ये बातें सुनकर

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।
दशव्याममथोद्विद्ध निष्पत्रमकरोत्तदा ॥ ३९ ॥
चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ॥ ४० ॥
निवार्य भीमो जिष्णुं तं तद्रक्षो मेघनिःस्वनम् ।
अभिद्रुत्याऽब्रवीद्वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ! ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वैनमभिक्रुद्धः कक्षामुत्पीड्य पाण्डवः ।
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो वली ॥ ४२ ॥
तमभ्यधावद्वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ।
यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ॥ ४३ ॥
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ।
आसंभ्रान्तं तु तद्रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥
चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ।
तदुदस्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ॥ ४५ ॥
पदा सव्येन चिक्षेप तद्रक्षः पुनराव्रजत् ।
किर्मीरश्चाऽपि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ॥ ४६ ॥
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत ।

बहुत ही क्रोधित हुए और उस डाँटकर कहने लगे—अरे मूढ़ ! तेरी यह इच्छा कभी पूरी न होगी । उसी समय महाबाहु भीमसेन ने एक बड़ा पेड़ उखाड़ लिया और उसके पत्ते नोच डाले और अर्जुन ने गाण्डीव धनुष हाथ में लेकर एक पल भर में चलाने के योग्य कर लिया । उस समय भीमसेन ने अर्जुन को रोक दिया और उस मेघ के समान गरजते हुए राक्षस के सम्मुख जाकर कहने लगा, कि "ठहर जा, ठहर जा" और क्रोध से दांत पीसकर और कमर को बाँधकर हाथ मलता हुआ दौड़ा और यमराज के दण्ड के समान अपने उस वृक्ष रूपी शस्त्र को उस राक्षस के सिर पर इस प्रकार से मारा, मानों इन्द्र ने वज्र मारा है । उसके लगने से वह राक्षस संभ्रान्त सा हो गया ॥३८।४४॥

अब क्रोध से भरे हुए उस किर्मीर ने प्रज्वलित वज्र के समान जलती हुई उल्मुक अर्थात् मशाल भीमसेन पर चलाई । महाबलि भीमसेन ने खेल की तरह उस जलती मशाल को बायें पाँव से पकड़ कर उसी राक्षस के ऊपर फेंक दिया । उस समय उस दैत्य ने भी अकस्मात् एक वृक्ष उखाड़ लिया और क्रोधित होकर यमराज के समान भीमसेन पर दौड़ा । उन दोनों में युद्ध इस प्रकार से होने लगा, जैसे पूर्व

तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ॥ ४७ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकाङ्क्षिणोः पुरा ।
शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ॥ ४८ ॥
यथैवोत्पलमालानि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ।
मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ॥ ४९ ॥
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ।
तद्वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ ! ।
राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५० ॥
ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद्राक्षसः क्रुद्धो भीमश्च न चचाल ह ॥ ५१ ॥
तं शिलाताडनजडं पर्यधावत राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ५२ ॥
तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५३ ॥
तयोरासीत्सुतुमुलः संप्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५४ ॥
दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।

समय में तारा नाम स्त्री के पीछे वाली और सुग्रीव नामी दोनों भाइयों का युद्ध हुआ था। उन दोनों के वृक्षों से युद्ध करने के कारण से उस पृथ्वी के सब वृक्ष नाश हो गये और दोनों के सिरों पर लग-लग कर टुकड़े टुकड़े हो गये ॥४५।४८॥

जैसे दो मतवाले हाथियों के चरने से कमलों के बन के बन नाश हो जाते हैं, इसी प्रकार से उन दोनों नरोत्तम भीमसेन और राक्षसोत्तम किर्मीर के युद्ध से उस वन के वृक्ष मूञ्ज के समान तार-तार हो गये और बहुत से वृक्षों के बकले उतर-उतर कर गिर पड़े। एक मुहूर्त तक तो उन दोनों का युद्ध वृक्षों से हुआ। उपरान्त राक्षस ने एक बड़ी भारी शिला उठा कर भीमसेन पर चलाई, परन्तु भीमसेन अचल खड़ा रहा। तब राहु जैसे मुँह फैला-कर सूर्य को ग्रसने के लिये दौड़ता है, वैसे ही वह राक्षस दोनों हाथ फैलाकर भीमसेन को पकड़ने के लिये चला ॥४९।५२॥

जैसे दो साड लड़ते हों, वैसे दोनों वीर परस्पर लिपटकर और खींचकर भिड़ गये। बड़े बड़े नाखून और दाढ़ें ही जिनके शस्त्र हैं, उन प्रचण्ड दो व्याघ्रों की तरह वे भयङ्कर युद्ध कर रहे थे। सभा में बुला-कर दुर्योधन ने जो द्रौपदी का अपमान किया था,

	॥ ५५ ॥
कृष्णाकटाक्षदृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः	।
अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः	॥ ५६ ॥
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम्	।
स चाऽप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान्	॥ ५७ ॥
तमाक्षिपद्भीमसेनो बलेन बलिनां वरः	।
तयोर्भुजाविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा	॥ ५८ ॥
शब्दः समभवद्धोरो वेणुस्फोटसमो युधि	।
अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः	॥ ५९ ॥
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम्	।
स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिनो रणे	॥ ६० ॥
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम्	।
तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः	॥ ६१ ॥
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा	।
विनदन्तं महानादं भिन्न भेरीस्वनं बली	॥ ६२ ॥
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम्	।
तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः	॥ ६३ ॥
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत्	

उससे बाहुबल का अभिमान रखनेवाले भीमसेन बहुत ही कुपित थे। हाथी जैसे सूँड उठाकर दूसरे गजराज पर झपटता है, वैसे कुपित भीमसेन ने हाथों मे उस राक्षस को पकड़ लिया। राक्षस ने भी पहले से अधिक पराक्रम दिखाकर भीमसेन को पकड़ा। भीमसेन ने उसी दम उसे दूर पटक दिया। जैसे बाम फटता है, वैसे ही दोनों वीरों के बाहुप्रहार से घोर शब्द होने लगा। तब भीमसेन ने आक्रमण करके राक्षस की कमर पकड़ ली और वे उसे इस तरह घुमाने लगे जैसे आंधी से पेड़ हिले। अब वह राक्षस भीमसेन के भयङ्कर आक्रमण से निर्बल होकर काँपने और यथाशक्ति भीमसेन को खींचने लगा। भीमसेन ने जब उस राक्षस को बहुत ही निर्बल और थका हुआ पाया, तब उसको भुजाओं के बन्धन में इस तरह बांध लिया, जिस तरह कोई पशु को बांधता है ॥५३।६१॥

तब बहुत ही हीनबल होकर, वह राक्षस फटे हुए नगाड़े का सा विकट शब्द करने लगा। भीमसेन उसे ऊपर उठाकर घुमाने लगे। इस प्रकार से राक्षस के विवश और अचेत होने पर, भीमसेन ने उस पर ऐसे आक्रमण किया, जैसे सिंह किसी मृग पर झपटे। भीमसेन ने उसकी कमर पर घुटना

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीडयामास पाणिभ्यां तस्य कण्ठं वृकोदरः ॥ ६४ ॥
अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६५ ॥
हिडिम्बबकयोः पाप ! न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चासि यमस्य सदनं प्रति ॥ ६६ ॥
इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तं राक्षसं क्रोधपरीत-चेताः ।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्तमुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ६७ ॥
तस्मिन्हते तोयदतुल्यरूपे कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः।
भीमं प्रशस्याऽथ गुणैरनेकैर्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥ ६८ ॥
विदुर उवाच—एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ! ।
भीमेन वचनात्तस्य धर्मराजस्य कौरव ! ॥ ६९ ॥
ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥ ७० ॥
समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥ ७१ ॥
भीमबाहुबलात्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः ।

रखकर दोनों हाथों से उसका गला दबा दिया। इससे उसके सब अङ्ग ढीले पड़ गये, बड़ी बड़ी आँखें बाहर निकल आईं। तब उसे पृथ्वी पर घसीट कर भीमसेन कहने लगे और पापी ! तू हिडिम्ब और बकासुर के आंसू नहीं पोंछ सकेगा। अब तू स्वयं यमराज के यहां जाने की तैयारी कर। क्रोध में भरे हुए पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन ने इस तरह कहकर उस राक्षस को मार डाला। उसके कपड़े और गहने इधर-उधर बिखर गये, वह मरते समय व्याकुल हो कर छटपटाने लगा। इस तरह निर्जीव जानकर भीमसेन ने उस राक्षस को छोड़ दिया। बादल के से रङ्गवाले उस राक्षस के मरने पर, युधिष्ठिर आदि राजपुत्र भीमसेन की प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् पाँचों पाण्डव द्रौपदी को आगे करके द्वैतवन की ओर चले ॥६२।६८॥

इतनी कथा सुनाकर विदुर जी ने कहा—हे राजा धृतराष्ट्र ! युधिष्ठिर की आज्ञा से भीमसेन ने इस प्रकार किर्मीर राक्षस को मारा था। इस प्रकार से वन के निष्कण्टक होने पर पाण्डव लोग द्रौपदी को दिलासा देने और भीमसेन की प्रशंसा करने के उपरान्त द्वैतवन में रहने का विचार करके विघ्नों से रहित मङ्गलमय वन के भीतर घुसे। हे कौरवश्रेष्ठ ! जब

विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ७२ ॥
स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः ।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥ ७३ ॥
तत्राऽश्रौपमहं चैतत्कर्म भीमस्य भारत ! ।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्राऽऽसन्समागताः ॥ ७४ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम् ।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासाऽऽर्तवत्तदा ॥ ७५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि किर्मीरवधपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्याय ॥ ११ ॥
समाप्तं च किर्मीरवधपर्व ।

मैं पाण्डवों के पास गया था, तब राह में मैंने भी उस दैत्य को मरा हुआ पड़ा देखा था। और वहां पर जो ब्राह्मण लोग इकट्ठे हुए थे, उन्हीं के मुख से मैंने यह भीमसेन के युद्ध का हाल सुना था। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! अन्धे राजा धृतराष्ट्र भीमसेन के हाथों से किर्मीर दैत्य का वध सुनकर, दु खी हुए और चिन्ता करके श्वास लेने लगे ॥६९।७५॥

वनपर्व का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथ अर्जुनाभिगमनपर्व ।

अथ द्वादशोऽध्याय. ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच–भोजाः प्रव्रजिताञ्छ्रुत्वा वृष्णयश्चाऽन्धकैः सह ।
पाण्डवान्दुःखसंतप्तान्समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥
पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥ २ ॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान्क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान्किं कुर्म इति चाऽब्रुवन् ॥ ३ ॥
वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।

बारहवां अध्याय ॥ १२ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! पाण्डवों के वनवास और क्लेश का हाल सुनकर भोज, अन्धक और वृष्णि वंश के यादव, राजा द्रुपद के पुत्र, चेदि देश के राजा धृष्टकेतु और बड़े पराक्रमी पाचों भाई कैकेय उस महावन में पाण्डवों के पास आये। दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों की निन्दा और "क्या करना चाहिए !" इस बात का आन्दोलन करते हुए, सब लोग श्रीकृष्ण जी को आगे

परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

वासुदेव उवाच—दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ५ ॥
एतान्निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः ।
तांश्च सर्वान्विनिर्जित्य सहितान्सनराधिपान् ॥ ६ ॥
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन्वध्य एष धर्मः सनातनः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ८ ॥
संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः ।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ॥ ९ ॥
पुरुषस्याऽप्रमेयस्य सत्यस्याऽमिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच—दश वर्षसहस्राणि यत्र सायंगृहो मुनिः ।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण ! पर्वते गन्धमादने ॥ ११ ॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।

करके युधिष्ठिर के पास पहुँचे और उनके चारों ओर बैठ गये ॥१।४॥

उस समय श्रीकृष्ण ने व्याकुल होकर युधिष्ठिर से कहा-इस में कोई सन्देह नहीं, कि यह पृथ्वी पापी दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन, इन चारों दुरात्माओं का लोहू पियेगी। हम सब लोग मिलकर उन चारों दुराचारियों को और उनके साथी राजाओं को युद्ध में जीतकर मारेंगे और तुम्हारा (धर्मराज युधिष्ठिर का) अभिषेक करेंगे। छल करनेवाले दुरात्माओं को मार डालना ही सनातन धर्म है ॥५।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! उस समय श्रीकृष्ण जी को पाण्डवों के दुःख के कारण से क्रोधित देखकर, अर्जुन श्रीकृष्ण जी के क्रोध को शान्त करने के लिये उनके पूर्व जन्मों में किये हुए कर्मों का कीर्तन करने लगा—ये श्रीकृष्ण अप्रमेय, सत्यरूप, बड़े तेजस्वी, प्रजापति के स्वामी विष्णु, लोकनाथ और ज्ञानरूप थे। अर्जुन कहने लगा—हे श्रीकृष्ण जी ! पूर्व समय में आप मुनिरूप से गन्धमादन पर्वत पर दस हज़ार वर्ष तक इस प्रकार से विचरा करते थे, कि जहां सन्ध्या हो जाती थी, वहीं आप अपना घर समझते थे। फिर आप पुष्कर जी

पुष्करेष्ववसः कृष्ण ! त्वमपो भक्षयन्पुरा ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन ! ।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥ १३ ॥
अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसन्ततः ।
आसीः कृष्ण ! सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ १४ ॥
प्रभासमप्यथाऽऽसाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम् ।
तथा कृष्ण ! महातेजा ! दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
आतिष्ठस्त्वं यथैकेन पादेन नियमास्थितः ॥ १५ ॥
लोकप्रवृत्तिहेतोस्त्वमिति व्यासो ममाऽब्रवीत् ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ! ॥ १६ ॥
निधानं तपसां कृष्ण ! यज्ञस्त्वं च सनातनः ।
निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
प्रथमोत्पादितं कृष्ण ! मेध्यमश्वमवासृजः ॥ १७ ॥
कृत्वा* तत्कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान्समेतान्दैत्यदानवान् ॥ १८ ॥
ततः सर्वेश्वरत्वं च संप्रदाय शचीपतेः ।

में ग्यारह हज़ार वर्ष तक केवल जल पीकर रहे॥८।१२॥

इसके पश्चात् आपने एक पाव से खड़े होकर, बदरिकाश्रम में सौ वर्ष तक ऊपर को हाथ किये हुए केवल वायुभक्षी रहकर तपस्या की। हे श्रीकृष्ण! फिर आपने सरस्वती नदी के किनारे बारह वर्ष के यज्ञ में अपने शरीर को लटकाकर और निर्मांस करके, उत्तरीय वस्त्र त्यागकर तपस्या की। उपरान्त आपने प्रभास नाम तीर्थ में नियमपूर्वक एक पाँव से खड़े रहकर, हज़ार वर्ष तक तपस्या की। हमने व्यास जी के मुख से सुना है, कि आप ही लोकसञ्चालन के लिये एकमात्र कारण हैं। हे श्रीकृष्ण जी! आप क्षेत्रज्ञ और सब तत्त्वों तथा प्राणियों के आदि भी हैं, अन्त भी हैं। हे श्रीकृष्ण! आप तपस्या के आधार और नित्य-यज्ञस्वरूप हैं। हे अच्युत! आपने भूमिपुत्र नरकासुर को मार करके मणिमय कुण्डलों को ग्रहण किया है और प्राथमिक पवित्र अश्व की सृष्टि की है॥१३।१७॥

आप तीनों लोकों में सब से श्रेष्ठ और सब लोकों को जय करनेवाले हैं। आपने इन सब कार्यों को पूरा करने के पश्चात, युद्ध में दुष्ट दानवों को मारकर, इन्द्र को सबका ईश्वर बनाया है। हे महाबाहो! आप शरीर धारण कर मनुष्यलोक में भी प्रकट हुए हैं। हे परन्तप! तुम्हीं नारायण हो, तुम्हीं

* भूतादरकारेण प्रथमेन अश्वोत्सर्गरूप कर्म कृत्वा इत्यर्थः ।

मानुषेषु महाबाहो ! प्रादुर्भूतोऽसि केशव ! ॥ १९ ॥
स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परन्तप ! ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥ २० ॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ! ॥ २१ ॥
परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन ! ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण ! चैत्ररथे वने ॥ २२ ॥
शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ! ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि दत्तवान् ॥ २३ ॥
अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ! ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ॥ २४ ॥
शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परन्तप ! ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण ! क्रान्तवानसि तेजसा ॥ २५ ॥
संप्राप्य दिवमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् ! भास्करं स्वेन तेजसा ॥ २६ ॥
प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ! ।
अधर्मरुचयः कृष्ण ! निहताः शतशोऽसुराः ॥ २७ ॥

हरि हो, तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं चन्द्रमा हो, तुम्हीं सूर्य हो, तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं धाता हो, तुम्हीं यम हो, तुम्हीं अग्नि हो, तुम्हीं वायु हो, तुम्हीं कुबेर हो, तुम्हीं रुद्र हो, तुम्हीं काल हो, तुम्हीं आकाश हो, तुम्हीं पृथ्वी हो, तुम्हीं दस दिशा हो, तुम्हीं अज हो, तुम्हीं चर अचर के गुरु हो, और तुम्हीं स्रष्टा अर्थात् दक्ष प्रजापति आदि सृष्टि के करनेवाले हो ॥१८।२१॥

हे मधुसूदन ! तुम्हीं ने चैत्ररथ वन में अनेक यज्ञ करके देवताओं की पूजा की है। हे जनार्दन! तुम्हीं ने यथायोग्य भाग के अनुसार प्रत्येक यज्ञ में शत-सहस्र सुवर्ण दक्षिणा में दिये हैं। हे यादव-नन्दन ! तुम्हीं अदिति के गर्भ से जन्म लेकर इन्द्र के छोटे भाई विष्णु कहलाये हो। हे शत्रु-दमन ! तुम्हीं ने वामन स्वरूप धारण कर स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी को अपने तेज से तीन पग में अन्तर्गत कर लिया है। तुम्हीं ने स्वर्ग और आकाश को प्राप्त करके सूर्यलोक में सूर्यमण्डल को अपने तेज से सुशोभित किया है ॥२२।२६॥

तुम्हीं ने हजारों अवतार लेकर सैकड़ों दैत्यों का, जो अधर्मी थे, नाश किया। तुम्हीं ने तांत की बनी हुई पाशों को काटकर, निसुंद और नरक

सादिता मौरवाः* पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ २८ ॥
जारूथ्यामाहृतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासन्धश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥ २९ ॥
तथा पर्जन्यघोषेण रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥ ३० ॥
इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद्यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ॥ ३१ ॥
एवमेते युधि हता भूयश्चाऽन्याञ्छृणुष्व ह ।
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ।
गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ॥ ३२ ॥
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ! ।
द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ॥ ३३ ॥
न क्रोधो न च मात्सर्यं नाऽनृतं मधुसूदन ! ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह ! न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ॥ ३४ ॥
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।

नाम के दैत्यों को मारा और प्राग्ज्योतिष नाम नगर की राह निष्कंटक कर दी । तुम्हीं ने जारूथी नाम की नगरी में आहृति, क्राथ, शिशुपाल, जरासंध, शैव्य, और शतधन्वा आदिकों को विजय किया था ॥२७।२९॥

मेघ के समान शब्द और सूर्य के समान प्रकाश-वाले रथ पर चढ़कर, समर में रुक्मी को हराकर, तुम्हीं ने भोजराज–कुमारी रुक्मिणी को अपनी स्त्री बनाया है । तुम्हीं ने क्रोधित होकर कसेरुमान्, यवन, इन्द्रद्युम्न, सौभपति शाल्व और सौभ विमान को नष्ट किया था । तुम्हीं ने इरावती नगरी में सहस्रबाहु अर्जुन के समान वीर्यशाली भोजराज, तालकेतु और गोपति को मारा था । तुम्हीं ने इस द्वारकापुरी को, जो भोगवती, पुण्यस्थान और ऋषिक पर्वत के समीप बसती है, अपनी आत्मा के स्वरूप में मिला लिया है और वह समुद्र में ही लोप हो जायगी । तुम क्रोधी, झूठे, निर्दयी और कुटिल नहीं हो ॥३०।३४॥

ऋषि लोग अपने हृदय में अपने तेज से दीप्त और विराजमान् तुमको ध्यान करके, अभय रहते

* 'मुर वेष्टने' धातोरौणादिक उक्प्रत्यये तत इदमर्थे ताद्धितोऽणप्रत्यय.। मौरवा आन्वनन्ति-मया इत्यर्थः । मोर्वीशब्दे ऽप्येवं बोध्यम् । मध्यमस्वरलोपो विशेषः ।

आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताऽभयमच्युत ! ॥ ३५ ॥
युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ! ।
आत्मनैवाऽऽत्मसात्कृत्वा जगदासीः परन्तप ! ॥ ३६ ॥
युगादौ तव वार्ष्णेय ! नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ॥ ३७ ॥
तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ॥ ३८ ॥
ललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ॥ ३९ ॥
त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ।
तथा नारायण ! पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ४० ॥
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण ! चैत्ररथे वने ।
नैवं पूर्वे नाऽपरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ॥ ४१ ॥
यानि कर्माणि देव ! त्वं बाल एव महाबलः ।
कृतवान्पुण्डरीकाक्ष ! बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ॥ ४२ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।

हैं। हे मधुसूदन ! तुम्हीं युग के अन्त में बिना निमित्त सब जीवों को अपनी आत्मा में लय करके, जगत् स्वरूप हो जाते हो और युग के आदि में तुम्हारी ही नाभि में उत्पन्न हुए कमल से ब्रह्मा जी, जो सब जगत् के कर्त्ता और सब जड़ और चैतन्य के गुरु हैं, प्रकट होते हैं। मधु और कैटभ नाम के दोनों मदान्ध असुर, जब ब्रह्मा को मारने के लिये उद्यत हुए थे, तब उनके इस दुर्भाव को देखकर तुम्हें क्रोध चढ़ आया था और तुमने अपने ललाट से शूलपाणि त्रिलोचन शम्भु को उत्पन्न किया था। महर्षि नारद ने मुझसे कहा है, कि तुम्हारे कार्यों को सिद्ध करने के लिये ब्रह्मा और शम्भु दोनों इसी तरह तुम्हारे शरीर से उत्पन्न हुए हैं ॥३५।३९॥

हे श्रीकृष्ण ! तुम्हीं ने पूर्व समय में चैत्ररथ वन में महासत्र यज्ञ किया था, जिसमें बड़ी बड़ी दक्षिणाएँ दी गई थीं। ऐसा यज्ञ देवता और मनुष्यों में कोई नहीं कर सकता है। बाल्यावस्था में भी तुमने बलदेव जी की सहायता से बड़े बड़े अद्भुत काम किये थे। तुम कैलास भवन में भी ब्राह्मणों के साथ रहते रहे हो ॥४०।४२॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! अर्जुन उक्त प्रकार से श्रीकृष्ण जी की स्तुति करके चुप

तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ ४३ ॥
ममैव त्वं तवैवाऽहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ ४४ ॥
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष ! हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥ ४५ ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाऽहं तथैव च ।
नाऽऽवयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ! ॥ ४६ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना ।
तस्मिन्वीर-समावाये संरब्धेष्वथ राजसु ॥ ४७ ॥
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह ॥ ४८ ॥
अभिगम्याऽब्रवीत्क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ।
द्रौपद्युवाच—पूर्वे प्रजाऽभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम् ॥ ४९ ॥
स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत् ।
विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष ! त्वं यज्ञो मधुसूदन ! ॥ ५० ॥
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाऽब्रवीत् ।
ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ! ।

हो रहा। उस समय श्रीकृष्ण जी कहने लगे—हे अर्जुन ! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो कुछ मेरा है उसपर तुम्हारा अधिकार है। जो लोग तुमसे शत्रुता या मित्रता रखते हैं, वे मेरे भी शत्रु और मित्र हैं। तुम नर हो, मैं नारायण हूँ। हम देवकार्य के कारण नर और नारायण ऋषि के रूप से मनुष्य-लोक में प्रकट हुए हैं। हम में परस्पर कुछ भी भेद नहीं है। हमारे अन्त को भी कोई नहीं जान सकता ॥४३।४६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण जी की बात को सुनकर वह द्रौपदी, जो क्रोध में भरी हुई अपने वीर भाइयों के बीच में बैठी हुई थी, शरण जाने की इच्छा से श्रीकृष्ण जी के पास, जो शरण के योग्य थे, गई और कहने लगी—हे श्रीकृष्ण ! मैंने असित और देवल ऋषियों के मुख से सुना है, कि आप प्रजापति प्रथम पुरुष और जगत्-कर्त्ता हैं। हे मधुसूदन ! परशुराम जी ने आप को विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी, यज्ञ, यज्ञ का करनेवाला और पूजन योग्य कहा है। हे पुरुषोत्तम ! कश्यप जी आप को क्षमा, सत्य और सत्य से उत्पन्न यज्ञ कहते हैं। मैंने नारद जी से सुना है, कि आप आकाश आदि पांचों तत्त्व के उत्पन्न करनेवाले और

सत्याद्यज्ञोऽसि संभूतः कश्यपस्त्वां यथाऽब्रवीत् ॥ ५१ ॥
साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ! ।
भूतभावन ! भूतेश ! यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ५२ ॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र ! बालः क्रीडनकैरिव ॥ ५३ ॥
द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ! ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५४ ॥
विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ॥ ५५ ॥
राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ! ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ॥ ५६ ॥
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५७ ॥
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो ! लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥
सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ! ।

सब प्राणी, साध्यगण, देवता और ग्यारह रुद्रों के भी ईश्वर हैं ॥४७।५२॥

हे पुरुषसिंह ! आप ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्र आदि देवताओं को उत्पन्न करके इस प्रकार से उनके साथ क्रीडा करते हैं, जैसे बालक खिलौनों से खेलता है । आप सनातन हैं । आपके मस्तक से सारा स्वर्ग और दोनों पैरों से पृथ्वी व्याप्त है । सब चराचर जगत आपके पेट में है । जो ऋषि विद्यावान् तपस्वी शुद्ध-चित्त और आत्मदर्शी हैं, उनके निकट आपही सत्य हैं । आप पुण्यकर्म करनेवाले, युद्ध में न रुकनेवाले, सब धर्मों के ज्ञाता और प्रतिपालक, राजर्षियों के अद्वितीय आश्रय हैं । आप प्रभु, विभु, भूतात्मा और सर्वत्र विचरणशील हैं ॥५३।५६॥

लोकपाल, सब लोक, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य सब आप ही के अन्तर्गत हैं । और सब देवताओं का अमर होना, मनुष्यों का मरना और सब लोकों का कार्य होना, आप ही की इच्छा के अनुसार है । हे कृष्ण ! आप दिव्य और मानुष, सभी प्राणियों के ईश्वर हैं । इसलिये स्नेहवश मैं आपसे अपना दुःख कहती हूँ । मैं धृष्टद्युम्न की बहन पाण्डवों की भार्या और आपकी स्नेह-पात्र होकर भी भरी सभा में खींचकर लाई गई ।

ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ५९ ॥
कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण ! सखी विभो ! ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ? ॥ ६० ॥
स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता ।
एकवस्त्रा विकृष्टाऽस्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥ ६१ ॥
राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसाऽतिपरिप्लुता ।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्राः प्राहसन्पापचेतसः ॥ ६२ ॥
दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन ! ।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेषु च वृष्णिषु ॥ ६३ ॥
नन्वहं कृष्ण ! भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साऽहं दासीकृता बलात् ॥ ६४ ॥
गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान्महाबलान् ।
यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ६५ ॥
धिग्बलं भीमसेनस्य धिक्पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ! ॥ ६६ ॥
शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।

क्या यह ठीक हुआ ? काँपती हुई, रजस्वला, केवल एक वस्त्र पहने और वस्त्र पर मासिक धर्म के रक्त के दाग रखनेवाली मुझको दुःशासन सहज ही सभा में राजाओं के बीच में खींच लाया। दुर्मति धृतराष्ट्र के पुत्र, मुझे उस दशा में देखकर, हँस पड़े ॥५७।६२॥

हे मधुसूदन ! पाञ्चाल, वृष्णि और पाण्डवों के जीते रहने भी दुष्टों ने दासीभाव से मेरा उपभोग करने की इच्छा प्रकट की। मैं धर्म के अनुसार धृतराष्ट्र और भीष्म की पुत्रवधू हूँ। तो भी दुष्ट दुःशासन आदि बलपूर्वक मुझे दासी बनाने के लिये उद्यत हुए ॥६३।६४॥

मैं इन पराक्रमी पाण्डवों की निन्दा करती हूँ। इन्होंने यशस्विनी धर्मपत्नी को इस प्रकार से कष्ट पाते और अपमानित होते देखकर भी उपेक्षा की। अर्जुन के इस गाण्डीव धनुष और भीमसेन के बल को धिक्कार है; क्योंकि दुष्टों के द्वारा मेरा अपमान होते देखकर भी इन्होंने उसे चुपचाप सह लिया। जो कोई थोड़ा सा भी पराक्रम रखता है वह भी अपनी स्त्री की रक्षा करता है। यह धर्म सनातन है और सत्पुरुषों ने सदैव से ऐसा ही किया है। क्योंकि स्त्री के रक्षित रहने पर सन्तान की रक्षा होती है और सन्तान के रक्षित रहने से अपनी आत्मा की रक्षा होती है। स्त्री पति की आत्मा कहलाती है,

यद्भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ॥ ६७ ॥
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ ६८ ॥
आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ॥ ६९ ॥
नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नाऽन्वपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ७० ॥
पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्याऽस्मि जनार्दन ! ॥ ७१ ॥
प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ ७२ ॥
कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण ! तादृशास्ते महारथाः ॥ ७३ ॥
नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥ ७४ ॥
अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।

क्योंकि पति स्त्री के उदर में पुत्ररूप से जन्म लेता है और स्त्री को भी पति की रक्षा करना इस विचार से उचित है, कि मेरा पति मेरे उदर में पुत्र रूप से जन्म लेगा ॥६५।६९॥

पाण्डव शरणागत को कभी विमुख नहीं करते, किन्तु मेरे शरणागत होने पर भी इन्होंने मेरी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। देखो, युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों द्वारा मेरे गर्भ से प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्त्ति, शतानीक, श्रुतकर्मा, ये पांच तेजस्वी और महाबली पुत्र उत्पन्न हुए हैं। इनके कारण से तो मेरी रक्षा करना पाण्डवों को अवश्य उचित था। यह प्रतिविन्ध्य युधिष्ठिर से, यह सुतसोम भीमसेन से, यह श्रुतकीर्त्ति अर्जुन से, यह शतानीक, नकुल से, और यह श्रुतकर्मा सहदेव से उत्पन्न हैं। हे श्रीकृष्ण जी! मेरे ये पांचों पुत्र प्रद्युम्न के समान महारथी हैं ॥७०।७३॥

धनुर्विद्या में इन पांचों का अभ्यास श्रेष्ठ है और शत्रु इनको नहीं जीत सकता है। परन्तु न जाने ये किसलिये दुर्बल दुर्योधन आदि के किये अपमान को सह रहे हैं! हाय! उन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने अधर्म से सब राज्य लेकर सब को दास कर लिया और मुझ रजस्वला एक वस्त्र पहने हुई को सभा में खींच ले गये। जिस गाण्डीव धनुष को अर्जुन, भीमसेन और आपके सिवा और कोई नहीं

सभायां परिकृष्टाऽहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥ ७५ ॥
नाऽधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्राऽर्जुन-भीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन! ॥ ७६ ॥
धिग्बलं भीमसेनस्य धिक्पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण! मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७७ ॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
तत्कालेन कृतं मन्ये न तु पौरुषवर्धनम् ॥ ७८ ॥
य एतानाक्षिपद्राष्ट्रात्सह मात्राऽविहिंसकान् ।
अधीयानान्पुरा बालान्व्रतस्थान्मधुसूदन! ॥ ७९ ॥
भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं संभृतं लोमहर्षणम् ॥ ८० ॥
तज्जीर्णमविकारेण सहाऽन्नेन जनार्दन! ।
सशेषत्वान्महाबाहो! भीमस्य पुरुषोत्तम! ॥ ८१ ॥
प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण! गङ्गायां प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ ८२ ॥
यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥

चढ़ा सकता है वह धनुष अब कहां गया! हे श्रीकृष्ण जी! भीमसेन के पराक्रम को और अर्जुन के पौरुष को धिक्कार है, क्योंकि दुरात्मा दुर्योधन, जिसे क्षणभर जीना न चाहिए था, अब तक जीता है ॥७४।७७॥

इसी दुष्ट ने इन पाण्डवों को बालकपन में, जब वे विद्या ही पढ़ते थे, माता-सहित देश से बाहर निकाल दिया था और इसी ने भोजन में कालकूट विष मिलाकर भीमसेन को खिलाया था। परन्तु आयुर्बल विशेष होने के कारण से, वह विष अन्न के साथ पच गया ॥७८।८१॥

इसके सिवा प्रमाण नामक जो एक बरगद का पेड़ गङ्गा-तट पर है, वहां विश्वास-पूर्वक बेखटके सोते हुए भीमसेन को बांधकर, उस दुष्ट ने जल में डुबा दिया और आप नगर को लौट पड़ा। महाबाहु भीम जब जागे, तब बन्धन तोड़कर, जल से निकलकर चले आये। उस पापी ने भीमसेन को निद्रा में तीक्ष्ण विषवाले सांपों से कटवाया; किन्तु उससे भी भीमसेन की मृत्यु नहीं हुई। जब भीमसेन की मूर्च्छा टूटी, तब भीमसेन ने उन सांपों को मार डाला और उस दुष्ट के प्यारे सारथी को उल्टे हाथ के थप्पड़ से मारा। इसके पश्चात् एक दिन

आशीविषैः कृष्णसर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाऽङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ ८४ ॥
प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान्सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चाऽस्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ८५ ॥
पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद्बालकान्वारणावते ।
शयानानार्यया सार्धं को नु तत्कर्तुमर्हति ? ॥ ८६ ॥
यत्राऽऽर्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
महद्व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥ ८७ ॥
हा ! हताऽस्मिकुतोन्वद्य भवेच्छान्तिरिहाऽनलात् ।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥ ८८ ॥
तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः ।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातृंश्चापि वृकोदरः ॥ ८९ ॥
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान्पततां वरः ।
तथैवाऽभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥ ९० ॥
आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च ।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥ ९१ ॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान् ।

वारणावत नगर में कुन्ती-सहित पांचों पाण्डव लाक्षा-गृह में सोये हुए थे, पापी दुर्योधन ने पाण्डवों को जलाने के विचार से पुरोचन के हाथों उसमें आग लगवा दी। हे मधुसूदन ! कौन पुरुष ऐसा घृणित कर्म कर सकता है ? ॥८२।८६॥

कुन्ती माता उस आग को देख अपने को सङ्कट में पड़ी हुई जानकर व्याकुल हृदय से 'हाय मुझे मार डाला' कहकर रोने लगी। वह कहने लगी— इस अग्नि से अब किस तरह बचाव हो। आज मैं अनाथ की तरह बालकों के साथ यहीं जलकर मर जाऊँगी। उस समय भीमसेन ने जिसका पराक्रम वायु के समान है, अपने चारों भाइयों और माता को धैर्य दिया और कहा- तुम लोग बिलकुल न डरो। मैं तुम सब को लेकर गरुड़ के समान उछल कर इस अग्नि से बाहर ले चलूँगा ॥८७।९०॥

और फिर बांईं गोद में अपनी माता को, दाहिनी में युधिष्ठिर को, दोनों कन्धों पर नकुल और सहदेव को और पीठ पर अर्जुन को चढ़ा लिया और अकस्मात् उछल कर बाहर निकल आया और सबको अग्नि से बचा लिया। यशस्वी पाण्डव रात्रि को ही माता-सहित चल कर महावन हिडिम्ब-कानन में पहुँचे। वहां पर थकावट के कारण से ये चारों भाई

भ्रातृनार्यां च वलवान्मोक्षयामास पावकात् ॥ ९२ ॥
ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः ।
अभ्यगच्छन्महारण्ये हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥ ९३ ॥
श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः ।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छद्धिडिम्बा नाम राक्षसी ॥ ९४ ॥
सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान्मात्रा सह क्षितौ ।
हृच्छयेनाऽभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत् ॥ ९५ ॥
भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽवला ।
पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥ ९६ ॥
तामवुध्यदमेयात्मा वलवान्सत्यविक्रमः ।
पर्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ! ॥ ९७ ॥
एवमुक्ता तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी ।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ॥ ९८ ॥
पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्यवान् ।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद्गच्छत मा चिरम् ॥ ९९ ॥
अथ भीमोऽभ्युवाचैनां साभिमानमिदं वचः ।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ॥१००॥
तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद्राक्षसाधमः ।
भीमरूपो महानादान्विसृजन्भीमदर्शनः ॥ १०१ ॥

माता-सहित सो गये। उस समय इनके पास हिडिम्बा नाम राक्षसी आई और भीमसेन के स्वरूप को देख-कर कामासक्त हो गई। भीमसेन पर अनुराग हो जाने से वह राक्षसी, उनके चरणों को गोद में रख-कर, अपने कोमल हाथों से दबाने लगी ॥९३।९६॥

उस समय इन पराक्रमी और बुद्धिमान् भीम-सेन ने उस राक्षसी से पूछा हे सुन्दरी ! तुम क्या चाहती हो! तब उस अनुपम लावण्यवती काम-रूपिणी राक्षसी ने भीमसेन के यों पूछने पर, कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ ! मेरा वीर्य-मद से उन्मत्त, दुराचारी भाई तुम को मारने के लिये अभी आता होगा। इससे तुम शीघ्र यहां से भागो। यह सुनकर भीम-सेन ने गर्व के साथ कहा—हे सुन्दरी ! मैं तुम्हारे भाई से बिलकुल नहीं डरता। यहां आते ही वह मेरे हाथ से मारा जायगा ॥९७।१००॥

राक्षसाधम हिडिम्ब उनकी इस बात-चीत को

राक्षस उवाच—केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममाऽन्तिकम् ।
हिडिम्बे ! भक्षयिष्यामो न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ १०२ ॥
सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।
नैनमैच्छत्तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥ १०३ ॥
स नादान्विनदन्घोरान्राक्षसः पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥ १०४ ॥
तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता वली ।
अगृह्णात्पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ॥ १०५ ॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत्सहसा करम् ॥ १०६ ॥
गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा ।
नाऽमृष्यत महावाहुस्तत्राऽक्रुध्यद् वृकोदरः ॥ १०७ ॥
तदासीत्तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ १०८ ॥
विक्रीड्य सुचिरं भीमो राक्षसेन सहाऽनघ ! ।
निजघान महावीर्यस्तं तदा निर्वलं वली ॥ १०९ ॥
हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ॥ ११० ॥

सुनकर गरजता हुआ वहां आ पहुंचा । वहां आकर उसने कहा—अरी हिडिम्बा ! तू किस से बातें कर रही है ! इस पुरुष को मेरे पास तुरन्त ले आ । मैं इसका मांस खाऊँगा । अब तुझे विलम्ब न करना चाहिए ॥१०१।१०२॥

सर्वाङ्ग सुन्दरी हिडिम्बा के मन में करुणा का भाव भर आया था । वह चुपचाप बैठी रही । तब मनुष्य-मांस-लोभी दुराचारी हिडिम्ब ज़ोर से चिल्लाता हुआ भीमसेन की ओर लपका । क्रोध के आवेश में वेग से जाकर, उस राक्षस ने भीमसेन का हाथ पकड़ लिया और अपने कठोर स्पर्शवाले सुदृढ़ हाथ से एकाएक उनके ऊपर प्रहार किया । राक्षस ने जब हाथ पकड़ कर यों प्रहार किया, तब महाबाहु भीमसेन क्रोध के मारे प्रज्वलित हो उठे ॥१०३।१०७॥

फिर वृत्रासुर और इन्द्र के समान, सब अस्त्रों में निपुण हिडिम्ब और भीम का भयङ्कर युद्ध होने लगा । हे श्रीकृष्ण ! भीमसेन ने बहुत देर तक उस राक्षस के साथ युद्ध किया । उपरान्त जब वह निर्बल हुआ, तब उसे मार डाला । हिडिम्ब को मार कर, घटोत्कच की माता हिडिम्बा को आगे करके, माता

ततः संप्राद्रवन्सर्वे सह मात्रा परन्तपाः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥ १११ ॥
प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहिते रतः ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः ॥ ११२ ॥
तत्रोऽप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव संमितम् ॥ ११३ ॥
तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतां वरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥ ११४ ॥
लब्धाऽहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ॥ ११५ ॥
एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताऽहं मधुसूदन ! ।
स्वयंवरे महत्कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ॥ ११६ ॥
एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता ।
निवसाम्यार्यया हीना कृष्ण ! धौम्यपुरःसरा ॥ ११७ ॥
त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाऽभ्यधिकाः परैः ।
निर्हीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्ति मां कथम् ॥ ११८ ॥
एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम् ।

और भाइयों के साथ भीमसेन वहां से चल दिये। इसके
उपरान्त शत्रुनाशन पाण्डव ब्राह्मणों के साथ एकचक्रा
नगरी की ओर चले। हितचिन्तक भगवान् वेदव्यास
भी मन्त्री की तरह इनके साथ थे ॥१०८।११२॥
पाण्डव लोग जब उस नगरी के पास पहुँचे, तब
हिडिम्ब के समान पराक्रमी बक नाम का भयानक
राक्षस देख पड़ा। भीमसेन उसे भी मारकर भाइयों के
साथ द्रुपद नरेश की नगरी की ओर चले। हे श्रीकृष्ण
जी! तुम जैसे राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी को
ले आये थे, वैसे ही उक्त नगरी में रहते समय, महा-
वीर अर्जुन ने स्वयंवर में, औरों से न हो सकने
योग्य अद्भुत काम करके, आये हुए राजाओं को
परास्त करके, मुझको प्राप्त किया ॥११३।११६॥
हे जनार्दन ! इस तरह बहुत से क्लेश उठाती
हुई मैं, अब सास से बिछुड़ कर, आचार्य धौम्य के
साथ यहाँ रहती हूँ। मेरा हृदय दुःख और सन्ताप
से सर्वदा जलता रहता है। हाय ! मैं नहीं जानती
हूँ, कि ऐसे पराक्रमी पाण्डव उन हीन-पराक्रम शत्रुओं
के दिये हुए मेरे क्लेश को क्यों सह रहे हैं। इन
पापी और दुर्बल शत्रुओं के दिये हुए दुःख मेरे
हृदय से बहुत दिनों तक कभी दूर न होंगे। हे
वासुदेव जी ! और अधिक क्या कहूँ। देखो, यह

दीर्घकालं प्रदीप्ताऽस्मि पापानां पापकर्मणाम् ॥ ११९ ॥
कुले महति जाताऽस्मि दिव्येन विधिना किल ।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ॥ १२० ॥
कचग्रहमनुप्राप्ता साऽस्मि कृष्ण ! वरा सती ।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ! ॥ १२१ ॥
इत्युक्त्वा प्रारुदत्कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना ।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥ १२२ ॥
स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुविन्दुभिः ॥ १२३ ॥
चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः ।
वाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥ १२४ ॥
नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च वान्धवाः ।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ! ॥ १२५ ॥
ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत् ।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत्प्राहसत्तदा ॥ १२६ ॥
चतुर्भिः कारणैः कृष्ण ! त्वया रक्ष्याऽस्मि नित्यशः ।
संवन्धाद्गौरवात्सख्यात्प्रभुत्वेनैव केशव ! ॥ १२७ ॥

कुल में मेरा जन्म हुआ है, दिव्य विधि के अनुसार मैं पाण्डवों की प्यारी धर्मपत्नी और महात्मा पाण्डु की पुत्रवधू हुई हूँ; तो भी दुष्ट दुःशासन ने पाण्डवों के सामने ही बाल पकड़ कर मेरा अपमान किया। ॥११७।१२१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रौपदी उक्त रीति से कहकर अपने कमलरूपी कोमल हाथों से मुख को ढक कर रोने लगी और उसके आंसू उसके स्तनों पर, जो दृढ़ पुष्ट सुडौल और शुभ लक्षणों से युक्त थे, गिरने लगे। उस समय द्रौपदी क्रोधित होकर गद्‌गद् वाणी से आँखों को वारम्वार पोंछती हुई कहने लगी—न मेरे पति हैं, न पुत्र हैं, न भाई हैं, न वान्धव हैं, न पिता है। अधिक क्या कहूँ, हे श्रीकृष्ण ! तुम भी मेरे सहायक नहीं हो, क्योंकि दुष्ट के हाथों मेरा अपमान होते देखकर भी, तुम लोगों ने शोकहीन भाव से उसकी लापरवाही की। कर्ण ने उस समय जो मेरी हँसी की थी, उस दुःख को मैं किसी तरह नहीं भूल सकती। हे श्रीकृष्ण ! तुम को सदा मेरी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि मैं तुम्हारी भक्त, रिश्तेदार, अग्निकुण्ड से निकलने से प्रतिष्ठित और तुम्हारे सामर्थ्य से सामर्थ्यवती हूँ। ॥१२२।१२७॥

वैशम्पायन उवाच—अथ तामब्रवीत्कृष्णस्तस्मिन्वीरसमागमे ।

वासुदेव उवाच—रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धाऽसि भाविनि ।

बीभत्सुशरसञ्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान् ॥ १२८ ॥

निहतान्वल्लभान्वीक्ष्य शयानान्वसुधातले ।

यत्समर्थं पाण्डवानां तत्करिष्यामि मा शुचः ॥ १२९ ॥

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।

पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत्पृथिवी शकलीभवेत् ॥ १३० ॥

शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे ! न मे मोघं वचो भवेत् ।

*तच्छ्रुत्वा द्रौपदीवाक्यं प्रतिवाक्यं तथाऽच्युतात् ॥ १३१ ॥

साचीकृतमवैक्षत्सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।

आबभाषे महाराज ! द्रौपदीमर्जुनस्तदा ॥ १३२ ॥

मा रोदीः शुभताम्राक्षि ! यथाऽऽह मधुसूदनः ।

तथा तद्भविता देवि ! नाऽन्यथा वरवर्णिनि ! ॥ १३३ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच—अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।

दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनञ्जयः ॥ १३४ ॥

रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः ! ।

अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजैः ॥ १३५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! महात्मा श्रीकृष्ण ने आये हुए वीरों के सामने द्रौपदी से कहा—हे द्रौपदी ! तू जिनके ऊपर कुपित हो रही है, उन सब की स्त्रियां भी इसी प्रकार से रोवेंगी और अर्जुन के बाणों से मरे हुए और रुधिर में भरे हुए, पृथ्वी पर पड़े हुए अपने-अपने पतियों को देख-देख कर विलाप करेंगी । हे भाविनी ! मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कि यथाशक्ति पाण्डवों का कार्य पूरा करके तुझको राजरानी बनाऊँगा । चाहे समुद्र सूख जाय, हिमालय पर्वत बीच से फट जाय, स्वर्गलोक नीचे गिर पड़े और पृथ्वी के सैंकड़ों टुकड़े हो जायें परन्तु मेरा वाक्य निष्फल नहीं होगा ॥१२८।१३०॥

भगवान् वासुदेव ने जब इस प्रकार की प्रतिज्ञा की, तब द्रौपदी ने तिरछी दृष्टि से अर्जुन की ओर देखा । उन्होंने द्रौपदी को सम्बोधन करके कहा—हे द्रौपदी ! अब तुम मत रोओ । श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता ।

* तद्द्रौपदीवाक्यं श्रुत्वा तथाऽच्युतात्प्रतिवाक्य श्रुत्वाऽर्जुनो द्रौपदीमाबभाषे इति व्यवहितेनाऽन्वयः ।

वैशम्पायन उवाच–इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपस्थिताः ।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

इसके पीछे धृष्टद्युम्न ने कहा– हे बहन ! मैं द्रोणाचार्य को मारूँगा, शिखण्डी भीष्म को मारेंगे, भीमसेन दुर्योधन को मारेंगे और अर्जुन कर्ण को मारेंगे। अधिक क्या कहूँ, हम लोग श्रीकृष्ण और बलदेव को सहायक पाकर यदि युद्धभूमि में खड़े होंगे, तो धृतराष्ट्र के पुत्रों की कौन कहे, इन्द्र भी हमारा सामना न कर सकेंगे। वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! यह कहकर वे सब वीर श्रीकृष्ण जी के पास आये। उस समय श्रीकृष्ण जी युधिष्ठिर से यों कहने लगे ॥१२१।१३६॥

वनपर्व का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

महाभारत का तृतीय अङ्क समाप्त हुआ।

इति श्रीमन्महाभारते तृतीयः खण्डः ।

